श्रीअभयदेवसूरि जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १५

श्रीवृहत्खरतर गच्छीय—

पञ्च-प्रतिक्रमण



हिन्दी अनुवाद और टिप्पनी आदिके कर्त्ता—

व्याख्यान-वाचस्पति

जगम युगप्रधान भट्टारक जैनाचार्य श्रीपूज्य—

श्रीजिनचारित्रसूरीश्वरजी महाराज।

सपादक—

पण्डित काशीनाथजी जैन।

२०१, हरिसन रोड,

कलकत्ता।

प्रकाशक—

यतिवर्य्य चंपालालजी गणी।

व्यवस्थापक—श्रीअभयदेवसूरि जैन-ग्रन्थमाला।

बडा उपाश्रय, बीकानेर (मारवाड)



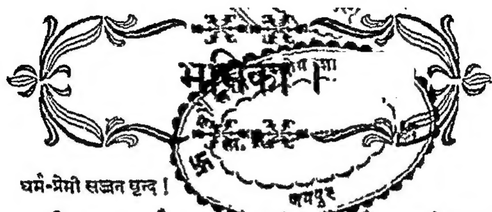
प्रथमावृत्ति २०००] वीर सवत् २४५५ [मूल्य २)



मुद्रक—बाबू नरसिंहदास अग्रवाल,

श्रीलक्ष्मी प्रिंटिङ्ग वर्क्स, २७०, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता।





भूमिका

धर्म-प्रेमी सज्जन वृन्द !

प्रतिक्रमण द्रव्य और भावसे दो प्रकारका होता है। शास्त्रमें भाव-प्रतिक्रमण ही ग्राह्य है। द्रव्य-प्रतिक्रमण नहीं। द्रव्य-प्रतिक्रमण उसे कहते हैं, जो बाह्याडम्बर दिखाने या लोक दिखावेके लिये तथा प्रभावना लेनेकी इच्छासे किया जाता हो। इस तरहके प्रतिक्रमणसे आत्मा विशुद्ध नहीं बनती, अत. भाव-प्रतिक्रमण ही करना कहा है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी विषयका है। इसमें हिन्दी अर्थ सहित पाँचों प्रतिक्रमणके साथ ही साथ सप्त स्मरण तथा चैत्य वन्दन, स्तुति, स्तवन, सज्झाय, रास आदि आवश्यक और उपयोगी वस्तुयें दे दी गयी हैं। प्रतिक्रमणके मूल प्राकृत सूत्रोंका संस्कृत छायानुवाद और हिन्दी अनुवाद भी अन्वयार्थ और भावार्थ पूर्वक बहुत ही सरल ढङ्ग पर कर दिया गया है, जिससे अर्थके पढ़नेवालोंको समझने और अध्ययन करनेमें बड़ी ही सुगमता पड़ेगी।

वर्तमान समयमें समस्त देशके लोक हिन्दी भाषाको अधिक पसन्द करते हैं। विशेषत मारवाड, मेवाड, मालवा, बंगाल, बिहार, बराड आदि प्रदेशोंमें तो हिन्दी भाषाका ही अधिक व्यवहार होता है। इन प्रदेशोंमें श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायके लोगोंका निवास भी बहुत है। बहुधा वे लोग खरतर गच्छीय समाचारिके अनुयायी हैं। किन्तु खरतरगच्छीय समाचारिके अनुसार हिन्दी अर्थ सहित पञ्च प्रतिक्रमणकी पुस्तकका नितान्त अभाव था। जिससे हिन्दी भाषियोंको अर्थ सहित प्रतिक्रमणके पढ़नेमें अत्यन्त अड़चन अनुभव करनी पड़ती थी।

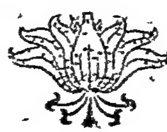
इस सम्बन्धमें कई दिनोंसे मेरी यह इच्छा हो रही थी, कि खरतर-गच्छीय समाचारिके अनुसार हिन्दी अर्थ सहित प्रतिक्रमण बनाकर प्रकाशित करवा दिया जाय। तदनुसार मैंने अजीमगंजके चातुर्मासकी उपस्थितिमें यह पुस्तक तैयार करके बाबू अमीचन्दजी छोटमलजी गोलेछाको उनके "नरसिंह प्रेस"मे छपनेको दे दी थी। उस समय मुझे यह आशा थी कि सात-आठ मासमें ही सम्पूर्ण पुस्तक छपकर मिल जायगी। परन्तु इस आशासे कहीं अधिक विलम्ब पड़ गया। अस्तु! किसी तरह देरी-अबेरीसे भी पाठकोंके समक्ष यह पुस्तक उपस्थित की जा रही है। इसीमें मुझे परम आनन्द है।

इस जगह मैं बीकानेर—वर्तमान मुलतान-निवासी धर्मनिष्ठ स्वर्गीय बाबू तोलारामजी सेठीकी धर्म-पत्नी सुश्राविका सिरेकँवर बाईको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तककी ५०० प्रतियें लेकर अपने प्रिय पति-देवके स्मरणार्थ अमूल्य वित्तिर्ण करनेका निश्चय किया है। आशा है, सिरेकँवर बाई इसी तरह अपने पतिके न्यायोपार्जित द्रव्यका सद्व्यय कर पुण्य और यशकी भागिनी बनेगीं।

अजीमगंज-निवासी शासन-प्रेमी धर्म-परायण रायसाहब बाबू मायसिंहजी मेघराजजी कोठारी, लक्ष्मीचन्दजी साहेला एवं बीकानेर-निवासी लक्ष्मीचंदजी डागाकी माता, जसकरणजी आसकरणजी नाहटा आदि सज्जनोंने भी यथाशक्ति आर्थिक सहायता देकर जो पुण्य-लाभ किया है। एतदर्थ उन्हें भी प्रेम-पूर्वक धन्यवाद देता हू।

कलकत्ता
ता० ३०-१२-१९२७

वीरानुयायी—
जिनचारित्र सूरि।





जङ्गम युगप्रधान भट्टारक खरतरगच्छाचार्य
श्रीजिनचारित्रसूरीश्वरजी महाराज ।

विषयानुक्रमणिका।



भूल-सुधार ।

पाठकोंसे निवेदन है, कि प्रेसके कम्पोजिटर की असावधानीके कारण इस पुस्तकके २७३ की पृष्ठ-संख्यासे २८० तककी संख्याके स्थान पर भूलसे पृष्ठ-संख्या २८१ से २८८ छप गयी है। एवं इसी तरह २८१ की संख्यासे २८८ तक की संख्यामें भी भूलसे २६५ से २७२ की संख्या छप गयी है। उसे पाठक सुधार कर पढ़ें। सिवा पृष्ठ-संख्याकी अशुद्धिके और कोई विषय-छूट या किसी तरहकी ग़ल्ती नहीं है।

सम्पादक ।



॥ नमो वीतरागाय ॥

श्रीबृहत्खरतरगच्छीय—

पंच-प्रतिक्रमण-सूत्र।

(अर्थ-सहित)

१—नमस्कार सूत्र।

* णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्व-साहूणं।

अन्वयार्थ—'अरिहंताणं' अरिहंतों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'सिद्धाणं' सिद्धों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'आयरियाणं' आचार्यों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'उवज्झायाणं' उपाध्यायों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'लोए' लोक में—ढाई द्वीप में (वर्तमान) 'सव्वसाहूणं' सब साधुओं को 'णमो' नमस्कार (हो)।

† एसो पंच-णमुक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'एसो' यह 'पंच-णमुक्कारो' पाँचों को किया

---

* नमोऽर्हद्भ्य। नम सिद्धेभ्य। नम आचार्येभ्य। नम उपाध्याये-भ्य। नमो लोके सर्वसाधुभ्य।

† एष पञ्चनमस्कार सर्वपापप्रणाशन।
मङ्गलाना च सर्वेषा प्रथम भवति मङ्गलम् ॥ १ ॥

हुआ नमस्कार 'सव्व-पाव-प्पणासणो' सब पापों का नाश करनेवाला 'च' और 'सव्वेसिं' सब 'मंगलाणं' मङ्गलों में 'पढमं' पहला—मुख्य 'मंगलं' मङ्गल 'हवइ' है ॥ १ ॥

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान्, श्री सिद्ध भगवान्, श्री-आचार्य महाराज, श्री उपाध्यायजी और ढाई द्वीप में वर्त्तमान सामान्य सब साधु मुनिराज—इन पाँच परमेष्ठिओं को मेरा नमस्कार हो। उक्त पाँच परमेष्ठिओं को जो नमस्कार किया जाता है, वह सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाला और सब प्रकार के लौकिक-लोकोत्तर-मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है।

२—स्थापनाचार्यजी की तेरह पडिलेहणा ॥

शुद्ध स्वरूप धारूँ (१), ज्ञान (२) दर्शन (३) चारित्र (४) सहित सद्दहणा-शुद्धि (५) प्ररूपणा-शुद्धि (६) दर्शन-शुद्धि (७) सहित पांच आचार पालूँ (८) पलावूँ (९) अनुमोदूँ (१०) मनो-गुप्ति (११) वचन-गुप्ति (१२) काय-गुप्ति आदरूँ (१३)।

३—खमासमण सूत्र ।

*** इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, मत्थएण वंदामि।**

अन्वयार्थ—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण—क्षमाशील तपस्विन्! 'निसीहिआए' सब पाप-कार्यों का निषेध करके (मैं)

---

* इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे।

'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउ' वन्दन करना 'इच्छामि' चाहता हूँ (और) 'मत्थएण' मस्तक से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ।

भावार्थ—हे क्षमाशील गुरो ! मैं अन्य सब कामों को छोड कर शक्ति के अनुसार आपको वन्दन करना चाहता हूँ और उसके अनुसार सिर झुका कर वन्दन करता हूँ ।

४—सुगुरु को सुख-शाता-पृच्छा ।

इच्छकारी सुहराई सुह-देवसि सुख-तप शरीर निराबाध सुख-संजम-यात्रा निर्वहते हो जी । स्वामिन् । शाता है ? आहार पानी का लाभ देना जी ।

भावार्थ—मैं समझता हूँ कि आपकी रात सुख-पूर्वक बीती होगी, दिन भी सुख-पूर्वक बीता होगा, आप की तपश्चर्या सुख पूर्वक पूर्ण हुई होगी, आपके शरीर को किसी तरह की बाधा न हुई होगी और इससे आप संयम यात्रा का अच्छी तरह निर्वाह करते होंगे। हे स्वामिन् ! कुशल है ? अब मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप आहार पानी लेकर मुझ को धर्मलाभ देवें ।

५—अब्भुट्ठिओ (गुरु-खामणा) सूत्र ।

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन् । अब्भुट्ठिओ हं अब्भितर-देवसिअं खामेउं ।

अन्वयार्थ—'अहं' मैं 'अब्भिंतरदेवसिअं' दिन के अन्दर

---

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अभ्युत्थितोऽहमाभ्यन्तरदैवसिकं क्षमयितुम् ।

किये हुए अपराध को 'खामेउं' खमाने के लिये 'अब्भुट्ठिओ' तत्पर हुआ हूँ । इस लिये 'भगवन्' हे गुरो ! [आप] 'इच्छाकारेण' इच्छा-पूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिये ।

* इच्छं, खामेमि देवसिअं ।

अन्वयार्थ—'इच्छं' आप की आज्ञा प्रमाण है । 'खामेमि देवसिअं' अब मैं दैनिक अपराध को खमाता हूँ ।

† जं किंचि अपत्तिअं पर-पत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणए, वेआवच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समा-सणे, अन्तर-भासाए, उवरि-भासाए, जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अन्वयार्थ—हे गुरो ! 'जं किंचि' जो कुछ 'अपत्तिअं' अप्रीति या 'परपत्तिअं' विशेष अप्रीति [हुई हो, उसका पाप निष्फल हो] तथा 'भत्ते' आहार में, 'पाणे' पानी में, 'विणए' विनय में, 'वेआवच्चे' सेवा-शुश्रुषा में, 'आलावे' एक वार बोलने में, 'संलावे' वार वार बोलने में, 'उच्चासणे' ऊँचे आसन पर बैठने में, 'समासणे' बराबर के आसन पर बैठने में, 'अंतर-भासाए' भाषण के बीच बोलने में, या 'उवरि-भासाए' भाषण के बाद बोलने में 'मज्झ' मुझ से 'सुहुमं' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरं' स्थूल 'जं किंचि' जो कुछ 'विणय-परिहीणं' अवि-

---

* इच्छामि, क्षमयामि दैवसिकम् ।

† यत्किञ्चिदप्रीतिकं, पराप्रीतिकं, भक्ते, पाने, विनये, वैयावृत्ये, आलापे संलापे, उच्चासने, समासने, अन्तर्भाषायां, उपरिभाषायां, यत्किञ्चिन्मम विनय-परिहीणं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ, अहं न जाने, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

नय हुआ हो जिसको 'तुब्भे' आप 'जाणह' जानते हो 'अहं' मैं 'न' नहीं 'जाणामि' जानता, 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो।

भावार्थ—हे गुरो! मुझ से जो कुछ सामान्य या विशेष रूप से अप्रीति हुई हो उसके लिये 'मिच्छा मि दुक्कडं'। इसी तरह आप के आहार-पानी के विषय में या विनय-वैयावृत्य के विषय में, आप के साथ एक बार बात-चीत करने में या अनेक बार बात चीत करने में, आप से ऊँचे आसन पर बैठने में या बराबर के आसन पर बैठने में, आप के सभाषण के बीच या बाद बोलने में, मुझसे थोड़ा बहुत जो कुछ अविनय हुआ हो, उसकी मैं माफी चाहता हूँ।

६—मुहपत्ती के पच्चीस बोल।

१ सूत्र-अर्थ सच्चा सद्दहूं, २ सम्यक्त्व-मोहनीय, ३ मिथ्यात्व-मोहनीय, ४ मिश्र-मोहनीय परिहरूँ। ५ काम-राग, ६ स्नेह-राग, ७ दृष्टि-राग परिहरूँ†। १ ज्ञान-विराधना, २ दर्शन-विराधना, ३ चारित्र-विराधना परिहरूँ। ४ मनो-गुप्ति, ५ वचन-गुप्ति, ६ कायगुप्ति आदरूँ। ७ मनो-दण्ड, ८ वचन-दंड, ९ काय-दण्ड परिहरूँ*। १ सुगुरु, २ सुदेव, ३ सुधर्म आदरूँ; ४ कुगुरु, ५ कुदेव, ६ कुधर्म परिहरूँ। ७ ज्ञान, ८ दर्शन, ९ चारित्र आदरूँ†।

† ये सात बोल मुहपत्ती खोलते समय कहने चाहिएँ।

* ये नव बोल दाहिने हाथके पडिलेहण के समय कहने चाहिएँ।

† ये नव बोलों का चिन्तन बाँये हाथ के पडिलेहण के वक्त करना चाहिए।

७—अंगकी पडिलेहणा के २५ बोल ❀

कृष्ण लेश्या १, नील लेश्या २, कापोत लेश्या ३ परिहरूँ (मस्तके)। ऋद्धि-गारव १, रस-गारव २, साता-गारव ३ परिहरूँ (मुखे)। माया-शल्य, १, निदान-शल्य २, मिथ्यादर्शन-शल्य ३ परिहरूँ (हृदये)। क्रोध १, मान २, परिहरूँ (दहिना कन्धा)। माया १, लोभ २ परिहरूँ (बायां कन्धा)। हास्य १, रति २, अरति ३ परिहरूँ (बांया हाथ)। भय १, शोक २, दुगंछा ३ परिहरूँ (दाहिना हाथ)। पृथ्वीकाय १, अप्काय २, तेऊकाय ३ परिहरूँ (बांया पैर)। वायुकाय १, वनस्पतिकाय २, त्रस-काय ३ परिहरूँ (दहिना पैर)।

❀ ये बोल कहते समय जिस स्थान का नाम कौंस में लिखा है उस स्थान पर मुहपत्ति (मुखवस्त्रिका) रखते जाना चाहिए। पडिलेहणा में बोल-चिन्तन करने का प्रयोजन यह है कि शुभ अथवा अशुभ राग-द्वेष की प्रवृत्ति प्रथम परिणामों की धारा से उत्पन्न होती है फिर वचन और काया से प्रगट होती है, इसीलिये, नैगमनय की अपेक्षा से प्रथम संकल्प, आरोप और अंश रूप कार्य को पूर्ण रूप से माना गया है, तो जिस तरह मन द्वारा, प्रथम राग-द्वेष का संकल्प ऊठता है, उसी प्रकार से मन द्वारा ही उसका पश्चात्ताप करने से आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसी लिये इन बोलों का चिन्तवन करने से कर्म-परमाणुओं का समूह आत्मा से अलग होकर आत्मा की शुद्धता होती है।

८—सामायिक सूत्र ।

❀ करेमि भंते । सामाइयं । सावज्जं जोगं पच्चक्खामि । जावनियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि । तस्स भंते । पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'भंते' हे भगवन्! [मैं] 'सामाइयं' सामायिक व्रत 'करेमि' ग्रहण करता हूँ [और] 'सावज्जं' पाप-सहित 'जोगं' व्यापार का 'पच्चक्खामि' प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ। 'जाव' जब तक [मैं] 'नियमं' इस नियम का 'पज्जुवासामि' पर्युपासन—सेवन करता रहूँ [तब तक] 'तिविहेणं' तीन प्रकार के [योगों से] अर्थात् 'मणेणं वायाए काएणं' मन, वचन, काया से 'दुविहं' दो प्रकार का [त्याग करता हूँ] अर्थात् 'न करेमि' [सावद्य योग को] न करूँगा [और] 'न कारवेमि' न कराऊँगा । 'भंते' हे स्वामिन्! 'तस्स' उससे—प्रथम के पाप से [मैं] 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ, 'निन्दामि' [उसकी] निन्दा करता हूँ, [और] 'गरिहामि' गर्हा - विशेष निन्दा करता हूँ, 'अप्पाणं' आत्मा को [उस पाप व्यापार से] 'वोसिरामि' हटाता हूँ।

भावार्थ—मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। रागद्वेष का अभाव या ज्ञान दर्शन चारित्र का लाभ ही सामायिक है। इसलिये पाप वाले व्यापारों का मैं त्याग करता हूँ।

❀ करोमि भदन्त ! सामायिकम् । सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि । यावन्नियमं पर्युपासे, द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

जब तक मैं इस नियम का पालन करता हूँ तब तक मन, वचन और शरीर इन तीन साधनों से पाप-व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरेसे कराऊँगा ।

हे स्वामिन्! पूर्व-कृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, अपने हृदय में उसे बुरा समझता हूँ, और गुरु के सामने उसकी निन्दा करता हूँ । इस प्रकार मैं अपने आत्मा को पाप-क्रिया से छुड़ाता हूँ ।



६—इरियावहियं सूत्र ।

*** इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि । इच्छं ।**

अन्वयार्थ—'भगवन्' हे गुरु महाराज! 'इच्छाकारेण' इच्छा से—इच्छापूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिये [जिससे मैं] 'इरियावहियं' ईर्यापथिकी क्रिया का 'पडिक्कमामि' प्रतिक्रमण करूँ । 'इच्छं' आज्ञा प्रमाण है ।

† इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए । गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरिय-

---

* इच्छाकारेण संदिशत भगवन्! ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामामि। इच्छामि ।

† इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिकायां विराधनायाम्। गमनागमने, प्राणाक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्ग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे ये मया जीवा विराधिताः—एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः, अभिहताः, वर्तिताः, श्लेषिताः, संघातिताः, संघट्टिताः, परितापिताः, क्लमिताः, अवद्राविताः, स्थानात् स्थानं संक्रमिताः, जीविताद् व्यपरोपितास्तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् ।

क्कमणे, ओसा उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा-संकमणे जे मे जीवा विराहिया—एगिंदिया, बेइंदिया; तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया; जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अन्वयार्थ—'इरियावहियाए' ईर्यापथ-सम्बन्धिनी—रास्ते पर चलने आदि से होने वाली—'विराहणाए' विराधना से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना—हटना व बचना 'इच्छामि' चाहता हूँ। (तथा) 'मे' मैंने 'गमणागमणे' जाने आने में 'पाणक्कमणे' किसी प्राणी को दबाकर 'बीयक्कमणे' बीज को दबाकर, 'हरियक्कमणे' वनस्पति को दबाकर, (या) 'ओसा' ओस 'उत्तिंग' चींटी के बिल 'पणग' पाँच रंगकी काई, 'दग' पानी, 'मट्टी' मिट्टी और 'मक्कडासंताणा' मकडी के जालोंको 'संकमणे' खूँद व कुचल कर 'जे' जिस किसी प्रकार के—'एगिंदिया' एक इन्द्रिय-वाले, 'बेइंदिया' दो इन्द्रिय वाले, 'तेइंदिया' तीन इन्द्रिय वाले, 'चउरिंदिया' चार इन्द्रिय वाले [या] 'पंचिंदिया' पाँच इन्द्रिय वाले 'जीवा' जीवों को 'विराहिया' पीडित किया हो, 'अभिहया' चोट पहुँचाई हो, 'वत्तिया' धूल आदि से ढाँका हो, 'लेसिया' आपस में अथवा जमीन पर मसला हो, 'संघाइया' इकट्ठा किया हो, 'संघट्टिया' छुआ हो, 'परियाविया' परिताप—कष्ट पहुँचाया हो, 'किलामिया' थकाया हो, 'उद्दविया' हैरान किया हो, 'ठाणाओ' एक जगह से 'ठाणं' दूसरी जगह 'संकामिया' रक्खा हो, [विशेष क्या, किसी तरह से उनको] 'जीवियाओ' जीवन से 'ववरोविया' छुडाया हो, 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' निष्फल हो।

भावार्थ—रास्ते पर चलने फिरने आदिसे जो विराधना

होती है उससे या उससे लगने वाले अतिचार से मैं निवृत्त होना चाहता हूँ अर्थात् आयंदा ऐसी विराधना न हो इस विषयमें सावधानी रख कर उससे बचना चाहता हूँ ।

जाते आते मैंने भूतकालमें किसीके इन्द्रिय आदि प्राणोंको दवाकर सचित्त वीज तथा हरी वनस्पतिको कचर कर, ओस, चींटीके विल, पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ीके जालों-को रौंद कर किसी जीव की हिंसा की—जैसे एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, या पाँच इन्द्रिय वाले जीवोंको मैंने चोट पहुँचाई, उन्हें धूल आदिसे ढाँका, जमीन पर या आपसमें रगड़ा, इकट्ठा करके उनका ढेर किया, उन्हें क्लेश-जनक रीतिसे छुआ, क्लेश पहुँचाया, थकाया, हैरान किया, एक जगहसे दूसरी जगह उन्हें बुरी तरह रक्खा, इस प्रकार किसी भी तरहसे उनका जी-वन नष्ट किया, उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो अर्थात् जानते अन-जानते विराधना-आदिसे कषाय-द्वारा मैंने जो पाप-कर्म वाँधा उसके लिये मैं हृदयसे पछताता हूँ, जिससे कि कोमल परिणामके द्वारा पाप-कर्म नीरस हो जावे और मुझको उसका फल भोगना न पड़े ।

१०—तस्स उत्तरी सूत्र ।

***तस्स उत्तरी-करणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, वि-सोही-करणेणं, विसल्ली-करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ।**

अन्वयार्थ—'तस्स' उसको 'उत्तरीकरणेणं' श्रेष्ठ—उत्कृष्ट वनानेके निमित्त 'पायच्छित्तकरणेणं' प्रायश्चित्त—आलोचना करनेके

---

* तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन पापानां कर्मणां निर्घातनार्थं तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ।

लिये 'विसोहीकरणेणं' विशेष शुद्ध करनेके लिये 'विसल्लीकरणेणं' § शल्यका त्याग करनेके लिये और 'पावाण' पाप 'कम्माण' कर्मों का 'निग्घायणट्ठाए' नाश करनेके लिये 'काउस्सग्ग' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ।

भावार्थ—ईर्यापथिकी क्रिया से पाप-मल लगने के कारण आत्मा मलिन हुआ, इसकी शुद्धि मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' द्वारा की है। तथा परिणाम पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुआ हो तो उसको अधिक निर्मल बनाने के निमित्त उस पर बार बार अच्छे संस्कार डालने चाहिए। इसके लिये प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के सिवाय नहीं हो सकता, इसलिये परिणाम-विशुद्धि आवश्यक है। परिणाम की विशुद्धता के लिये शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्यों का त्याग और अन्य सब पाप कर्मों का नाश काउस्सग्ग से ही हो सकता है। इसलिये मैं काउसग्ग करता हूँ।

११—अन्नत्थ ऊससिएणं सूत्र।

***अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वाय-निसग्गेणं, भमलीए,**

---

§ शल्य तीन हैं—(१) माया (कपट), (२) निदान (फल-कामना), (३) मिथ्यात्व (कदाग्रह), (समवायाग सू० ३)।

* अन्यत्रोच्छ्वसितेन निःश्वसितेन कासितेन क्षुतेन जृम्भितेन उद्गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमर्या पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मैरङ्गसञ्चालैः सूक्ष्मैः श्लेष्मसञ्चालैः सूक्ष्मैर्दृष्टिसञ्चालैः एवमादिभिराकारैरभग्नोऽविराधितो भवतु मम कायोत्सर्गः।

यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत्कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेनात्मीयं व्युत्सृजामि॥

पित्त-मुच्छाए, सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं, सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो। जाव अरिहंताणं भगवंताणं णमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'ऊससिएणं' उच्छ्वास 'नीससिएणं' निःश्वास 'खासिएणं' खाँसी 'छीएणं' छींक 'जंभाइएणं' जँभाई—उवासी 'उड्डुएणं' डकार 'वायनिसग्गेणं' वायु का सरना 'भमलीए' सिर आदि का चकराना 'पित्तमुच्छाए' पित्त-विकार की मूर्च्छा 'सुहुमेहिं' सूक्ष्म 'अंग-संचालेहिं' अङ्ग-संचार 'सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं' सूक्ष्म कफ-संचार 'सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं' सूक्ष्म दृष्टि-संचार 'एवमाइएहिं' * इत्यादि 'आगारेहिं' आगारों से 'अन्नत्थ' अन्य क्रियाओं के द्वारा 'मे'

---

* 'आदि' शब्द से नीचे लिखे हुए चार आगार और समझने चाहिएँ—(१) आग के उपद्रव से दूसरी जगह जाना। (२) बिल्ली, चूहे आदिका ऐसा उपद्रव जिससे कि स्थापनाचार्य के बीच बार बार आड पड़ती हो इस कारण या किसी पञ्चेन्द्रिय जीव के छेदन-भेदन होने के कारण अन्य स्थान में जाना। (३) यकायक डकैती पड़ने या राजा आदि के सताने से स्थान बदलना। (४) शेर आदि के भय से, साँप आदि विषैले जन्तु के डंक से या दिवाल आदि गिर पड़ने की शंका से दूसरे स्थान को जाना।

कायोत्सर्ग करने के समय ये आगार इसलिये रखे जाते हैं कि सबकी-शक्ति एक सी नहीं होती। जो कमताकत व डरपोक है वे ऐसे मौके पर इतने घबडा जाते है कि धर्म-ध्यान के बदले आर्त्त-ध्यान करने लगते है, इसलिये उन अधिकारियों के निमित्त ऐसे आगारों का रक्खा जाना आवश्यक हैं। आगार रखने में अधिकारि-भेद ही मुख्य कारण है ।

मेरा 'काउस्सग्गो' कायोत्सर्ग 'अभग्गो' अभग [तथा] 'अविराहिओ' अखण्डित 'हुज्ज' है।

'जाव' जब तक 'अरिहंताणं' अरिहंत 'भगवंताणं' भगवान् को 'णमुक्कारेण' नमस्कार करके [कायोत्सर्ग] 'न पारेमि' न पारूँ 'ताव' तब तक 'ठाणेणं' स्थिर रहकर 'मोणेणं' मौन रह कर 'झाणेणं' ध्यान धर कर 'अप्पाणं' अपने 'काय' शरीर को [अशुभ व्यापारों से] 'वो-सिरामि' अलग करता हूँ।

भावार्थ—(कुछ आगारों का कथन तथा काउसग्ग के अख ण्डितपन की चाह)। श्वास का लेना तथा निकालना, खाँसना, छींकना, जँभाई लेना, डकारना, अपान वायु का सरना, सिर आदि घुमना, पित्त बिगड़ने से मूर्च्छा का होना, अङ्ग का सूक्ष्म हिलन चलन, कफ थूक आदि का सूक्ष्म झरना, दृष्टि का सूक्ष्म संचलन—ये तथा इसके सदृश अन्य क्रियाएँ जो स्वयमेव हुआ करती हैं और जिनके रोकने से अशान्ति का सम्भव है उनके होते रहने पर भी काउसग्ग अभङ्ग ही है। परन्तु इनके सिवाय अन्य क्रियाएँ जो आप ही आप नहीं होतीं—जिनका करना-रोकना इच्छा के अधीन है—उन क्रियाओं से मेरा कायोत्सर्ग अखण्डित रहे अर्थात् अपवादभूत क्रियाओं के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया मुझसे न हो और इससे मेरा काउसग्ग सर्वथा अभङ्ग रहे यही मेरी अभिलाषा है।

(काउसग्ग का काल-परिमाण तथा उसकी प्रतिज्ञा)। मैं अरि-हंत भगवान् को 'णमो अरिहंताणं' शब्द द्वारा नमस्कार करके काउ-सग्ग को पूर्ण न करूँ तब तक शरीर से निश्चल बन कर, वचन से मौन रह कर और मन से शुभ ध्यान धर कर पापकारी सब कामों से हट जाता हूँ—कायोत्सर्ग करता हूँ।

१२—लोगस्स सूत्र ।

* लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥

अन्वयार्थ—'लोगस्स' लोक में 'उज्जोअगरे' उद्द्योत-प्रकाश करने वाले, 'धम्मतित्थयरे' धर्म-तीर्थ को स्थापन करने वाले, 'जिणे' राग-द्वेष को जीतने वाले, 'चउवीसंपि' चौवीसों, 'केवली' केवलज्ञानी, 'अरिहंते' तीर्थङ्करों का 'कित्तइस्सं' मैं स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—(तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों जगत में धर्म का उद्द्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले और राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौवीसों केवलज्ञानी तीर्थङ्करों का मैं स्तवन करूँगा ॥१॥

+ उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

---

* लोकस्योद्द्योतकरान्, धर्म्मतीर्थकरान् जिनान् ।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

\+ ऋषभमजितं च वन्दे संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं धर्म्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥
कुन्थुमरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'उसभ' श्रीऋषभदेव स्वामी को 'च' और 'अजिअ' श्रीअजितनाथ को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'संभव' श्रीसंभवनाथ स्वामी को, 'अभिणंदण' श्री अभिनन्दन स्वामी को, 'सुमइं' श्रीसुमतिनाथ प्रभु को, 'पउमप्पहं' श्रीपद्मप्रभ स्वामी को, 'सुपासं' श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान को 'च' और 'चंदप्पहं' श्रीचन्द्रप्रभ 'जिणं' जिन को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ। 'सुविहिं' श्रीसुविधिनाथ--[दूसरा नाम] 'पुप्फदंतं' श्रीपुष्पदन्त भगवान् को, 'सीअल' श्रीशीतलनाथ को, 'सिज्जंस' श्रीश्रेयांसनाथ को, 'वासुपुज्जं' श्रीवासुपूज्य को, 'विमलं' श्रीविमलनाथ को, 'अणंतं' श्रीअनन्तनाथ को, 'धम्मं' श्रीधर्मनाथ को 'च' और 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ 'जिणं' जिनेश्वर को, 'वंदामि' वन्दन करता हूँ। 'कुंथुं' श्रीकुन्थुनाथ को, 'अरं' श्रीअरनाथ को, 'मल्लिं' श्रीमल्लिनाथ को 'मुणिसुव्वयं' श्रीमुनिसुव्रत को, 'च' और 'नमिजिणं' श्रीनमिनाथ जिनेश्वरको, 'वन्दे' वन्दन करता हूँ। 'रिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि—श्रीनेमिनाथ को 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ को 'तह' तथा 'वद्धमाणं' श्रीवर्द्धमान—श्रीमहावीर भगवान् को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥२-४॥

भावार्थ—(स्तवन)। श्रीऋषभनाथ, श्रीअजितनाथ, श्रीसंभवनाथ, श्रीअभिनन्दन, श्रीसुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्रीसुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीसुविधिनाथ, श्रीशीतलनाथ, श्रीश्रेयांसनाथ, श्रीवासुपूज्य, श्रीविमलनाथ, श्रीअनन्तनाथ, श्रीधर्मनाथ, श्रीशान्तिनाथ, श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, श्रीमल्लिनाथ श्रीमुनिसुव्रत, श्रीनमिनाथ, श्रीअरिष्टनेमि, श्रीपार्श्वनाथ और श्रीमहावीर स्वामी—इन चौवीस जिनेश्वरों की मैं स्तुति वन्दना करता हूँ ॥ २४ ॥

*एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥

---

* एवं मयाऽभिष्टुता विधूतरजोमला प्रहीणजरामरणाः।
चतुर्विंशतिरपि जिनवरास्तीर्थकरा मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'मए' मेरे द्वारा 'अभिथुआ' स्तवन किये गये, 'विहुयरयमला' पाप-रज के मल से विहीन, 'पहीणजरमरणा' बुढ़ापे तथा मरण से मुक्त, 'तित्थयरा' तीर्थ के प्रवर्त्तक 'चउवीसंपि' चौवीसों 'जिणवरा' जिनेश्वर देव 'मे' मेरे पर 'पसीयंतु' प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—(भगवान् से प्रार्थना) जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्ममल से रहितहैं, जो जरा-मरण दोनों से मुक्त हैं,और जो तीर्थ के प्रवर्त्तक हैं वे चौवीसों जिनेश्वर मेरे पर प्रसन्न हों—उनके आलम्बन से मुझमें प्रसन्नता हो ॥ ५ ॥

*कित्तियवंदियमहिया,जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'लोगस्स' लोक में 'उत्तमा' प्रधान [तथा] 'सिद्धा' सिद्ध हैं [और जो] 'कित्तियवंदियमहिया' कीर्त्तन, वन्दन तथा पूजन को प्राप्त हुए हैं 'ए' वे [मुझको] 'आरुग्गबोहिलाभं' आरोग्य का तथा धर्म का लाभ [और] 'उत्तम' उत्तम 'समाहिवरं' समाधि का वर 'दिंतु' देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिनका कीर्तन, वन्दन और पूजन नरेन्द्रों, नागेन्द्रों तथा देवेन्द्रों तक ने किया है, जो संपूर्ण लोक में उत्तम है और जो सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे भगवान् मुझ को आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर देवें उनके आलम्बन से बल पाकर मैं आरोग्य आदि का लाभ करूँ ॥ ६ ॥

† चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

---

* कीर्तितवन्दितमहिता य एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः।
आरोग्यबोधिलाभं समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

† चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः।
सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'चंदेसु' चन्द्रों से 'निम्मलयरा' विशेष निर्मल, 'आइच्चेसु' सूर्यों से भी 'अहियं' अधिक 'पयासयरा' प्रकाश करने वाले [और] 'सागरवरगंभीरा' महासमुद्र के समान गम्भीर 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'मम' मुझको 'सिद्धिं' सिद्धि—मोक्ष 'दिसंतु' देवें ॥७॥

भावार्थ—सिद्ध भगवान् जो सब चन्द्रों से विशेष निर्मल हैं, सब सूर्यों से विशेष प्रकाशमान हैं और स्वयंभूरमण-नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, उनके आलम्बन से मुझ को सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

१३—जयउ सामिय सूत्र।

* जयउ सामिय जयउ सामिय रिसह सत्तुंजि,
उज्जिंति पहु नेमिजिण, जयउ वीर सच्चउरिमंडण,
भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय, मुहरिपास। दुहदुरिअखंडण
अवर विदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसि विदिसि जिं के
वि तीआणागयसंपइअ वंदुं जिण सव्वेवि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'जयउ सामिय जयउ सामिय' हे स्वामिन्! आपकी जय हो, आपकी जय हो। 'सत्तुंजि' शत्रुञ्जय पर्वत पर स्थित 'रिसह' हे ऋषभदेव प्रभो! 'उज्जिंति' उज्जयन्त—गिरिनार-पर्वत पर स्थित 'पहु नेमिजिण' हे नेमिजिन प्रभो! 'सच्चउरिमंडण' सत्यपुरी-साचोर†-

* जयतु स्वामिन् जयतु स्वामिन्! ऋषभ शत्रुञ्जये, उज्जयन्ते प्रभो नेमिजिन, जयतु वीर सत्यपुरीमण्डन, भृगुकच्छे मुनिसुव्रत, मुखरिपार्श्व। दुःख-दुरित-खण्डना अपरे विदेहे तीर्थकरा, चतसृषु दिक्षु विदिक्षु ये केऽपि अतीतानागतसाम्प्रतिका, वन्दे जिनान् सर्वानपि ॥ १ ॥

†—यह जोधपुर स्टेट में है। जोधपुर-बीकानेर रेलवे, बाड़मेर स्टेशन से जाया जाता है।

के मण्डन 'वीर' हे वीर प्रभो! 'भरुअच्छहिं' भृगुकच्छ—भरुच ‡ में स्थित 'मुणिसुव्वय' हे मुनिसुव्रत प्रभो! तथा 'मुहरि' मुहरी-× टीटोई—गाँव में स्थित 'पास' हे पार्श्वनाथ प्रभो! 'जयउ' आपकी जय हो। 'विदेहिं' महाविदेह क्षेत्र में 'दुह-दुरिअ-खंडण' दुःख और पाप का नाश करने वाले [तथा] 'चिहु" चार 'दिसि विदिसि' दिशाओं और विदिशाओं में 'तीआणागयसंपइअ' भूत, भावी और वर्तमान 'जिं केवि' जो कोई 'अवर' अन्य 'तित्थयरा' तीर्थंकर हैं, 'जिण सव्वेवि' उन सब जिनेश्वरों को 'वंदु" वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—[कुछ खास स्थानों में प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की महिमा और जिन-वन्दना]। शत्रुञ्जय पर्वत पर प्रतिष्ठित हे आदिनाथ विभो! गिरिनार पर विराजमान हे नेमिनाथ भगवन्! सत्यपुरी की शोभा बढ़ाने वाले हे महावीर परमात्मन्!, भरुच के भूषण हे मुनिसुव्रत जिनेश्वर! और मुहरि गाँव के मण्डन हे पार्श्वनाथ प्रभो! आप सब की निरन्तर जय हो। महाविदेह क्षेत्र में, विशेष क्या, चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में जो जिन हो चुके हैं, जो मौजूद हैं, और जो होने वाले हैं, उन सभों को मैं वन्दना करता हूँ। सभी जिन, दुःख और पाप का नाश करने वाले हैं॥ १ ॥

* कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि

‡—यह शहर गुजरात में बड़ौदा और सूरत के बीच नर्मदा नदी के तट पर स्थित है। (बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे)।

×—यह तीर्थ इस समय इडर स्टेट में खंडहर रूप में है। इसके जीर्ण मन्दिर की प्रतिमा पास के टीटोई गाँव में स्थापित की गई है। टीटोई अमनगर से जाया जाता है। (अमदावाद-प्रान्तिज रेलवे, गुजरात)।

* कर्मभूमिषु कर्मभूमिषु प्रथमसंहननिनां उत्कृष्टतः सप्ततिशतं जिनवराणां विहरतां लभ्यते; नवकोट्यः केवलिनां, कोटिसहस्राणि नव साधवो गम्यन्ते। सम्प्रति जिनवराः विंशतिः, मुनयो द्वे कोटी वरज्ञानिनाम्, श्रमणानां कोटिसहस्रद्विकं स्तूयते नित्यं विभाते।

उक्कोसय सत्तरिसय जिणवराण विहरंत लब्भइ; नव-
कोडिहिं केवलीण, कोडिसहस्स नव साहु †गम्मइ।
संपइ जिणवर वीस, मुणि बिहुं कोडिहिं वरनाण,
समणह कोडिसहसदुअ थुणिज्जइ निच्च विहाणि॥२॥

अन्वयार्थ—'कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं' सब कर्मभूमियों में [मिलकर] 'पढमसंघयणि' प्रथम संहनन वाले 'विहरंत' विहरमाण 'जिणवराण' जिनेश्वरों की 'उक्कोसय' उत्कृष्ट [संख्या] 'सत्तरिसय' एक सौ सत्तर § १७० की 'लब्भइ' पायी जाती है, [तथा] 'केवलीण' सामान्य केवलज्ञानियों की [संख्या] 'नवकोडिहिं' नव करोड [और] 'साहु' साधुओं की [संख्या] 'नव' नव 'कोडिसहस्स' हजार करोड 'गम्मइ' पायी जाती है। 'संपइ' वर्त्तमान समय में 'जिणवर' जिनेश्वर 'वीस' बीस * हैं, 'वरनाण' प्रधान ज्ञान वाले—केवलज्ञानी 'मुणि' मुनि 'बिहु' दो 'कोडिहिं' करोड हैं, [और] 'समणह' सामान्य श्रमण—मुनि 'कोडिसहसदुअ' दो हजार करोड हैं, [उनकी] 'निच्च' सदा 'विहाणि' प्रात काल में 'थुणिज्जइ' स्तुति की जाती है ॥२॥

भावार्थ—[तीर्थङ्कर, केवली और साधुओं की स्तुति] सब कर्म भूमियों में-पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और पाँच महाविदेह में-विचरते हुए तीर्थङ्कर अधिक से अधिक १७० पाये जाते हैं। वे सब प्रथम

† पाठान्तर 'सपइ'।

§—पाँच भरत, पाँच ऐरवत और महाविदेह की १६० विजय—कुल १७० विभाग कर्मक्षेत्र के हैं, उन सब में एक एक तीर्थङ्कर होने के समय उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है जो दूसरे श्रीअजितनाथ तीर्थङ्कर के जमाने में थी।

* जम्बूद्वीप के महाविदेह की चार, धातकीखण्ड के दो महाविदेहों की आठ और पुष्करार्ध के दो महाविदेहों की आठ—इन बीस विजयों में एक एक तीर्थंकर नियम से होते ही हैं। इस कारण उनकी जघन्य संख्या बीस की मानी हुई है जो इस समय है।

संहनन वाले ही होते हैं। सामान्य केवली उत्कृष्ट नव करोड़ और साधु उत्कृष्ट नव हजार करोड—९० अरब—पाये जाते हैं। परन्तु वर्त्तमान समय में उन सब की संख्या जघन्य है; इसलिये तीर्थङ्कर सिर्फ २०, केवलज्ञानी मुनि दो करोड़ और अन्य साधु दो हजार करोड़—२० अरब—हैं। इन सब की मैं हमेशा प्रातःकाल में स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

* सत्ताणवइ सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठ कोडीओ।
चउसय छायासीया, तिअलोए चेइए वंदे ॥३॥
वन्दे नवकोडिसयं, पणवीसं कोडि लक्ख तेवन्ना।
अट्ठावीस सहस्सा, चउसय अट्ठासिया पड़िमा ॥४॥

अन्वयार्थ—'तिअलोए' तीन लोक में 'अट्ठ कोडीओ' आठ करोड़, 'छप्पन' छपन 'लक्खा' लाख 'सत्ताणवइ' सत्तानवे 'सहस्सा' हजार 'चउसय' चार सौ 'छायासीया' छयासी 'चेइए' चैत्य—जिन-प्रासाद हैं (उनको) 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'नवकोडिसयं पणवीसं कोडि' नव सौ पचीस करोड़ 'तिवन्ना लक्ख' तिरपन लाख 'अट्ठावीस सहस्सा' अठाइस हजार 'चउसय' चार सौ 'अट्ठासिया' अठासी 'पडिमा' जिन-प्रतिमाओं को 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥ ३-४ ॥

भावार्थ—(तीनों लोक के चैत्यों और प्रतिमाओं को वन्दन) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनों लोक के संपूर्ण चैत्यों की संख्या आठ करोड़ छप्पन लाख सत्तानवे हजार चार सौ छयासी (८५६९७-४८६) है; उन सबको मैं वन्दन करता हूँ और नव से पचीस करोड़ तिरपन लाख अठाइस हजार चार सौ अट्ठासी (९२५५३२८४८८) प्रतिमाओं को वन्दन करता हूँ ॥३-४॥

---

* सप्तनवतिं सहस्राणि, लक्षाणि षट्पञ्चाशतमष्ट कोटीः ।
चतुःशतीं षडशीतिं, त्रैलोक्ये चैत्यानि वन्दे ॥ ३ ॥
वन्दे नवकोटिशतं, पञ्चविंशतिं कोटीर्लक्षाणि त्रिपञ्चाशतम् ।
अष्टाविंशतिं सहस्राणि, चतुःशतीमष्टाशीतिं प्रतिमाः ॥ ४ ॥

१४—जं किंचि सूत्र।

*जं किंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए।
जाइं जिण-बिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ॥१॥

अन्वार्थ—'सग्गे' स्वर्ग 'पायालि' पाताल (और) 'माणुसे' मनुष्य 'लोए' लोक में 'जं' जो 'किंचि' कोई 'तित्थं' तीर्थ 'नाम' प्रसिद्ध हो तथा 'जाइं' जो 'जिणबिंबाइं' जिन बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सब को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—(तीर्थ और जिन-बिम्बों को नमस्कार)। स्वर्ग-लोक, पाताल लोक और मनुष्य लोक में—ऊर्ध्व, अधो और मध्यम लोक में—जो ‡ तीर्थ और जिन प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं वन्दन करता हूँ ॥१॥

१५—नमुत्थु णं सूत्र।

† नमुत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं, आइगराणं

---

* यत्किञ्चिन्नाम तीर्थं, स्वर्गे पाताले मानुष लोके।
यानि जिनबिम्बानि तानि सर्वाणि वन्दे ॥१॥

‡ वर्तमान कुछ तीर्थों के नाम—शत्रुञ्जय, गिरिनार, तारगा, शंखेश्वर, कुम्भारिया, आबू, राणकपुर, केसरियाजी, बामणवाडा, मांडवगढ, अन्तरीक्ष, मक्षी, हस्तिनापुर, इलाहाबाद, बनारस, अयोध्या, समेतशिखर, राजगृह, काकन्दी, क्षत्रियकुण्ड, पावापुरी, चम्पापुरी इत्यादि।

† नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भगवद्भ्य आदिकरेभ्यस्तीर्थकरेभ्यः स्वयंसंबुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः, लोकोत्तमेभ्यो लोकनाथेभ्यो लोकहितेभ्यो लोकप्रदीपेभ्यो लोकप्रद्योतकरेभ्यः, अभयदयेभ्यश्चक्षुर्दयेभ्यो मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यो बोधिदयेभ्यः, धर्मदयेभ्यो धर्मदेशकेभ्यो धर्मनायकेभ्यो धर्मसारथिभ्यो धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यो व्यावृत्तच्छद्मभ्यः, जिनेभ्यो जापकेभ्यः, तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः, बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः, मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं सम्प्राप्तेभ्यः।

नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्यः।

तित्थयराणं सयं-संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सी-हाणं पुरिस-वर-पुंडरीआणं पुरिस-वर-गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोग-नाहाणं लोग-हिआणं लोग-पईवाणं लोग-पज्जोअगराणं, अभय-दयाणं चक्खु-दयाणं मग्गदयाणं सरण-दयाणं बोहि-दयाणं, धम्म-दयाणं धम्म-देसयाणं धम्म-नायगाणं धम्म-सारहीणं धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं, अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं विअट्ट-छउमाणं, जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्व-न्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयम-व्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संप-त्ताणं ।

नमो जिणाणं जिअ-भयाणं ।

अन्वयार्थ—'नमुत्थु णं' नमस्कार हो 'अरिहंताणं भगवंताणं' अरिहंत भगवान् को (कैसे हैं वे भगवान् सो कहते हैः—) 'आइग-राणं' धर्म की शुरूआत करने वाले, 'तित्थयराणं' धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, 'सयंसंबुद्धाणं' अपने आप ही बोध को पाये हुए, 'पुरिसु-त्तमाणं' पुरुषों में श्रेष्ठ, 'पुरिस-सीहाणं' पुरुषों में सिंह के समान, 'पुरिस-वर-पुंडरीआणं' पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, 'पुरिसवर-गंधहत्थीणं' पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान, 'लोगुत्तमाणं' लोगों में उत्तम, 'लोग-नाहाणं' लोगों के नाथ, 'लोग-हिआणं' लोगों के हित करने वाले, 'लोग-पईवाणं' लोगों के लिये दीपक के समान, 'लोग-पज्जोअ-गराणं' लोगों में उद्योत करने वाले, 'अभय-दयाणं' अभय देने वाले, 'चक्खु-दयाणं' नेत्र देने वाले, 'मग्ग-दयाणं' धर्म-

मार्ग के दाता, 'सरण-दयाणं' शरण देने वाले, 'बोहि दयाणं' बोधि अर्थात् सम्यक्त्व देने आले, 'धम्म दयाणं' धर्म के दाता, 'धम्म-देसयाणं' धर्म के उपदेशक, 'धम्म नायगाण' धर्म के नायक 'धम्म सारहीणं' धर्म के सारथि, 'धम्म वर-चाउरत चक्कवट्टीणं' धर्म में प्रधान तथा चार गति का अन्त करने वाले, अतएव चक्रवर्ती के समान, 'अप्पडिहय वर-नाण-दसण धराणं' अप्रतिहत तथा श्रेष्ठ ऐसे ज्ञान दर्शन को धारण करने वाले, 'विअट्ट छउमाणं' छद्म अर्थात् घाति कर्मों से रहित, 'जिणाण जावयाणं' (राग द्वेष को) स्वय जीतने वाले, औरों को जिताने वाले, 'तिन्नाणं तारयाण' [ससार से [स्वयं तरे हुए, दूसरों को तारने वाले 'बुद्धाण बोहयाणं' स्वय बोध को पाये हुए, दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, 'मुत्ताणं मोअगाणं' [बन्धन से] स्वयं छुटे हुए, दूसरों को छुडाने वाले, 'सव्वन्नूण' सर्वज्ञ, 'सव्वदरिसीण' सर्वदर्शी [तथा] 'सिव' निरुपद्रव, 'अयल' स्थिर, 'अरुअ' रोग-रहित, 'अणत' अन्त रहित 'अक्खय' अक्षय, 'अव्वाबाह' बाधा रहित, 'अपुणराविचि' पुनरागमन रहित [ऐसे] 'सिद्धि गइ-नामधेय ठाण' सिद्धिगति नामक स्थान को अर्थात् मोक्ष को 'संपत्ताण' प्राप्त करने वाले।

'नमो' नमस्कार हो 'जिअ-भयाणं' भय को जीतने वाले 'जिणाणं' जिन भगवानों को॥

भावार्थ—अरिहतों को मेरा नमस्कार हो; जो अरिहत, भगवान् अर्थात् ज्ञानवान् हैं, धर्म की आदि करने वाले हैं, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, दूसरे के उपदेश के सिवाय ही बोध को प्राप्त हुए हैं, सब पुरुषों में उत्तम है, पुरुषों में सिंह के समान निडर हैं, पुरुषों में कमल के समान अलिप्त हैं, पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान सहनशील हैं, लोगों में उत्तम हैं, लोगों के नाथ हैं, लोगों के हितकारक हैं, लोक में प्रदीप के समान प्रकाश करने वाले हैं, लोक में अज्ञान-अन्धकार का नाश करने वाले

हैं, दुःखियों को अभयदान देने वाले हैं, अज्ञान से अन्ध ऐसे लोगों को ज्ञानरूप नेत्र देने वाले हैं, मार्ग-भ्रष्ट को अर्थात् गुमराह को मार्ग दिखाने वाले हैं, शरणागत को शरण देने वाले हैं, सम्यक्त्व-प्रदान करने वाले हैं, धर्म-हीन को धर्म-दान करने वाले हैं, जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश करने वाले हैं, धर्म के नायक—अगुए हैं; धर्म के सारथि-संचालक हैं; धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्त्ती के समान चतुरन्त हैं अर्थात् जैसे चार दिशाओं को विजय करने के कारण चक्रवर्त्ती चतुरन्त कहलाता है वैसे अरिहंत भी चार गतियों का अन्त करने के कारण चतुरन्त कहलाते हैं, सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं; चार घाति-कर्म रूप आवरण से मुक्त हैं, स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले और दूसरों को भी जिताने वाले हैं, स्वयं संसार के पार पहुँच चुके हैं, और दूसरों को भी उसके पार पहुँचाने वाले हैं, स्वयं ज्ञान को पाये हुए है और दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं, स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले हैं ; सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा उपद्रव-रहित, अचल, रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याकुलता-रहित और पुनरागमन-रहित ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त हैं।

सब प्रकार के भयों को जीते हुए जिनेश्वरों को नमस्कार हो।

जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संतिणागए काले।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—‘ जे ’ जो ‘ सिद्धा ’ सिद्ध ‘ अईया ’ भूतकाल में हो चुके हैं, ‘जे’ जो ‘अणागए’ भविष्यत् ‘काले’ काल में ‘भविस्संति’ होंगे ‘ अ ’ और [जो] ‘संपइ’ वर्त्तमान काल में ‘ वट्टमाणा ’ विद्यमान हैं ‘सव्वे’ उन सबको ‘ तिविहेण ’ तीन प्रकार से अर्थात् मन,

ये च अतीताः सिद्धा ये च भविष्यन्ति अनागते काले।
सम्प्रति च वर्त्तमानाः, सर्वान् त्रिविधेन वन्दे ॥ १ ॥

वचन और काया से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सिद्ध अर्थात् मुक्त हो चुके हैं, जो भविष्य में मुक्त होने वाले हैं तथा वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं उन सब—त्रैकालिक सिद्धों को मैं मन, वचन और शरीर से वन्दन करता हूँ ॥ १० ॥

१६—जावंति चेइआइं सूत्र।

*जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ-लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥१॥

अन्वयार्थ—'उड्ढे' ऊर्ध्व लोक में 'अ' और 'अहे' अधोलोक में 'अ' और 'तिरिअलोए' तिरछे लोक में 'तत्थ' जहाँ कहीं 'संताइं' वर्तमान 'जावंति' जितने 'चेइआइं' जिन बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सबको 'इह' इस जगह 'संतो' रहता हुआ [मैं] 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—[सर्व चैत्य स्तुति] ऊर्ध्व लोक अर्थात् ज्योतिर्लोक और स्वर्ग लोक, अधोलोक यानि पाताल में वसने वाले नागकुमारादि भवनपतियों का लोक और तिर्यग्लोक यानि इस मनुष्य लोक में जितनी जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं यहाँ अपने स्थान में रहा हुआ वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

१७—जावंत केवि साहू सूत्र।

†जावंत केवि साहू, भरहेरवय महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं ॥१॥

अन्वयार्थ—'भरह' भरत, 'एरवय' ऐरवत 'अ' और 'महाविदेहे'

---

* यावन्ति चैत्यानि, ऊर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च।
सर्वाणि तानि वन्दे, इह सन्तत्र सन्ति ॥ १ ॥

† यावन्तः केऽपि साधवो भरतैरवतयोर्महाविदेहे च।
सर्वेभ्यस्तेभ्यः प्रणतः त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्यः ॥ १ ॥

महाविदेह क्षेत्र में 'जावंत' जितने [और] 'केवि' जो कोई 'साहू' साधु हों 'तिविहेण' त्रि-करण-पूर्वक 'तिदंडविरयाणं' तीन दण्ड से विरत 'तेसिं' उन 'सव्वेसिं' सभों को [मैं 'पणओ' प्रणत हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—[सर्व-साधु-स्तुति] । जो तीन दण्ड से त्रि-करण-पूर्वक अलग हुए हैं अर्थात् मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार को न स्वयं करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और न करते हुए को अच्छा समझते हैं उन सब साधुओं को मैं नमन करता हूँ ॥ १ ॥

१८—परमेष्ठि-नमस्कार ।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ॥

अर्थ—श्रीअरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ॥

१९—उवसग्गहरं† स्तोत्र ।

*** उवसग्ग-हरं पासं, पासं वंदामि कम्म-घण-मुक्कं ।**

† यह स्तोत्र चतुर्दशपूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु का बनाया हुआ कहा जाता है । इसके बारे में ऐसी कथा प्रचलित है कि इन आचार्य का एक वराहमिहिर नाम का भाई था । वह किसी कारण से ईर्ष्यावश हो कर जैन साधुपन छोड़ दूसरे धर्म का अनुयायी हो गया था और ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अपना महत्त्व लोगों को बतला कर जैन साधुओं की निन्दा किया करता था । एक बार एक राजा की सभा में भद्रबाहु ने उसकी ज्योतिषशास्त्र-विषयक एक भूल बतलाई । इससे वह और भी अधिक जैन-धर्म का द्वेषी बन गया । अन्त में मर कर वह किसी हलकी योनि का देव हुआ और वहां पर पूर्व-जन्म का स्मरण करने पर जैन-धर्म के ऊपर का उसका द्वेष फिर जागृत हो गया । इस द्वेष में अन्ध होकर उसने जैन-संघ में मारी फैलानी चाही । तब भद्रबाहु ने उस मारी के निवारणार्थ इस स्तोत्र की रचना कर सब जैनों को इसका पाठ करना बतलाया । इसके पाठ से वह उपद्रव दूर हो गया । आदि वाक्य इसका 'उवसग्गहरं' होने से यह 'उपसर्गहर स्तोत्र' कहलाता है ।

* उपसर्ग-हरपार्श्वं पार्श्वं वन्दे कर्मघनमुक्तम् ।
विषधरविषनिर्णाशं मंगलकल्याणावासम् ॥ १ ॥

विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवास ॥१॥

अन्वयार्थ—'कम्म-घण मुक्कं' कर्मों के समूह से छुटे हुए 'विसहर-विस-निन्नासं' साँप के जहर का नाश करने वाले, 'मंगल कल्लाण-आवास' मंगल तथा आरोग्य के स्थान-भूत [और] 'उवसग्गहरपासं' उपसर्गों को हरण करने वाले पार्श्व-नामक यक्ष के स्वामी [ऐसे] 'पास' श्रीपार्श्वनाथ भगवान् को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व-नामक यक्ष जिनका सेवक हैं, जो कर्मों की राशि से मुक्त हैं, जिनके स्मरण मात्र से विषैले साँप का जहर नष्ट हो जाता है और जो मंगल तथा कल्याण के आधार हैं ऐसे भगवान् श्री पार्श्वनाथ को मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

* विसहर फुलिंग-मंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठ-जरा जंति उवसामं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'मणुओ' मनुष्य 'विसहर-फुलिंग मंतं' विषधर-स्फुलिङ्ग-नामक मन्त्र को 'कंठे' कण्ठ में 'सया' सदा 'धारेइ' धारण करता है 'तस्स' उसके 'गह' ग्रह, 'रोग' रोग, 'मारी' हैजा और 'दुट्ठजरा' दुष्ट-कुपितज्वर [आदि] 'उवसामं' उपशान्ति 'जंति' पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भगवान् के नाम गर्भित 'विषधर-स्फुलिङ्ग' मन्त्र को हमेशा कण्ठ में धारण करता है अर्थात् पढ़ता है उसके प्रतिकूल ग्रह, कष्ट साध्य रोग, भयंकर मारी और दुष्ट ज्वर ये सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

† चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ।

* विषधरस्फुलिंगमन्त्रं, कण्ठे धारयति यः सदा मनुजः।
तस्य ग्रहरोगमारीदुष्टज्वरा यान्ति उपशमम् ॥ २ ॥

† तिष्ठतु दूरे मन्त्रः, तव प्रणामोऽपि बहुफलो भवति।
नरतिर्यक्षोरपि जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम् ॥ ३ ॥

नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥३॥

अन्वयार्थ—'मंतो' मन्त्र 'दूरे' दूर 'चिट्ठउ' रहो, 'तुज्झ' तुझको किया हुआ 'पणामोवि' प्रणाम भी 'बहुफलो' बहुत फल को देनेवाला 'होइ' होता है, [क्योंकि उससे] 'जीवा' जीव 'नरतिरिएसु वि' मनुष्य और तिर्यंच गति में भी 'दुक्खदोगच्च' दुःख-दरिद्रता 'न पावंति' नहीं पाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! विषधरस्फुलिङ्ग मन्त्र की बात तो दूर रही, सिर्फ तुझको किया हुआ प्रणाम भी अनेक फलों को देता है, क्योंकि उससे मनुष्य तो क्या, तिर्यंच भी दुःख या दरिद्रता कुछ नहीं पाते ॥ ३ ॥

† तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए' चिंतामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक [ऐसे] 'सम्मत्ते' सम्यक्त्व को 'तुह' तुझसे 'लद्धे' प्राप्त कर लेने पर 'जीवा' जीव 'अविग्घेणं' विना विघ्न के 'अयरामरं' जरा-मरण-रहित 'ठाणं' स्थान को 'पावंति' पाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणि-रत्न और कल्पवृक्ष से उत्तम है। हे भगवन्! उस गुण को तेरे आलम्बन से प्राप्त कर लेने पर जीव निर्विघ्नता से अजरामर पद को पाते हैं ॥ ४ ॥

⊛ इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भर-निब्भरेण हिअएण। ता देव! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास-जिणचंद ॥

---

† तव सम्यक्त्वे लब्धे चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यामधिके ।
प्राप्नुवन्ति अविघ्नेन, जीवा अजरामरं स्थानम् ॥ ४ ॥

* इति संस्तुतो महायशः ! भक्तिभरनिर्भरेण हृदयेन ।
तस्माद् देव ! देहि बोधिं, भवे भवे पार्श्व जिनचन्द्र ! ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'महायस !' हे महायशस्विन्! [मैंने] 'इअ' इस प्रकार 'भत्ति-ब्भर-निब्भरेण' भक्ति के आवेग से परिपूर्ण 'हिअएण' हृदय से 'संथुओ' [तेरी] स्तुति की। 'ता' इस लिये 'पास-जिणचंद' हे पार्श्व जिनेश्वर 'देव' देव! 'भवे भवे' हर एक भव में (मुझको) 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिज्ज' दीजिये।

भावार्थ—हे महायशस्विन् पार्श्वनाथ प्रभो! इस प्रकार भक्ति पूर्ण हृदय से तेरी स्तुति कर मैं चाहता हूँ कि जन्म जन्म में मुझको तेरी कृपा से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ॥ ५ ॥

२०—जयवीयराय सूत्र † ।

* जय वीयराय ! जगगुरु !, होउ ममं तुह पभाव-
ओ भयवं ! । भव-निव्वेओ मग्गा-णुसारिया इट्ठ-
फल-सिद्धी ॥१॥

लोग-विरुद्ध-चाओ, गुरु-जण-पूआ परत्थकरणं च ।
सुह-गुरु-जोगो तव्वयण-सेवणा आभवमखण्डा ॥२॥

---

† चैत्यवन्दन के अन्त में संक्षेप और विस्तार इस तरह दो प्रकार से प्रार्थना की जा सकती है। संक्षेप में करनी हो तो "दुक्खखओ कम्मखओ" यह एक ही गाथा पढनी चाहिये और विस्तार से करनी हो तो "जय वीय-राय" आदि तीन गाथाएँ। यह बात श्रीवादि-वेताल शान्तिसूरि ने अपने चैत्यवन्दन महाभाष्य मे लिखी है। किन्तु इससे प्राचीन समय में प्रार्थना सिर्फ दो गाथाओं से की जाती थी, क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्थ पञ्चाशक गा ३२–३४ में "जय वीयराय, लोगविरुद्धचाओ" इन दो गाथाओं से चैत्यवन्दन के अन्त में प्रार्थना करने की पूर्व-परम्परा बतलाई है।

* जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन् ।
भवनिर्वेदो मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ॥ १ ॥

लोकविरुद्धत्यागो गुरुजनपूजा परार्थकरणं च ।
शुभगुरुयोगस्तद्वचनसेवनाऽऽभवमखण्डा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'वीयराय' वीतराग ! 'जगगुरु' हे जगद्गुरो ! 'जय' [तेरी] जय हो । 'भयवं' हे भगवन् ! 'तुह' तेरे 'पभावओ' प्रभाव से 'ममं' मुझ को 'भवनिव्वेओ' संसार से वैराग्य, 'मग्गाणुसारिया' मार्गानुसारिपन, 'इट्ठफलसिद्धी' इष्ट फल की सिद्धि, 'लोगविरुद्धच्चाओ' लोक-विरुद्ध कृत्य का त्याग 'गुरुजणपूआ' पूजनीय जनों की पूजा, 'परत्थ-करणं' परोपकार का करना, 'सुहगुरुजोगो' पवित्र गुरु का सङ्ग, 'च' और 'तव्वयण-सेवणा' उनके वचन का पालन 'आभवं' जीवन-पर्यन्त 'अखंडा' अखण्डित रूप से 'होउ' हो ॥ १—२ ॥

भावार्थ—हे वीतराग ! हे जगद्गुरो ! तेरी जय हो । संसार से वैराग्य, धर्म-मार्ग का अनुसरण, इष्ट फलकी सिद्धि, लोक-विरुद्ध व्यवहार का त्याग, बड़ों के प्रति बहुमान, परोपकार में प्रवृत्ति, श्रेष्ठ गुरु का समागम और उनके वचन का अखण्डित आदर—ये सब बातें हे भगवन् ! तेरे प्रभाव से मुझे जन्म-जन्म में मिलें ॥ १-२ ॥

२१—आचार्य आदि को वन्दन ।

आचार्य जी मिश्र, उपाध्यायजो मिश्र, जङ्गम युग-प्रधान भट्टारक (वर्तमान श्रीपूज्यजी का नाम लेकर) **मिश्र, सर्व साधु मिश्र ।**

२२—सव्वस्सवि सूत्र ।

‡सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

‡ सर्वस्याऽपि दैवसिकस्य दुश्चिन्तितस्य दुर्भाषितस्य दुश्चेष्टितस्य इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इच्छामि तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

अन्वयार्थ—'भगवन्' हे महाराज ! 'इच्छाकारेण' इच्छा-पूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिए (ताकि मैं दैवसिक पापों का मिथ्या-दुष्कृत देऊँ) । 'इच्छं' आज्ञा प्रमाण है । 'देवसिय' दिवस-सम्बन्धी 'दुच्चिंतिअ' बुरे चिंतन 'दुब्भासिअ' बुरे भाषण और 'दुच्चिट्ठिअ' बुरी चेष्टा (जो की हो) 'तस्स सव्वस्सवि' उन सभों का 'दुक्कड' पाप 'मि' मेरे लिए 'मिच्छा' मिथ्या हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मुझे आज्ञा दीजिए जिससे मैं अपने पापों का दुष्कृत देऊँ । दिवस में मैंने बुरे विचार से, बुरे भाषण से और बुरे कामों से जो पाप बाधा हो वह निष्फल हो ।

२३—इच्छामि ठाइउं सूत्र ।

॥ इच्छामि †ठाइउं काउस्सग्गं ।

अन्वयार्थ—'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठाइउं' करने को 'इच्छामि' चाहता हूँ ।

* जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग-पाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ता-

---

॥ इच्छामि स्थातु कायोत्सर्गम् ।

†—'ठामि' यह पाठान्तर प्रचलित है किन्तु आवश्यकसूत्र पृ० ७७८ पर 'ठाइउं' पाठ है जो अर्थ-दृष्टि से विशेष सगत मालूम होता है ।

* यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत कायिको वाचिको मानसिक उत्सूत्र उन्मार्गोऽकल्प्योऽकरणीयो दुर्ध्यातो दुर्विचिन्तितोऽनाचारोऽनेष्टव्योऽश्रावकप्रायोग्यो ज्ञाने दर्शने चारित्राचारित्रे श्रुते सामायिके, तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायाणां पञ्चानामणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानां द्वादशविधस्य श्रावकधर्मस्य यत् खण्डितं यद्विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

चरित्ते सुए सामाइए; तिरहं गुत्तीणं चउरहं कसाया-णं पंचरहमणुव्वयाणं तिरहं गुणव्वयाणं चउरहं सिक्खावयाणं बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

अन्वयार्थ—'नाणे, ज्ञान में 'तह' तथा 'दंसणे' दर्शन में 'चरित्ता-चरित्ते' देशविरति में 'सुए' श्रुत-धर्म में (और) 'सामाइए' सामा-यिक में 'देवसिओ' दिवस-सम्बन्धी 'काइओ' कायिक 'वाइओ' वाचिक (और) 'माणसिओ' मानसिक 'उस्सुत्तो' शास्त्रविरुद्ध 'उम्मग्गो' मार्ग-विरुद्ध 'अकप्पो' आचार-विरुद्ध 'अकरणिज्जो' नहीं करने योग्य 'दुज्झा-ओ' दुर्ध्यात—आर्त-रौद्र ध्यान-रूप 'दुव्विचिंतिओ' दुश्चिन्तित—अशुभ 'अ-णायारो' नहीं आचरने योग्य 'अणिच्छिअव्वो' नहीं चाहने योग्य 'असा-वग-पाउग्गो' श्रावक को नहीं करने योग्य 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार 'मे' मैंने 'कओ' किया (उसका पाप मेरे लिये मिथ्या हो ; तथा) 'तिण्हं गुत्तीणं' तीन गुप्तिओं की और) 'पंचण्हमणुव्वयाणं' पाँच अणु-व्रत 'तिण्हं गुणव्वयाणं' तीन गुणव्रत 'चउण्हं सिक्खावयाणं' चार शिक्षा-व्रत (इस तरह) 'बारसविहस्स' बारह प्रकार के 'सावगधम्मस्स' श्रावक धर्म की 'चउण्हं कसायाणं' चार कषायों के द्वारा 'जं' जो 'खंड़ियं' खण्डना की हो (या) 'जं' जो 'विराहिअं' विराधना की हो 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ॥

भावार्थ—मैं काउसग्ग करना चाहता हूँ ; परन्तु इसके पहिले मैं इस प्रकार दोष की आलोचना कर लेता हूँ । ज्ञान, दर्शन, देशविरति-चारित्र, श्रुतधर्म और सामायिक के विषय में मैंने दिन में जो कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार का सेवन किया हो उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो। मार्ग अर्थात् परंपरा विरुद्ध तथा कल्प अर्थात् आचार-विरुद्ध प्रवृत्ति करना कायिक अतिचार है। दुर्ध्यान या अशुभ चिन्तन करना मानसिक अतिचार है। सब प्रकार के अतिचार अकर्तव्य रूप

होनेके कारण आचरने व चाहने योग्य नहीं हैं, इसी कारण उनका सेवन श्रावक के लिये अनुचित है।

तीन गुप्तियों का तथा बारह प्रकार के श्रावक धर्म का मैंने कषायवश जो आंशिक भङ्ग या सर्व-भङ्ग किया हो उसका भी पाप मेरे लिये निष्फल हो।

२४—अरिहंतचेइयाणं सूत्र।

*अरिहन्तचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए, पूअण-वत्तियाए, सक्कार-वत्तियाए सम्माण-वत्तियाए, बोहि लाभ-वत्तियाए, निरुवसग्गवत्तियाए॥

अन्वयार्थ—'अरिहंतचेइयाणं' श्री अरिहंत के चैत्यों के अर्थात् बिम्बों के 'वंदणवत्तियाए' वन्दन के निमित्त 'पूअणवत्तियाए' पूजन के निमित्त 'सक्कारवत्तियाए' सत्कार के निमित्त (और) 'सम्माणवत्तियाए' सम्मान के निमित्त 'बोहिलाभवत्तियाए' सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त (तथा) 'निरुवसग्गवत्तियाए' मोक्ष के निमित्त 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ॥ २॥

+ सद्धाए, मेहाए, धिईए, धारणाए, अणुप्पेहाए, वड्ढमाणीए, ठामि काउस्सग्गं।

अन्वयार्थ—'वड्ढमाणीए' बढ़ती हुई 'सद्धाए' श्रद्धा से 'मेहाए' बुद्धि से, 'धिईए' धृति से अर्थात् विशेष प्रीति से 'धारणाए' धारणा से अर्थात् स्मृति से 'अणुप्पेहाए' अनुप्रेक्षा से अर्थात् तत्त्व चिंतन से 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ॥ ३॥

---

* अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं, सत्कारप्रत्ययं, सम्मानप्रत्ययं, बोधिलाभप्रत्ययं, निरुपसर्गप्रत्ययम्।

\+ श्रद्धया, मेधया, धृत्या, धारणया, अनुप्रेक्षया, वर्द्धमानया, तिष्ठामि कायोत्सर्गम्।

भावार्थ—अरिहंत भगवान् की प्रतिमाओं के वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान करने का अवसर मिले तथा वन्दन आदि द्वारा सम्यक्त्व और मोक्ष प्राप्त हो इस उद्देश से, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

बढ़ती हुई श्रद्धा, बुद्धि, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा-पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

२५—पुक्खर-वर-दीवड्ढे सूत्र।

*** पुक्खर-वर-दीवड्ढे, धायइ-संडे अ जंबुदीवे अ। भरहेरवय-विदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥**

अन्वयार्थ—'जंबुदीवे' जम्बूद्वीप के 'धायइसंडे' धातकी खण्ड के 'अ' तथा 'पुक्खरवरदीवड्ढे' अर्ध पुष्करवर-द्वीप के 'भरहेरवयविदेहे' भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में 'धम्माइगरे' धर्म की आदि करने वालों को (मैं) 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और अर्ध पुष्करवरद्वीप के भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में धर्म की प्रवृत्ति करने वाले तीर्थङ्करों को मैं नमस्कार करता हूँ ।॥ १ ॥

[तीन गाथाओं से श्रुत की स्तुति]

† तम-तिमिर-पडल-विद्धं-
सणस्स सुर-गण-नरिंद-महियस्स।
सीमाधरस्स वंदे,
पप्फोडिअ-मोह-जालस्स ॥२॥

---

* पुष्करवरद्वीपार्धे धातकीखण्डे च जम्बूद्वीपे च।
भरतैरवतविदेहे धर्मादिकरान्नमस्यामि ॥ १ ॥

† तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्य सुरगणनरेन्द्रमहितस्य।
सीमाधरस्य वन्दे प्रस्फोटितमोहजालस्य ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स' अज्ञान रूप अन्धकार के परदे का नाश करने वाले 'सुरगणनरिंदमहियस्स' देवगण और राजाओं के द्वारा पूजित, 'सीमाधरस्स' मर्यादा को धारण करने वाले और 'पप्फोडिअ मोह-जालस्स' मोह के जाल को तोड देने वाले (श्रुत को) 'वंदे' मैं वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

* जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स ।
कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ॥
को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स ।
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ? ॥३॥

अन्वयार्थ—'जाईजरामरणसोगपणासणस्स' जन्म, जरा, मरण और शोक को मिटाने वाले 'कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स' कल्याणकारी और परम उदार सुख अर्थात् मोक्ष को देने वाले 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' देवगण, दानवगण और नरपतिगण के द्वारा पूजित, (ऐसे) 'धम्मस्स' धर्म के 'सार' सार को 'उवलब्भ' पा कर 'पमायं' प्रमाद 'को' कौन 'करे' करेगा ? ॥ ३ ॥

† सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे ।

---

* जातिजरामरणशोकप्रणाशनस्य ।
कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्य ॥
को देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य ।
धर्मस्य सारमुपलभ्य कुर्यात् प्रमादम् ? ॥३॥

† सिद्धाय भो ! प्रयतो नमो जिनमताय नन्दिः सदा संयमे ।
देवनागसुवर्णकिन्नरगणसद्भूतभावार्चिते ॥
लोको यत्र प्रतिष्ठितो जगदिदं त्रैलोक्यमर्त्यासुरं ।
धर्मो वर्धतां शाश्वतो विजयतो धर्मोत्तरं वर्धताम् ॥ ४ ॥

देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं ।
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं
वड्ढउ ॥४॥

अन्वयार्थ—'भो' हे भव्यों! (मैं) 'पयओ' बहुमान-युक्त हो कर 'सिद्धे' प्रमाण-भूत 'जिणमए' जिनमत—जिन-सिद्धान्त को 'णमो' नमस्कार करता हूँ (जिस सिद्धान्त से) 'देवं-नाग-सुवन्न-किन्नरगण' देवों, नागकुमारों*, सुवर्णकुमारों† और किन्नरों‡ के समूह द्वारा 'स्सब्भूअभावच्चिए' शुद्ध-भाव-पूर्वक अर्चित (ऐसा) 'संजमे' संयम में 'सया' सदा 'नंदी' वृद्धि होती है (तथा) 'जत्थ' जिस सिद्धान्त में 'लोग' ज्ञान (और) 'तेलुक्कमच्चासुरं' मनुष्य-असुरादि तीन लोकरूप 'इणं' यह 'जगं' जगत् 'पइट्ठिओ' प्रतिष्ठित हैं, वह 'सासओ' शाश्वत 'धम्मो' धर्म—श्रुतधर्म 'विजयओ' विजय-प्राप्ति-द्वारा 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे (और इससे) 'धम्मुत्तरं' चारित्र-धर्म भी 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मैं श्रुत-धर्म को वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह अ-ज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करता है, इसकी पूजा नृपगण तथा देवगण तक ने की है, यह सबको मर्यादा में रखता हैं और इसने आश्रितों के मोह-जाल को तोड़ दिया है ॥ २ ॥

जो जन्म, जरा, मरण और शोक का नाश करने वाला है जिसके

---

* ये भवनपति निकाय के देव-विशेष हैं। इनके गहनों में साँप का चिन्ह है और वर्ण इनका सफेद है।

† ये भी भवनपति जाति के देव हैं। इन के गहनों में गरुड़ का चिन्ह और वर्ण इनका सुवर्ण की तरह गौर है। (बृहत्संग्रहणी गा० ४२-४४)।

‡ ये व्यन्तर जाति के देव हैं। चिन्ह इनका अशोक वृक्ष है जो ध्वज में होता है। वर्ण प्रियङ्गु वृक्ष के समान है। (बृहत्संग्रहणी गा० ५८, ६१-६२)।

आलम्बन से मोक्ष का अपरिमित सुख प्राप्त किया जा सकता है, और देवों, दानवों तथा नरपतिओं ने जिसकी पूजा की है ऐसे श्रुतधर्म को पाकर कौन बुद्धिमान् गाफिल रहेगा? कोई भी नहीं ॥ ३ ॥

जिसका बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और देवों तक ने यथार्थ भक्ति पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिन कथित सिद्धान्त से ही होती है। सब प्रकार का ज्ञान भी जिनोक्त सिद्धान्त में ही निःसन्देह रीति से वर्तमान है। जगत् के मनुष्य, असुर आदि सब प्राणिगण जिनोक्त सिद्धान्त में ही प्रमाण-पूर्वक वर्णित हैं। हे भव्यों! ऐसे नय-प्रमाण-सिद्ध जैन सिद्धान्त को मैं आदर सहित नमस्कार करता हूँ। वह शाश्वत सिद्धान्त उन्नत होकर एकान्त-वाद पर विजय प्राप्त करे, और इससे चारित्र-धर्म की भी वृद्धि हो।

+सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्ग वंदण-वत्ति-याए० ॥

अर्थ—मैं श्रुत-धर्म के वन्दन आदि निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ।

२६—सिद्धाणं बुद्धाणं* सूत्र।

(सिद्ध की स्तुति)

† सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥

+ श्रुतस्य भगवतः करोमि कायोत्सर्गं वन्दन प्रत्ययम्।

*—इस सूत्र की पहली तीन ही स्तुतियों की व्याख्या श्रीहरिभद्रसूरि ने की है, पिछली दो स्तुतिओं की नहीं। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि "पहली तीन स्तुतियाँ नियम-पूर्वक पढ़ी जाती हैं, पर पिछली स्तुतियाँ नियम-पूर्वक नहीं पढ़ी जातीं। इसलिये इन का व्याख्यान नहीं किया जाता" (आवश्यक टीका पत्र ७६०, ललितविस्तरा पृ० ११०)।

† सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः पारगतेभ्यः परम्परागतेभ्यः।
लोकाग्रमुपगतेभ्यो, नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः ॥१॥

अन्वयार्थ—'सिद्धाणं' सिद्धि पाये हुए' बुद्धाणं 'बोध पाये हुए 'पारगयाणं' पार पहुँचे हुए 'परंपरगयाणं' परंपरा से गुणस्थानों के क्रम से सिद्ध पद तक पहुँचे हुए 'लोअग्गं' लोक के अग्र भाग पर 'उवगयाणं' पहुँचे हुए 'सव्वसिद्धाणं' सब सिद्ध जीवों को 'सया' सदा 'नमो' नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं, क्रमिक आत्म-विकास-द्वारा मुक्ति-पद पर्यन्त पहुँचे हुए हैं और लोक के ऊपर के भाग में स्थित हैं उन सब मुक्त जीवों को सदा मेरा नमस्कार हो ॥१॥

(महावीर भगवान की स्तुति)

*** जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।**
तं देवदेव-महिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'देवाणवि' देवों का भी 'देवो' देव है और 'जं' जिसको 'पंजली' हाथ जोड़े हुए 'देवा' देव 'नमंसंति' नमस्कार करते हैं 'देवदेवमहिअं' देवों के देव इन्द्र द्वारा पूजित (ऐसे) 'तं' उस 'महावीर' महावीर को 'सिरसा' सिर झुका कर 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

† इक्कोवि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥

अन्वयार्थ—'जिण-वर-वसहस्स' जिनों में प्रधान भूत 'वद्धमा-णस्स' श्रीवर्द्धमान को (किया हुआ) 'इक्कोवि' एक भी 'नमुक्कारो'

---

* यो देवानामपि देवो यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति।
तं देवदेव-महितं शिरसा वन्दे महावीरम् ॥२॥

† एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य।
संसारसागरात्तारयति नरं वा नारीं वा ॥३॥

नमस्कार 'नर' पुरुष को 'वा' अथवा 'नारि' स्त्री को 'संसारसाग-राओ' ससार रूप समुद्र से 'तारेइ' तार देता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो देवों का देव है, देवगण भी जिसको हाथ जोड कर आदर-पूर्वक नमन करते हैं और जिसकी पूजा इन्द्र तक करते हैं उस देवाधिदेव महावीर को सिर झुका कर मै नमस्कार करता हूँ ॥२॥

जो कोई व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री भगवान् महावीर को एक बार भी भाव-पूर्वक नमस्कार करता है वह ससार रूप अपार समुद्र को तर कर परम पद को पाता है ॥ ३ ॥

[श्री अरिष्टनेमि की स्तुति]

* उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'उज्जिंतसेलसिहरे' उज्जयत—गिरनार पर्वत के शिखर पर 'जस्स' जिसकी 'दिक्खा' दीक्षा 'नाणं' केवल ज्ञान [और] 'निसीहिआ' मोक्ष हुए हैं 'तं' उस 'धम्म-चक्कवट्टिं' धर्म-चक्रवर्त्ती 'अरिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि को 'नमसामि' नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिसके दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक गिरिनार पर्वत पर हुए हैं, जो धर्मचक्र का प्रवर्त्तक है उस श्री नेमिनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

[२४ तीर्थङ्करों की स्तुति]

\+ चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा चउ-

---

* उज्जयन्तशैलशिखरे दीक्षा ज्ञान नैषेधिकी यस्य।
त धर्मचक्रवर्तिनमरिष्टनेमिं नमस्यामि ॥४॥

\+ चत्वारोऽष्ट दश द्वौ च वन्दिता जिनवराश्चतुर्विंशति।
परमार्थनिष्ठितार्था सिद्धा सिद्धिं मम दिशन्तु ॥५॥

व्वीसं । परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'चत्तारि' चार 'अट्ठ' आठ 'दस' दस 'य' और 'दो' दो [कुल] 'चउव्वीसं' चौवीस 'जिणवरा' जिनेश्वर [जो] 'वंदिआ' वन्दित हैं, 'परमट्ठनिट्ठिअट्ठा' परमार्थ से कृतकृत्य हैं [और] 'सिद्धा' सिद्ध हैं वे 'मम' मुझको 'सिद्धिं' मुक्ति 'दिसंतु' देवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिन्होंने परम पुरुपार्थ मोक्ष प्राप्त किया है और इससे जिनको कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है वे चौवीस जिनेश्वर मुझको सिद्धि प्राप्त करने में सहायक हो ।

इस गाथा में चार, आठ, दस, दो इस क्रम से कुल चौवीस की संख्या बतलाई है, इसका अभिप्राय यह है कि अष्टापद पर्वत पर चार दिशाओं में उसी क्रम से चौवीस प्रतिमाएँ विराजमान हैं ॥ ५ ॥

२७—वेयावच्चगराणं सूत्र ।

*** वेयावच्च-गराणं संति-गराणं सम्मदिट्ठिसमाहि-गराणं करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ॥**

अन्वयार्थ—'वेयावच्चगराणं' वैयावृत्य करने वाले, 'संतिगराणं' शान्ति करने वाले [और] 'सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं' सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि पहुँचाने वाले [ऐसे देवों की आराधना के निमित्त] 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ।

भावार्थ—जो देव, शासन की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं, जो सब जगह शान्ति फैलाने वाले हैं और जो सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुचाने वाले हैं उनकी आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

---

* वैयावृत्यकराणां शान्तिकराणां सम्यग्दृष्टिसमाधि[illegible] योत्सर्गम् ॥

२८—सुगुरु वन्दन सूत्र*।

† इच्छामि खमासमणो। वंदिउं जावणिज्जाए

*—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, और रत्नाधिक—पर्यायज्येष्ठ—(आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११६५) ये पाँच सुगुरु हैं। इनको वन्दन करने के समय यह सूत्र पढ़ा जाता है, इसलिये इसको 'सुगुरु-वन्दन' कहते हैं। इसके द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह उत्कृष्ट द्वादशावर्त्त-वन्दन है। खमासमण-सूत्र-द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह मध्यम—थोभ-वन्दन कहा जाता है। थोभ-वन्दन का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११२७ में है। सिर्फ मस्तक नमा कर जो वन्दन किया जाता है वह जघन्य फिट्टा-वन्दन है। ये तीनों वन्दन गुरु-वन्दन-भाष्य में निर्दिष्ट है।

सुगुरु-वन्दन के समय २५ आवश्यक (विधान) रखने चाहिएँ, जिनके न रखने से वन्दन निष्फल हो जाता है, वे इस प्रकार हैं—

'इच्छामि खमासमणो' से 'अणुजाणह' तक बोलने में दोनों वार आधा अंग नमाना—यह दो अवनत, जनमते समय बालक की या दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी अर्थात् कपाल पर दो हाथ रख कर नम्र मुद्रा करना—यह यथाजात, 'अहोकायं', 'कायसंफासं', 'खमणिज्जो भे किलामो', 'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? इस क्रम से छह छह आवर्त्त करने से दोनों वन्दन में बारह आवर्त्त (गुरु के पैर पर हाथ रख कर फिर सिर से लगाना यह आवर्त्त कहलाता है) अवग्रह में प्रविष्ट होने के बाद खामणा करने के समय शिष्य तथा आचार्य के मिलाकर दो शिरोनमन, इस प्रकार दूसरे वन्दन में दो शिरोनमन, कुल चार शिरोनमन, वन्दन करने के समय मन, वचन और शरीर को अशुभ व्यापार से रोकने रूप तीन गुप्तियाँ 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' कह कर गुरु से आज्ञा पाने के बाद अवग्रह में दोनों वार प्रवेश करना यह दो प्रवेश, पहला वन्दन कर के 'आवस्सिआए' यह कह कर अवग्रह से बाहर निकल जाना यह निष्क्रमण। कुल २५। आवश्यक निर्युक्ति गा० १२०२—४।

† इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या। अनुजानीत मे मितावग्रहं। निषिध्य (नैषेधिक्या प्रविश्य) अधः कायं कायसंस्पर्शं (करोमि)। क्षमणीयः भवद्भिः क्लमः। अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः ? यात्रा भवताम् ? यापनीयं च भवताम् ?

निसीहिआए । अणुजाणह मे मिउग्गहं । निसीहि अहोकायं कायसंफासं । खमणिज्जो भे किलामो । अप्प-किलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे? जवणिज्जं च भे?

* खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं । आवस्सिआए पडिक्कमामि । खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मण-दुक्कडाए वय-दुक्कडाए काय-दुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्व-कालियाए सव्व-मिच्छोवयाराए सव्व-धम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

अन्वयार्थ—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण! 'निसीहिआए' शरीर को पाप-क्रिया से हटा कर [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना 'इच्छामि' चाहता हूँ । [इस लिए] 'मे' मुझको 'मिउग्गहं' परिमित अवग्रह की 'अणुजाणह' आज्ञा दीजिये । 'निसीहि' पाप-क्रिया को रोक कर के 'अहोकायं' [आपके] चरण का 'कायसंफासं' अपनी काया से—उत्तमाङ्ग से स्पर्श [करता हूँ] । [मेरे

* क्षमयामि क्षमाश्रमण! दैवसिकं व्यतिक्रमम् । आवश्यक्याः प्रतिक्रामामि। क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किंचिन्मिथ्याभूतया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया (क्रोधयुक्तया) मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणाया आशातनया यो मया अतिचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

छूने से] 'भे' आपको 'किलामो' बाधा हुई [वह] 'खमणिज्जो' क्षमा के योग्य है । 'भे' आपने 'अप्पकिलंताण' अल्प ग्लान अवस्था में रह कर 'दिवसो' दिवस 'बहुसुभेण' बहुत आराम से 'वइक्कतो' बिता या ? 'भे' आपकी 'जत्ता' समय रूप यात्रा [निर्बाध है ?] 'च' और 'भे' आपका शरीर 'जवणिज्जं' मन तथा इन्द्रियों की पीडा से रहित है ?

'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'देवसिअं' दिवस सम्बन्धी 'वइक्कम' अपराध को 'खामेमि' खमाता हूँ [और] 'आवस्सिआए' आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ । 'खमासमणाणं' आप क्षमाश्रमण की 'देवसिआए' दिवस-सम्बन्धिनी 'तित्तीसन्नयराए' तेतीस में से किसी भी 'आसायणाए' आशातना के द्वारा [और] 'जं किंचि मिच्छाए' जिस किसी मिथ्या-भाव से की हुई 'मणदुक्कडाए' दुष्ट मन से की हुई 'वयदुक्कडाए' दुर्वचन से की हुई 'कायदुक्कडाए' शरीर की दुष्ट चेष्टा से की हुई 'कोहाए' क्रोध से की हुई 'माणाए' मान से की हुई 'मायाए' माया से की हुई 'लोभाए' लोभ से की हुई 'सव्वकालिआए' सर्वकाल सम्बन्धिनी 'सव्वमिच्छोवयाराए' सब प्रकार के मिथ्या उपचारों से पूर्ण 'सव्व-धम्माइक्कमणाए' सब प्रकार के धर्म का उल्लङ्घन करने वाली 'आसाय-णाए' आशातना के द्वारा 'मे' मैंने 'जो' 'अइयारो' अतिचार 'कओ' किया, 'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'तस्स' उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ, 'निंदामि' उसकी निन्दा करता हूँ, 'गरिहामि' विशेष निन्दा करता हूँ [और अब] 'अप्पाणं' आत्मा को 'वोसिरामि' पाप व्यापारों से हटा लेता हूँ ।

भावार्थ—हे क्षमाश्रमण गुरो ! मै शरीर को पाप प्रवृत्ति से अलग कर यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ । (इस प्रकार शिष्य के पूछने पर यदि गुरु अस्वस्थ हों तो 'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं जिसका मतलब संक्षिप्त रूप से वन्दन करने की आज्ञा समझी जाती है । जब गुरु की ऐसी इच्छा मालूम दे तब तो शिष्य संक्षेप से ही

वन्दन कर लेता है। परन्तु यदि गुरु स्वस्थ हों तो 'छंदसा' शब्द कहते हैं जिसका मतलब इच्छानुसार वन्दन करने की संमति देना माना जाता है। तब शिष्य प्रार्थना करता है कि मुझको अवग्रह में—आप के चारों ओर शरीर-प्रमाण क्षेत्र में—प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। ('अणुजाणामि' कह कर गुरु आज्ञा देवें तब शिष्य 'निसीहि' कहता है अर्थात् वह कहता है कि) मैं 'अन्य' व्यापार को छोड़ अवग्रह में प्रवेश कर विधिपूर्वक बैठता हूं। (फिर वह गुरु से कहता है कि आप मुझको आज्ञा दीजिये कि) मैं अपने मस्तक से आपके चरण का स्पर्श करूं। स्पर्श करने में मुझ से आपको कुछ बाधा हुई उसे क्षमा कीजिये। क्या आपने अल्प-ग्लान अवस्था में रह कर अपना दिन बहुत कुशल-पूर्वक व्यतीत किया ? (उक्त प्रश्न का उत्तर गुरु 'तथा' कह कर देते हैं; फिर शिष्य पूछता है कि) आप की तप-संयम यात्रा निर्बाध है ? (उत्तर में गुरु 'तुब्भंपि वट्टइ ?' कह कर शिष्य से उसकी संयम-यात्रा की निर्विघ्नता का प्रश्न करते हैं। शिष्य फिर गुरु से पूछता है कि) क्या आप का शरीर सब विकारों से रहित और शक्तिशाली है ? (उत्तर में गुरु 'एवं' कहते हैं)

(अब यहां से आगे शिष्य अपने किये हुए अपराध की क्षमा माँग कर अतिचार का प्रतिक्रमण करता हुआ कहता है कि)हे क्षमाश्रमण गुरो! मुझ से दिन में या रात में आपका जो कुछ भी अपराध हुआ हो उसकी म क्षमा चाहता हूँ। (इसके बाद गुरु भी शिष्य से अपने प्रमाद-जन्य अपराध की क्षमा माँगते हैं। फिर शिष्य प्रणाम कर अवग्रह से बाहर निकल आता है, बाहर निकलता हुआ यथास्थित भाव को क्रिया-द्वारा प्रकाशित करता हुआ वह 'आवस्सिआए' इत्यादि पाठ कहता है।) आवश्यक क्रिया करने में मुझ से जो अयोग्य विधान हुआ हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। (सामान्यरूप से इतना कह कर फिर विशेष रूप से प्रतिक्रमण के लिये शिष्य कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो ! आप की तेतीस में से किसी भी दैवसिक या रात्रिक

आशातना* के द्वारा मैंने जो अतिचार-सेवन किया उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, तथा किसी मिथ्याभाव से होने वाली, द्वेष जन्य, दुर्भाषण जन्य, लोभ जन्य, सर्व काल-सम्बन्धिनी, सब प्रकार के मिथ्या व्यवहारों से होने वाली और सब प्रकार के धर्म के अतिक्रमण से होने वाली आशातना के द्वारा मैंने अतिचार सेवन किया उसका भी प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् फिर से ऐसा न करने का निश्चय करता हूँ, उस दूषण की निन्दा करता हूँ, आप गुरु के समीप उसकी गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूँ ॥ २८ ॥

[इस सूत्रको दुबारा पढते समय 'आवस्सिआए' पद नहीं कहना। रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राई वइक्कता', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो', चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउम्मासी वइक्कता' और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'सवच्छरो वइक्कंतो' ऐसा पाठ पढना।]

२९—देवसिअं आलोउं सूत्र ।

†इच्छाकारेण संदिसह भगवन् । देवसिअं आलोउं । इच्छं । आलोएमि जो मे० ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दिवस सम्बधी आलोचना करनेके लिये आप मुझको इच्छा पूर्वक आज्ञा दीजिये । (आज्ञा मिलने पर) 'इच्छं' उसको मैं स्वीकार करता हूँ । बाद 'जो मे' इत्यादि पाठ का अर्थ पूर्ववत् जानना ।

३०—आलोयण ।

आगुणा चार प्रहर दिवस में मैंने जिन जीवों की

*—ये आशातनाएँ आवश्यक सूत्र पत्र ७२७ और समवायांग सूत्र पत्र ५८ में वर्णित हैं ।

† इच्छाकारेण सन्दिशथ भगवन् ! दैवसिकं आलोचयितुम् । इच्छामि । आलोचयामि यो मया० ।

विराधना की होय। सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउकाय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण-वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय वाले, दो लाख तीन इन्द्रिय वाले, दो लाख चार इन्द्रिय वाले, चार लाख देवता, चार लाख नारक, चार लाख तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य । कुल चौरासी लाख *जीवयोनियों में से किसी जीव का मैंने हनन किया, कराया या करते हुए का अनुमोदन किया वह सब मन, वचन, काया करके मिच्छा मि दुक्कडं ॥३०॥

३१—अठारह पापस्थानक आलोउं ।

पहला प्राणातिपात, दूसरा मृषावाद, तीसरा अदत्तादान, चौथा मैथुन, पांचवाँ परिग्रह, छठा क्रोध, सातवाँ मान, आठवाँ माया, नववाँ लोभ, दशवाँ राग, ग्यारहवाँ द्वेष, बारहवाँ कलह, तेरहवाँ अभ्याख्यान, चौदहवाँ पैशुन्य, पन्द्रहवाँ रति-अरति, सोलहवाँ पर-परिवाद, सत्रहवाँ माया-मृषावाद, अठारहवाँ मिथ्यात्व-शल्य; इन पापस्थानों में से किसीका मैंने सेवन किया, कराया या करते हुए का अनुमोदन

* योनि उत्पत्ति-स्थान को कहते हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की समानता होने से अनेक उत्पत्ति-स्थानों को भी एक योनि कहते हैं।

किया, वह सब मिच्छा मि दुक्कडं ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पाटो, पोथी, ठवणी, कवली, नवकरवाली, देव-गुरु-धर्म की आशातना की हो ; पन्नरह कर्मादानों की आसेवना की हो ; राज-कथा, देश-कथा, स्त्री-कथा, भक्त-कथा की हो; और जो कोई पर-निंदादि पाप किया हो, कराया हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो, सो सब मन, वचन, काया करके, रात्रि-अतिचार आलोयण करके, पडिक्कमण में आलोउं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥३१॥

३२—वंदित्तु—श्रावक का प्रतिक्रमण सूत्र ।

* वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावगधम्माइआरस्स† ॥१॥

---

* वन्दित्वा सर्वसिद्धान्, धर्माचार्यांश्च सर्वसाधूंश्च ।
इच्छामि प्रतिक्रमितुं, श्रावकधर्मातिचारस्य ॥ १ ॥

† गुण प्रकट होने पर उसमें आने वाली मलिनता को अतिचार कहते हैं। अतिचार और भङ्ग में यही अन्तर है कि प्रकट हुए गुण के लोप को—सर्वथा तिरोभाव को—भङ्ग कहते हैं और उसके अल्प तिरोभाव को अतिचार कहते हैं। शास्त्र में भङ्ग को 'सर्वविराधना' और अतिचार को 'देश-विराधना' कहा है। अतिचार का कारण कषाय का उदय है। कषाय तीव्र-मन्दादि अनेक प्रकार का होता है। तीव्र उदय के समय गुण प्रकट ही नहीं होता, मन्द उदय के समय गुण प्रकट तो होता है किन्तु बीच २ में कभी २ उसमें मालिन्य हो जाता है। इसीसे शास्त्र में कापायिक शक्ति को विचित्र कहा है। उदाहरणार्थ—अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय सम्यक्त्व को प्रकट होने से रोकता है और कभी उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश विरति को प्रकट होने से रोकता भी है और कदा-

अन्वयार्थ—'सव्वसिद्धे' सब सिद्धों को 'अ' और 'धम्मायरिए' धर्माचार्यों को 'अ' और 'सव्वसाहू' सब साधुओं को 'वंदित्तु' वन्दन करके 'सावगधम्माइआरस्स' श्रावक-धर्म-सम्बन्धी अतिचार से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना 'इच्छामि' चाहता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—सब सिद्धों को, धर्माचार्यों को और साधुओं को वन्दन करके श्रावक-धर्म-सबन्धी अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ॥ १ ॥

[सामान्य व्रतातिचार की आलोचना]

*** जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।**
सुहुमो अ बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान के विषय में 'दंसण' दर्शन के विषय में 'चरित्ते' चारित्र के विषय में 'तह' तथा 'अ' तप, वीर्य आदि के विषय में 'सुहुमो' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरो' बादर—स्थूल 'जो' जो 'वयाइआरो' व्रतातिचार 'मे' मुझको [लगा] 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ २ ॥

चित् उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है । [पञ्चाशक टीका, पृ० ६] । इस तरह विचारने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्त गुण की मलिनता या उसके कारणभूत कषायोदय को ही अतिचार कहना चाहिए । तथापि शङ्का, काङ्क्षा आदि या वध-बन्ध आदि बाह्य प्रवृत्तिओं को अतिचार कहा जाता है, सो परम्परा से; क्योंकि ऐसी प्रवृत्तिओं का कारण, कषाय का उदय ही है । तथाविध कषाय का उदय होने ही से शङ्का आदि में प्रवृत्ति या वध, बन्ध आदि कार्य में प्रवृत्ति होती देखी जाती है ।

* यो मे व्रतातिचारो, ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च ।
सूक्ष्मो वा बादरो वा, तं निन्दामि तं च गर्हे ॥ २ ॥

भावार्थ—इस गाथा में, समुच्चय रूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि के अतिचारों की, जिनका वर्णन आगे किया गया है, आलोचना की गई है ॥ २ ॥

† दुविहे परिग्गहम्मि, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥३॥

अन्वयार्थ—'दुविहे' दो तरह के 'परिग्गहम्मि' परिग्रह के लिये 'सावज्जे' पाप वाले 'बहुविहे' अनेक प्रकार के 'आरंभे' आरम्भों को 'कारावणे' कराने में 'अ' और 'करणे' करने में [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब 'देसिअं' दिवस-सम्बन्धी [दूषण] से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—सचित्त [सजीव वस्तु] का संग्रह और अचित्त [अजीव वस्तु] का संग्रह ऐसे जो दो प्रकार के परिग्रह हैं, उनके निमित्त सावद्य—आरम्भ वाली—प्रवृत्ति की गई हो, इस गाथा में उसकी समुच्चयरूप से आलोचना है ॥ ३ ॥

* जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'अप्पसत्थेहिं' अप्रशस्त 'चउहिं' चार 'कसाएहिं' कषायों से 'व' अर्थात् 'रागेण' राग से 'व' या 'दोसेण' द्वेष से 'इंदिएहिं' इन्द्रियों के द्वारा 'जं' जो [पाप] 'बद्ध' बाँधा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ, 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ स्वरूप जो चार अप्र

---

† द्विविधे परिग्रहे, सावद्ये बहुविधे चाऽऽरम्भे।
कारणे च करणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ३ ॥

* यद्बद्धमिन्द्रियैः, चतुर्भिः कषायैरप्रशस्तैः।
रागेण वा द्वेषेण वा, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥ ४ ॥

त्त (तीव्र) कषाय हैं, उनके अर्थात् राग और द्वेष के वश होकर थवा इन्द्रियों के विकारों के वश होकर जो पाप का बन्ध किया ाता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ४ ॥

† आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे [य] अणाभोगे।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥५॥

अन्वयार्थ—'अणाभोगे' अनुपयोग से 'अभिओगे' दबाव से 'अ' ौर 'निओगे' नियोग से 'आगमणे' आने में 'निग्गमणे' जाने में 'ठाणे' ठहरने में 'चंकमणे' घूमने में जो 'देसिअं' दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उपयोग न रहने के कारण, या राजा आदि किसी ड़े पुरुष के दबाव के कारण, या नौकरी आदि की पराधीनता के कारण मिथ्यात्व-पोषक स्थान में आने-जाने से अथवा उसमें ठहरने-घूमने से सम्यग्दर्शन में जो कोई दूषण लगता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ५ ॥

[सम्यक्त्व के अतिचारों की आलोचना]

‡ संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥६॥ ⊛

---

† आगमने निर्गमने, स्थाने चङ्क्रमणेऽनाभोगे ।
अभियोगे च नियोगे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ५ ॥

‡ शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा, प्रशंसा तथा संस्तवः कुलिंगिषु ।
सम्यक्त्वस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ६ ॥

⊛ सम्यक्त्व तथा बारह व्रत आदि के जो अतिचार इस जगह गाथाओं में हैं वे ही आवश्यक, उपासकदशा और तत्त्वार्थ सूत्र में भी सूत्र-बद्ध हैं। उनमें से सिर्फ आवश्यक के ही पाठ, जानने के लिये, यहां यथास्थान लिख दिये जाते हैं:—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे ।

[आवश्यक सूत्र, पत्र ८११]

अन्वयार्थ—'संका' शङ्का 'कख' काङ्क्षा 'विगिच्छा' फल में सन्देह 'पसंस' प्रशंसा 'तह' तथा 'कुलिंगीसु' कुलिङ्गियों का 'संथवो' परिचय, [इन] 'सम्मत्तस्स' सम्यक्त्व सम्बन्धी 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअं' दैवसिक [जो पाप लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व में मलिनता करने वाले पाँच अतिचार हैं जो त्यागने योग्य हैं, उनकी इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं —

(१) वीतराग के वचन पर निर्मूल शङ्का करना शङ्कातिचार †, (२) अहितकारी मत को चाहना काङ्क्षातिचार, (३) धर्म का फल मिलेगा या नहीं, ऐसा सन्देह करना या निस्पृह त्यागी महात्माओं के मलिन वस्त्र-पात्र आदि को देख उन पर घृणा करना विचिकित्सातिचार, (४) मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना जिससे कि मिथ्याभाव की पुष्टि हो कुलिङ्गिप्रशंसातिचार, और (५) बनावटी भेस पहन कर धर्म के बहाने लोगों को धोखा देने वाले पाखण्डियों का परिचय करना कुलिङ्गिसंस्तवातिचार ॥ ६ ॥

[आरम्भ जन्य दोषों की आलोचना]

* छक्कायसमारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥७॥

अन्वयार्थ—'अत्तट्ठा' अपने लिये 'परट्ठा' पर के लिये 'य' और 'उभयट्ठा' दोनों के लिये 'पयणे' पकाने में 'अ' तथा 'पयावणे' पक-

† शङ्का आदि से तत्त्व-रुचि चलित हो जाती है, इसलिये ये सम्यक्त्व के अतिचार कहे जाते हैं।

* षट्कायसमारम्भे, पचने च पाचने च ये दोषाः।
आत्मार्थं च परार्थं, उभयार्थं चैव तन्निन्दामि ॥ ७ ॥

वाने में 'छक्कायसमारंभे' छह काय के आरम्भ से 'जं' जो 'दोसा' दोष [लगे] 'तं' उनकी 'चेव' अवश्य 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपने लिये या पर के लिये या दोनों के लिये कुछ पकाने, पकवाने में छह काय की विराधना होने से जो दोष लगाते हैं उनकी इस गाथा में आलोचना है ॥ ७ ॥

[सामान्यरूप से बारह व्रत के अतिचारों की आलोचना]

†पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥८॥

अन्वयार्थ—'पंचण्हं' पाँच 'अणुव्वयाणं' अणुव्रतों के 'तिण्हं' तीन 'गुणव्वयाणं' गुणव्रतों के 'च' और 'चउण्हं' चार 'सिक्खाणं' शिक्षाव्रतों के 'अइआरे' अतिचारों से [जो कुछ] 'देसिअं' दैनिक दूषण लगा 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह§ व्रतों के तथा तप, संलेखना आदि के अतिचारों को सेवन करने से जो दूषण लगता है उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥८॥

---

† पञ्चानामणुव्रतानां, गुणव्रतानां च त्रयाणामतिचारान् ।
शिक्षाणां च चतुर्णां, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ८ ॥

§ श्रावक के पहले पाँच व्रत महाव्रत की अपेक्षा छोटे होने के कारण 'अणुव्रत' कहे जाते हैं ; ये 'देश मूलगुणरूप' हैं । अणुव्रतों के लिये गुणकारक अर्थात् पुष्टिकारक होने के कारण छठे आदि तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं । और शिक्षा की तरह बार बार सेवन करने योग्य होने के कारण नववें आदि चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहे जाते हैं । गुणव्रत और शिक्षाव्रत 'देश-उत्तरगुणरूप' हैं। पहले आठ व्रत यावत्कथित हैं—अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाते हैं उतने काल तक इनका पालन निरन्तर किया जाता है । पिछले चार इत्वरिक हैं—अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाँय उतने काल तक उनका पालन निरन्तर नहीं किया जाता, सामायिक और देशावकाशिक ये दो

[पहले अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

⊛ पढमे अणुव्वयम्मि, थूलगपाणाइवायविरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥९॥
वह बंध छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।
+पढमवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥१०॥†

अन्वयार्थ—'इत्थ' इस 'थूलग' स्थूल 'पाणाइवायविरईओ' प्राणातिपात-विरतिरूप 'पढमे' पहले 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेण' प्रमाद के प्रसङ्ग से 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअ' आचरण किया हो; [जैसे] 'वह' वध ताडना, 'बंध' बन्धन, 'छविच्छेए' अङ्गच्छेद 'अइभारे' बहुत बोझा लादना 'भत्तपाणवुच्छेए' खाने पीने में

प्रतिदिन लिये जाते हैं और पौषध तथा अतिथिसंविभाग ये दो व्रत अष्टमी चतुर्दशी पर्व आदि विशेष दिनों में लिये जाते हैं। [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८३८]

⊛ प्रथमेऽणुव्रते, स्थूलकप्राणातिपातविरतित।
आचरितमप्रशस्तेऽत्र प्रमादप्रसंगेन ॥ ९ ॥
वधो बन्धश्छविच्छेद, अतिभारो भक्तपानव्यवच्छेद।
प्रथमव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१०॥

+ पहले व्रत में यद्यपि शब्दत प्राणों के अतिपात—विनाश का ही प्रत्याख्यान किया जाता है, तथापि विनाश के कारणभूत वध आदि क्रियाओं का त्याग भी उस व्रत में गर्भित है। वध, बन्ध आदि करने से प्राणी को केवल कष्ट पहुँचता है, प्राण-नाश नहीं होता। इस लिये बाह्य दृष्टि से देखने पर उसमें हिंसा नहीं है, पर कषाय-पूर्वक निर्दय व्यवहार किये जाने के कारण अन्तर्दृष्टि से देखने पर उसमें हिंसा का अंश है। इस प्रकार वध, बन्ध आदि से प्रथम व्रत का मात्र देशत भंग होता है। इस कारण वध, बन्ध आदि पहले व्रत के अतिचार हैं [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १०]।

† थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासगाणं इमे पंच अइयारा जाणि-यव्वा, तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८१८]

रुकावट डालना; [इन] पढमवयस्स' पहले व्रत के 'अइआरे' अति-चारों के कारण जो कुछ 'देसिअं' दिन में [दूषण लगा हो उस] 'सव्वं' सबसे 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ९ ॥ १० ॥

भावार्थ—जीव सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के हैं। उन सब की हिंसा से गृहस्थ श्रावक निवृत्त नहीं हो सकता। उसको अपने धन्धे में सूक्ष्म (स्थावर) जीवों की हिंसा लग ही जाती है; इसलिये वह स्थूल (त्रस) जीवों का पच्चक्खाण करता है। त्रस में भी जो अपराधी हों, जैसे चोर, हत्यारे आदि-उनकी हिंसा का पच्चक्खाण गृहस्थ नहीं कर सकता है; इस कारण वह निरपराध त्रस जीवों की ही हिंसा का पच्चक्खाण करता है। निरपराध त्रस जीवों की हिंसा भी सङ्कल्प और आरम्भ दो तरह से होती है। इसमें आरम्भ-जन्य हिंसा, जो खेती व्या-पार आदि धन्धे में हो जाती है उससे गृहस्थ बच नहीं सकता, इस कारण वह सङ्कल्प हिंसा का ही अर्थात् हड्डी, दाँत, चमड़े या मांस के लिये अमुक प्राणी को मारना चाहिये, ऐसे इरादे से हिंसा करने का पच्चक्खाण करता है। सङ्कल्प-पूर्वक की जाने वाली हिंसा भी सापेक्ष निरपेक्षरूप से दो तरह की है। गृहस्थ को बैल, घोड़े आदि को चलाते समय या लड़के आदि को पढ़ाते समय कुछ हिंसा लग ही जाती है जो सापेक्ष है; इसलिये वह निरपेक्ष अर्थात् जिसकी कोई भी जरूरत नहीं है ऐसी निरर्थक हिंसा का ही पच्चक्खाण करता है। यही स्थूल प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम अणुव्रत है।

इस व्रत में जो क्रियाएँ अतिचाररूप होने से त्यागने योग्य हैं उनकी इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणियों को चाबुक, लकड़ी आदि से पीटना, (२) उनको रस्सी आदि से बाँधना, (३) उन के नाक, कान आदि अङ्गों को छेदना, (४) उन पर परिमाण से अधिक बोझा लादना और (५) उनके खाने पीने में रुकावट पहुँचाना ॥ ९ ॥ १० ॥

[दूसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*बीए अणुव्वयम्मि, परिथूलगअलियवयणविरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥११॥
× सहसा-रहस्सदारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ।
बीयवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१२॥†

अन्वयार्थ—'परिथूलगअलियवयणविरईओ' स्थूल असत्य वचन की विरति रूप 'इत्थ' इस 'बीए' दूसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेण' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअ' आचरण किया हो [जैसे]—'सहसा' बिना विचार किये किसी पर दोष लगाना, 'रहस्स' एकान्त में बातचीत करने वाले पर दोष लगाना, 'दारे' स्त्री की गुप्त बात को प्रकट करना, 'मोसुवएसे' झूठा उपदेश करना 'अ' और 'कूडलेहे' बनावटी लेख लिखना, 'बीयवयस्स' दूसरे व्रत के 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअ' दिन में (जो दूषण लगा) 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ११ ॥ १२ ॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूल दो तरह का मृषावाद है। हँसी दिल्लगी में झूठ बोलना सूक्ष्म मृषावाद है, इसका त्याग करना गृहस्थ के लिये कठिन है। अत वह स्थूल मृषावाद का अर्थात् क्रोध या लालच वश सुशील कन्या को दु शील और दु शील कन्या को सुशील कहना, अच्छे पशु को बुरा और बुरे को अच्छा बतलाना, दूसरे की

---

* द्वितीयेऽणुव्रते, परिस्थूलकालीकविरतित ।
आचरितमप्रशस्ते,ऽत्र प्रमादप्रसङ्गेन ॥ ११ ॥

+ सहसा-रहस्यदारे, मृषोपदेशे च कूटलेखे च ।
द्वितीयव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिक सर्वम् ॥१२॥

† थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, त जहा—सहस्स ब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे ।
[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२०]

जायदाद को अपनी और अपनी जायदाद को दूसरे की साबित करना, किसी की रक्खी हुई धरोहर को दबा लेना या झूठी गवाही देना इत्यादि प्रकार के झूठ का त्याग करता है। यही दूसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो बातें अतिचार रूप हैं उनको दिखा कर इन दो गाथाओं में उन के दोषों की आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) विना विचार किये ही किसी के सिर दोष मढ़ना, (२) एकान्त में बातचीत करने वाले पर दोषारोपण करना, (३) स्त्री की गुप्त व मार्मिक बातों को प्रकट करना, (४) असत्य उपदेश देना और (५) झूठे लेख (दस्तावेज) लिखना ॥ ११ ॥ १२ ॥

[तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* तइए अणुव्वयम्मि, थूलगपरदव्वहरणविरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ १३ ॥
तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे अ ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१४॥†

अन्वयार्थ—'थूलगपरदव्वहरणविरईओ' स्थूल पर-द्रव्यहरण विरति रूप 'इत्थ' इस 'तइए' तीसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश हो कर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया ; [जैसे] 'तेनाहडप्पओगे' चोर की लाई हुई वस्तु का प्रयोग करना—उसे खरीदना, 'तप्पडिरूवे' असली वस्तु दिखा कर

* तृतीयेऽणुव्रते, स्थूलकपरद्रव्यहरणविरतितः ।
आचरितमप्रशस्ते, ऽत्र प्रमादप्रसंगेन ॥ १३ ॥
स्तेनाहृतप्रयोगे, तत्प्रतिरूपे विरुद्धगमने च ।
कूटतुलाकूटमाने प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १४ ॥

† थूलादत्तादाणवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तं जहा—तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ।
[आवश्यक सूत्र, पृ ८२२]

नकली देना, 'विरुद्धगमणे' राज्य-विरुद्ध प्रवृत्ति करना, 'कूडतुल' झूठी तराजू रखना, 'अ' और 'कूडमाणे' छोटा बडा नाप रखना, इससे लगे हुए 'सव्व' सब 'देसिअं' दिवस-सम्बन्धी दोष से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ १३ ॥ १४ ॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूलरूप से अदत्तादान दो प्रकार का है। मालिक की संमति के बिना भी जिन चीजों को लेने पर लेने वाला चोर नहीं समझा जाता, ऐसी ढेला, तृण आदि मामूली चीजों को, उनके स्वामी की अनुज्ञा के लिये बिना, लेना, सूक्ष्म अदत्तादान है। इसका त्याग गृहस्थ के लिये कठिन है। इसलिये वह स्थूल अदत्तादान का अर्थात् जिन्हें मालिक की आज्ञा के बिना लेने वाला चोर कहलाता है ऐसे पदार्थों को उनके मालिक की आज्ञा के बिना लेने का त्याग करता है, यह तीसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो अतिचार लगते हैं उनके दोषों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। ये अतिचार ये हैं—

(१) चोरी का माल खरीद कर चोर को सहायता पहुँचाना, (२) बढिया नमूना दिखा कर उसके बदले घटिया चीज देना या मिलावट कर के देना, (३) चुंगी आदि महसूल बिना दिये किसी चीज को छिपा कर लाना, ले जाना या मनाही किये जाने पर भी दूसरे देश में जाकर राज्य-विरुद्ध हलचल करना, (४) तराजू, बाँट आदि सही सही न रख कर उनसे कम देना, ज्यादा लेना, (५) छोटे बडे नाप रखकर न्यूनाधिक लेना देना ॥ १३ ॥ १४ ॥

[चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* चउत्थे अणुव्वयम्मि, निच्चं परदारगमणविर-

* चतुर्थेऽणुव्रते, नित्यं परदारगमनविरतितः ।
आचरितमप्रशस्तेऽत्र प्रमादप्रसङ्गेन ॥ १५ ॥
अपरिगृहीतेत्वरानङ्गविवाहतीव्रानुरागे ।
चतुर्थव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १६ ॥

ईओ। आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं॥१५॥
अपरिग्गहिआ इत्तर, अणंगवीवाहतिव्वअणुरागे ।
चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१६॥ †

अन्वयार्थ—'परदारगमणविरईओ' *परस्त्री-गमन-विरतिरूप 'इत्थ' इस 'चउत्थे' चौथे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद-वश हो कर 'निच्चं' नित्य 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया। जैसे:—'अपरिग्गहिआ' नहीं व्याही हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, 'इत्तर' किसी की थोड़े वक्त तक रक्खी हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, 'अणंग' काम-क्रीडा 'वीवाह' विवाह-सम्बन्ध, 'तिव्वअणुरागे' काम-भोग की प्रबल अभिलाषा, [इन] 'चउत्थवयस्स' चौथे व्रत के 'अइआरे' अतिचारों से [लगे हुए] 'देसिअं' दिवस-सम्बन्धी 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मैथुन के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। इन्द्रियों का जो अल्प विकार है वह सूक्ष्म मैथुन है और मन, वचन तथा शरीर से काम-भोग का सेवन करना स्थूल मैथुन है। गृहस्थ के लिये स्थूल मैथुन के त्याग का अर्थात् सिर्फ अपनी स्त्री में संतोष रखने का या दूसरे की व्याही हुई अथवा रक्खी हुई ऐसी परस्त्रियों को त्यागने का विधान है। यही चौथा अणुव्रत है। इस व्रत में लगने वाले अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे + अतिचार ये हैं:—

† सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तं जहा—अपरिग्गहिआगमणे, इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, परवीवाहकरणे, कामभोगतिव्वाभिलासे। [आवश्यक सूत्र पत्र ८२३]

* यह सूत्रार्थ पुरुष को लक्ष्य में रख कर है। स्त्रियों के लिये इससे उलटा समझना चाहिये। जैसे;—पर-पुरुष-गमन-विरतिरूप आदि।

+—चतुर्थ व्रत के धारण करने वाले पुरुष तीन प्रकार के होते हैं;—(१)

(१) कुआँरी कन्या या वेश्या के साथ सम्बन्ध जोडना, (२) जिसको थोड़े वक्त के लिये किसी ने रक्खा हो ऐसी वेश्या के साथ रमण करना, (३) सृष्टि के नियम-विरुद्ध काम-क्रीडा करना, (४) अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों का विवाह करना, कराना और (५) काम-भोग की प्रबल अभिलाषा करना ॥१५॥१६॥

[पाँचवें अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* इत्तो अणुव्वए पं,—चमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि। परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१७॥
धण-धन्न-खित्त वत्थू,-रूप्प-सुवन्ने अ कुविअपरिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥१८॥†

सर्वथा ब्रह्मचारी, (२) स्वदार-सतोषी, (३) परदार-त्यागी। पहले प्रकार के ब्रह्मचारी के लिये तो अपरिगृहीता-सेवन आदि उक्त पाँचों अतिचार हैं, परन्तु दूसरे तीसरे प्रकार के ब्रह्मचारी के विषय में मतभेद है। श्रीहरिभद्रसूरिजी ने आवश्यक सूत्र की टीका में चूर्णि के आधार पर यह लिखा है कि स्वदार-सतोषी को पाँचों अतिचार लगते हैं, किन्तु परदारत्यागी को पिछले तीन ही, पहले दो नहीं [आवश्यक टीका, पत्र ८२५]। दूसरा मत यह है कि स्वदार-सतोषी को पहला छोड़कर शेष चार अतिचार। तीसरा मत यह है कि परदार-त्यागी को पाँच अतिचार लगते हैं, पर स्वदार सतोषी को पिछले तीन अतिचार, पहले दो नहीं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १४-१५]। स्त्री के लिये पाँचों अतिचार बिना मत-भेद के माने गये हैं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १५]।

* इतोऽणुव्रते पञ्चमे, आचरितमप्रशस्ते।
परिमाणपरिच्छेदे,-ऽत्र प्रमादप्रसंगेन ॥१७॥
धन-धान्य-क्षेत्र-वास्तु रूप्य-सुवर्णे च कुप्यपरिमाणे।
द्विपदे चतुष्पदे च, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१८॥

† इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच० धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्त-वत्थुपमाणाइक्कमे हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे। [आवश्यक सूत्र, पत्र ८२५]

अन्वयार्थ—'इत्तो' इसके बाद 'इत्थ' इस 'परिमाणपरिच्छेए' परिमाण करने रूप 'पञ्चमम्मि' पाँचवें 'अणुव्वए' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थम्मि' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण हुआ, जैसेः—'धण' धन, 'धन्न' धान्य-अनाज 'खित्त' खेत, 'वत्थू' घर-दूकान आदि, 'रूप्प' चाँदी, 'सुवन्ने' सोना 'कुविअ' कुप्य—ताँबा आदि धातुएँ, 'दुपए' दो पैर वाले—दास, दासी, नौकर, चाकर आदि 'चउप्पयम्मि' गाय, भैंस आदि चौपाये, [इन सब के] 'परिमाणे' परिमाण के विषय में 'देसिअं' दिवस-सम्बन्धी लगे हुए 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१७॥१८॥

भावार्थ—परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अर्थात् किसी चीज पर थोड़ी भी मूर्च्छा न रखना, यह इच्छा का पूर्ण निरोध है, जो गृहस्थ के लिये असंभव है। इस लिये गृहस्थ, संग्रह की इच्छा का परिमाण कर लेता है कि मैं अमुक चीज इतने परिमाण में ही रक्खूँगा, इससे अधिक नहीं; यह पाँचवाँ अणुव्रत है। इसके अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) जितना धन, धान्य रखने का नियम किया हो उससे अधिक रखना, (२) जितने घर-खेत रखने की प्रतिज्ञा की हो उससे ज्यादः रखना, (३) जितने परिमाण में सोना-चाँदी रखने का नियम किया हो उससे अधिक रख कर नियम का उल्लङ्घन करना, (४) ताँबा आदि धातुओं को तथा शयन, आसन आदि को जितने परिमाण में रखनेका प्रण किया हो उससे ज्यादः रखना, और (५) द्विपद-चतुष्पद को नियमित परिमाण से अधिक संग्रह करके नियम का अतिक्रमण* करना ॥१७॥१८॥

---

* नियत किये हुए परिमाण का साक्षात् अतिक्रमण करना अतिचार नहीं, किन्तु भंग है। अतिचार का मतलब इस प्रकार है :—

[छठे व्रत के अतिचारों की आलोचना]

⊛ गमणस्स उ परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च ।

मजूर करने से धन-धान्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत परिमाण के उपरान्त धन-धान्य का लाभ देख कर किसी से यह कहना कि तुम इतना अपने पास रखो। मैं पीछे से—जब कि वृत की कालावधि पूर्ण हो जायगी—उसे ले लूँगा अथवा उस अधिक धन-धान्य को बाँध कर किसी के पास इस बुद्धि से रख देना कि पास की चीज कम होने पर ले लिया जायगा, अभी लेने में वृत का भंग होगा, यह धन-धान्यपरिमाणातिचार है।

मिला देने से क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त खेत या घर की प्राप्ति होने पर व्रत-भंग न हो इस बुद्धि से पहले के खेत की बाड़ तोड़ कर उसमें नया खेत मिला देना और संख्या कायम रखना अथवा पहले के घर की भित्ती गिरा कर उसमें नया घर मिला कर घर की संख्या कायम रखना, यह क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार है।

सौंपने से सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार लगता है। जैसे कुछ कालावधि के लिये सोना-चाँदी के परिमाण का अभिग्रह लेने के बाद बीच में अधिक प्राप्ति होने पर किसी को यह कह कर अधिक भाग सौंप देना कि मैं इसे इतने समय के बाद ले लूंगा, अभी मुझे अभिग्रह है, यह सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार है।

नई घड़ाई कराने से कुप्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त ताँबा, पीतल आदि का बरतन मिलने पर उसे लेने से व्रत-भंग होगा इस भय से दो बरतनों को भँगा कर एक बनवा लेना और संख्या को कायम रखना, यह कुप्यपरिमाणातिचार है।

गर्भ के सम्बन्ध से द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत कालावधि के भीतर प्रसव होने से संख्या बढ़ जायगी और व्रत-भंग होगा इस भय से द्विपद या चतुष्पदों को कुछ देर से गर्भ ग्रहण कराना जिससे कि व्रत की कालावधि में प्रसव होकर संख्या बढ़ने न पावे और कालावधि के बाद प्रसव होने से फायदा भी हाथ से न जाने पावे, यह द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार है। [धर्मसंग्रह, श्लोक ४८]

⊛ गमनस्य तु परिमाणे, दिनूर्ध्वमधश्च तिर्यक् च ।
वृद्धि स्मृत्यन्तर्धा, प्रथमे गुणव्रते निन्दामि ॥१६॥

वुड्ढि सइअंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥१६॥*

अन्वयार्थ—'उड्ढं' ऊर्ध्व 'अहे' अधो 'अ' और 'तिरिअं च' तिरछी [इन] 'दिसासु' दिशाओं में 'गमणस्स उ' गमन करने के 'परिमाणे' परिमाण की 'वुड्ढि' वृद्धि करना और 'सइअन्तरद्धा' स्मृति का लोप होना (ये अतिचाररूप हैं), 'पढमम्मि' पहले 'गुणव्वए' गुण-व्रत में (इनकी मैं) 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥१६॥

भावार्थ—साधु संयम वाले होते हैं। वे जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि की तरह कहीं भी जावें उनके लिये सब जगह समान है। पर गृहस्थ की बात दूसरी है, वह अपनी लोभ-वृत्ति को मर्यादित करने के लिये ऊर्ध्व दिशा में अर्थात् पर्वत आदि पर, अधो-दिशा में अर्थात् खानि आदि में और तिरछी-दिशा में अर्थात् पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं तथा ईशान, अग्नि आदि चार विदिशाओं में जाने का परिमाण नियत कर लेता है कि मैं अमुक-दिशा में इतने योजन तक गमन करूँगा, इससे अधिक नहीं। यह दिक्-परिमाण रूप प्रथम गुण-व्रत अर्थात् छठाँ व्रत है। इसमें लगने वाले अतिचारों की इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) ऊर्ध्व दिशा में जितनी दूर तक जाने का नियम किया हो उससे आगे जाना, (२) अधो-दिशा में जितनी दूर जाने का नियम हो उससे आगे जाना, (३) तिरछी दिशा में जाने के लिये जितना क्षेत्र निश्चित किया हो उससे दूर जाना, (४) एक तरफ के नियमित क्षेत्र-प्रमाण को घटा कर दूसरी तरफ उतना बढ़ा लेना और वहाँ तक चले जाना, जैसे पूर्व और पश्चिम में सौ सौ कोस से दूर न जाने का नियम

---

* दिसिवयस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिअदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा ।
[आवश्यक सूत्र, पत्र ८२७

करके आवश्यकता पड़ने पर पूर्व में नव्वे कोस की मर्यादा रखकर पश्चिम में एक सौ दस कोस तक चले जाना और (५) प्रत्येक दिशा में जाने के लिये जितना परिमाण निश्चित किया हो उसे भुला देना ॥१६॥

[सातवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंध-
मल्ले अ ।
उवभोगपरीभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२०॥
सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोलि दुप्पोलिअं च आहारे ।
तुच्छोसहिभक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥२१॥ †
इंगालीवणसाडी,—भाडीफोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दं,—तलक्खरसकेसविसविसयं॥२२॥
एवं खु जंतपिल्लण,—कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।

---

* मद्ये च मांसे च, पुष्पे च फले च गन्धमाल्ये च ।
उपभोगपरिभोगयोर्द्वितीये गुण-व्रते निन्दामि ॥२०॥
सचित्ते प्रतिबद्धेऽपक्व दुष्पक्व चाहारे ।
तुच्छौषधिभक्षणता, प्रतिक्रामामि दैवसिक सर्वम् ॥२१॥
अङ्गारवनशकटभाटकस्फोट सुवर्जयेत् कर्म ।
वाणिज्य चैव च दन्तलाक्षारसकेशविषविषयम् ॥२२॥
एव खलु यन्त्रपीलनकर्म निर्लाञ्छन च दवदानम् ।
सरोह्रदतडागशोष, असतीपोष च वर्जयेत् ॥२३॥

† भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा-सच्चित्ताहारे सच्चित्त-पडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहि-भक्खणया ।

[आव० सूत्र, पत्र ८२८]

सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥†

अन्वयार्थ—'बीयम्मि' दूसरे 'गुणव्वए' गुणव्रत में 'मज्जम्मि' मद्य—शराव 'मंसम्मि' मांस 'पुप्फे' फूल 'फले' फल 'अ' और 'गंधमल्ले' सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्पमालाओं के 'उवभोगपरिभोगे' उपभोग तथा परिभोग की 'निन्दे' निन्दा करता हूँ ॥२०॥

'सच्चित्ते' सचित्त वस्तु के 'पड़िवद्धे' सचित्त से मिली हुई वस्तु के 'अपोल' नहीं पकी हुई वस्तु के 'च' और 'दुप्पोलिअ' दुष्पक्व—आधी पकी हुई—वस्तु के 'आहारे' खाने से [तथा] 'तुच्छोसहिभक्खणया' तुच्छ वनस्पति के खाने से जो 'देसिअं' दिन में दूषण लगा 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२१॥

'इंगाली' अङ्गार-कर्म 'वण' वन-कर्म 'साडी' शकट-कर्म 'भाडी' भाटक-कर्म 'फोडी' स्फोटक-कर्म [इन पाँचों] 'कम्मं' कर्म को 'चेव' तथा 'दन्त' दाँत 'लक्ख' लाख 'रस' रस 'केस' बाल 'य' और 'विस-विसयं' जहर के 'वाणिज्ज' व्यापार को [श्रावक] 'सुवज्जए' छोड़ देवे ॥२२॥

'एवं' इस प्रकार 'जंतपिल्लणकम्मं' यन्त्र से पीसने का काम 'निल्लंछणं' अङ्गों को छेदने का काम 'दवदाण' आग लगाना, 'सरदह-तलायसोसं' सरोवर, झील तथा तालाव को सुखाने का काम 'च' और 'असईपोसं' असती-पोषण [इन सब को सुश्रावक] 'खु' अवश्य 'वज्जिज्जा' त्याग देवे ॥२३॥

भावार्थ—सातवाँ व्रत भोजन और कर्म दो तरह से होता है। भोजन में जो मद्य, मांस आदि बिलकुल त्यागने योग्य हैं उनका

† कम्मओ णं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, तंजहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे। दंतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे। जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईपोसणया।

[आव० सू० पत्र ८२६]

त्याग करके बाकी में से अन्न, जल आदि एक ही बार उपयोग मे आने वाली वस्तुओं का तथा वस्त्र, पात्र आदि बार बार उपयोग मे आने वाली वस्तुओं का परिमाण कर लेना। इसी तरह कर्म मे अङ्गार कर्म आदि अतिदोष वाले कर्मों का त्याग करके बाकी के कामों का परिमाण कर लेना, यह उपभोग परिभोग-परिमाणरूप दूसरा गुणव्रत अर्थात् सातवाँ व्रत है।

ऊपर की चार गाथाओं मे से पहली गाथा मे मद्य, मांस आदि वस्तुओं के सेवन मात्र की और पुष्प, फल, सुगन्धि द्रव्य आदि पदार्थो का परिमाण से ज्याद उपभोग-परिभोग करने की आलोचना की गई है। दूसरी गाथा मे सावद्य आहार का त्याग करने वाले को जो अतिचार लगते हैं उनकी आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं —

(१) सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग करके उसका सेवन करना या जो परिमाण नियत किया हो उससे अधिक लेना, (२) सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु का,—जैसे वृक्ष से लगे हुए गोंद तथा बीज सहित पके हुए फल का या सचित्त बीज वाले खजूर, आम आदि का आहार करना, (३) अपक्व आहार लेना, (४) दुष्पक्व—अधपका आहार लेना और (५)जिनमे खाने का भाग कम और फेंकने का अधिक हो ऐसी तुच्छ वनस्पतियों का आहार करना।

तीसरी और चौथी गाथा में पन्द्रह कर्मादान जो बहुत सावद्य होने के कारण श्रावक के लिये त्यागने योग्य हैं उनका वर्णन है। वे कर्मादान ये है —

(१) अङ्गारकर्म—कुम्हार, चूना पकाने वाले और भडभूँजे आदि के काम जिनमें कोयला आदि इन्धन जलाने की खूब जरूरत पडती हो, (२) वनकर्म—बड़े बड़े जंगल खरीदने का तथा काटने आदि का काम, (३) शकटकर्म-इक्का, बग्घी, बैल आदि भाँति भाँति के वाहनों को खरीदने तथा बेचने का धन्धा करना, (४) भाटककर्म—घोड़े, ऊँट, बैल आदि को किराये पर देकर रोजगार चलाना, (५) स्फोटककर्म-

कुँआ, तालाव आदि को खोदने-खुदवाने का व्यवसाय करना, (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी-दाँत, सीप, मोती आदि का व्यापार करना, (७) लाक्षावाणिज्य—लाख, गोंद आदि का व्यापार करना, (८) रस वाणिज्य—घी, दूध आदि का व्यापार करना, (९) केशवाणिज्य—मोर, तोते आदि पक्षियों का, उनके पंखों का और चमरी गाय आदि के बालों का व्यापार चलाना, (१०) विषवाणिज्य—अफीम, संखिया आदि विषैले पदार्थों का व्यापार करना, (११) यन्त्रपीलन कर्म--चक्की, चरखा, कोल्हू आदि चलाने का धंधा करना, (१२) निर्लाञ्छनकर्म--ऊँट, वैल आदि की नाक को छेदना या भेड़, वकरी आदि के कान को चीरना, (१३) दवदानकर्म—जंगल, गाँव, गृह आदि में आग लगाना, (१४) शोषणकर्म--झील, हौज, तालाव आदि को सुखाना और (१५) असतीपोषण कर्म--विल्ली, न्योला आदि हिंसक प्राणियों का पालन तथा दुराचारी मनुष्यों का पोषण करना ॥२०॥२३॥

[आठवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

❀ सत्थग्गिमुसलजंतग—तणकट्ठे मंतमूलभेसज्जे।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२४॥
न्हाणुव्वट्टणवन्नग—विलेवणे सद्दरूवरसगंधे।
वत्थासण आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२५॥
कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरिअहिगरणभोगअइरित्ते।

❀ शस्त्राग्निमुशलयन्त्रकतृणकाष्ठे मन्त्रमूलभैषज्ये।
दत्ते दापिते वा, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥२४॥
स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपने शब्दरूपरसगन्धे।
वस्त्रासनाभरणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥२५॥
कन्दर्पे कौकुच्ये, मौखर्येऽधिकरणभोगातिरिक्ते।
दण्डेऽनर्थे तृतीये गुणव्रते निन्दामि ॥ २६ ॥

दंडम्मि अणट्ठाए, तइयम्मि गुणव्वए निंदे॥२६॥ ❀

अन्वयार्थ—'सत्थ' शस्त्र 'अग्गि' अग्नि 'मुसल' मूसल 'जतग' यन्त्र—कल 'तण' घास 'कट्ठे' लकडी 'मंत' मन्त्र 'मूल' जडी [और] 'भेसज्जे' औषध 'दिन्ने' दिये जाने से 'वा' अथवा 'दवाविए' दिलाये जाने से 'देसिअं' दैनिक दूषण लगा हो 'सव्व' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२४॥

'न्हाण' स्नान 'उव्वट्टण' उबटन 'वन्नग' गुलाल आदि रङ्गीन बुकनी 'विलेवणे' केसर, चन्दन आदि विलेपन 'सद्द' शब्द 'रूव' रूप 'रस' रस 'गंधे' गंध 'वत्थ' वस्त्र 'आसण' आसन और 'आभरणे' गहने के [भोग से लगे हुए] 'देसिअं' दैनिक 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२५॥

'अणट्ठाए दण्डम्मि' अनर्थदण्ड—विरमण रूप 'तइयम्मि' तीसरे 'गुणव्वए' गुणव्रत के विषय में [पाँच अतिचार हैं। जैसे —]'कदप्पे' कामविकार पैदा करने वाली बातें करना, 'कुक्कुइए' औरों को हँसाने के लिये भाँड की तरह हँसी, दिल्लगी करना या किसी की नकल करना, 'मोहरि' निरर्थक बोलना, 'अहिगरण' सजे हुए हथियार या औजार तैयार रखना, 'भोगअइरित्ते' भोगने की-वस्त्र पात्र आदि चीजों को जरूरत से ज्यादा रखना, [इनकी मैं] 'निन्दे' निन्दा करता हूँ ॥२६॥

भावार्थ—अपनी और अपने कुटुम्बियों की जरूरत के सिवा व्यर्थ किसी दोष जनक प्रवृत्ति के करने को अनर्थदण्ड कहते हैं, इससे निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमण रूप तीसरा गुणव्रत अर्थात् आठवाँ व्रत है। अनर्थदण्ड चार प्रकार से होता है —

(१) अपध्यानाचरण, यानी बुरे विचारों के करने से, (२) पाप-

❀ अणत्थदण्डवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरेगे। [आव० सूत्र, पत्र ८३०]

कर्मोपदेश, यानी पापजनक कर्मों के उपदेश से, (३) हिंसाप्रदान, अर्थात् जिनसे जीवों की हिंसा हो ऐसे साधनों के देने दिलाने से, (४] प्रमादाचरण, यानी आलस्य के कारण से। इन तीन गाथाओं में इसी अनर्थदण्ड की आलोचना की गई है।

जिनमें से प्रथम गाथा में—छुरी, चाकू आदि शस्त्र का देना दिलाना; आग देना दिलाना; मूसल, चक्की आदि यन्त्र तथा घास, लकड़ी आदि इन्धन देना दिलाना; मन्त्र, जड़ी, बूटी तथा चूर्ण आदि औषध का प्रयोग करना कराना: इत्यादि प्रकार के हिंसा के साधनों की निन्दा की गई है।

दूसरी गाथा में—अयतना-पूर्वक स्नान, उबटन का करना, अबीर, गुलाल आदि रङ्गीन चीजों का लगाना, चन्दन आदि का लेपन करना, बाजे आदि के विविध शब्दों का सुनना, तरह तरह के लुभावने रूप देखना, अनेक रसों का स्वाद लेना, भाँति भाँति के सुगन्धित पदार्थों का सूँघना, अनेक प्रकार के वस्त्र, आसन और आभूषणों में आसक्त होना, इत्यादि प्रकार के प्रमादाचरण की निन्दा की गई है।

तीसरी गाथा में—अनर्थदण्ड-विरमण व्रत के पाँच अतिचारों की आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—(१) इन्द्रियों में विकार पैदा करने वाली कथायें कहना, (२) हँसी, दिल्लगी या नकल करना, (३) व्यर्थ बोलना, (४) शस्त्र आदि सजा कर तैयार करना और (५) आवश्यकता से अधिक चीजों का संग्रह करना ॥ २४–२६ ॥

[नववें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे।**
सामाइय वितह कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥२७॥ †

---

* त्रिविधे दुष्प्रणिधाने,-ऽनवस्थाने तथा स्मृतिविहीने।
सामायिके वितथे कृते, प्रथमे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२७॥

† सामाइयस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्प-

अन्वयार्थ—'तिविहे' तीन प्रकार का 'दुप्पणिहाणे' दुष्प्रणिधान—मन, वचन, शरीर का अशुभ व्यापार 'अणवट्ठाणे' अस्थिरता 'तहा' तथा 'सइविहूणे' याद न रहना, [इन अतिचारों से] 'सामाइय' सामायिक रूप 'पढमे सिक्खावए' प्रथम शिक्षाव्रत 'वितहकए' वितथ—मिथ्या-किया जाता है, इस से इनकी 'निंदे' मैं निन्दा करता हूँ ॥२७॥

भावार्थ—सावद्य प्रवृत्ति तथा दुर्ध्यान का त्याग कर के राग द्वेष वाले प्रसङ्गों में भी समभाव रखना, यह सामायिक रूप पहला शिक्षाव्रत अर्थात् नववाँ व्रत है। इस के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं —

(१) मन को काबू में न रखना, (२) वचन का संयम न करना, (३) काया की चपलता को न रोकना, (४) अस्थिर बनना अर्थात् कालावधि के पूर्ण होने के पहले ही सामायिक पार लेना और (५) ग्रहण किये हुए सामायिक व्रत को प्रमाद वश भुला देना ॥२७॥

[दसवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे।
देसावगासिअम्मि, बीए सिक्खावए निंदे ॥२८॥†

अन्वयार्थ—'आणवणे' बाहर से कुछ मँगाने से 'पेसवणे' बाहर कुछ भेजने से 'सद्दे' खखारने आदि के शब्द से 'रूवे' रूप

णिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया [आव० सू०, पत्र ८३१]

* आनयने प्रेषणे, शब्दे रूपे च पुद्गलक्षेपे।
देशावकाशिके, द्वितीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२८॥

§ देसावगासियस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहियापुग्गलपक्खेवे।

[आव० सू०, पत्र ८३४]

से 'अ' और 'पुग्गलक्खेवे' ढेला आदि पुद्गलके फेंकने से 'देसावगासिअम्मि' देशावकाशिक नामक 'वीए' दूसरे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत में [दूषण लगा उसकी] 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥ २८ ॥

भावार्थ—छठे व्रत में जो दिशाओं का परिमाण और सातवे व्रत में जो भोग उपभोग का परिमाण किया हो, उसका प्रतिदिन संक्षेप करना, यह देशावकाशिक रूप दूसरा शिक्षाव्रत अर्थात् दसवाँ व्रत है। इस व्रत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) नियमित हद्द के वाहर से कुछ लाना हो तो व्रत-भङ्ग की धास्ती से स्वयं न जा कर किसी के द्वारा उसे मँगवा लेना, (२) नियमित हद्द के वाहर कोई चीज भेजनी हो तो व्रत-भङ्ग होने के भय से उस को स्वयं न पहुँचा कर दूसरे के मारफत भेजना, (३) नियमित क्षेत्र के वाहर से किसी को बुलाने की जरूरत हुई तो स्वयं न जा सकनेके कारण खाँसी, खखार आदि कर के उस शख्स को बुला लेना, (४) नियमित क्षेत्र के वाहर से किसी को बुलाने की इच्छा हुई तो व्रत-भङ्ग के भय से स्वयं न जाकर हाथ, मुँह आदि अङ्ग दिखा कर उस व्यक्ति को आने की सूचना दे देना, और (५) नियमित क्षेत्र के वाहर ढेला, पत्थर आदि फेंक कर वहाँ से अभिमत व्यक्ति को बुला लेना ॥ २८ ॥

[ग्यारहवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

***संथारुच्चारविही—पमाय तह चेव भोयणाभोए।**
पोसहविहिविवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥†

---

* संस्तरोच्चारविधिप्रमादे तथा चैव भोजनाभोगे।
पौषधविधिविपरीते, तृतीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२९॥

† पोसहोववासस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—अपडिलेहियदुप्पडि-

अन्वयार्थ—'संथार' संथारे की और 'उच्चार' लघुनीति-बडीनीति—पेशाब-दस्त की 'विही' विधि में 'पमाय' प्रमाद हो जाने से 'तह चेव' तथा 'भोयणाभोए' भोजन की चिन्ता करने से 'पोसहविहिविवरीए' पौषध की विधि विपरीत हुई उसकी 'तइए' तीसरे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत के विषय में 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥ २९ ॥

भावार्थ—आठम, चौदस आदि तिथियों में आहार तथा शरीर की शुश्रूषा का और सावद्य व्यापार का त्याग कर के ब्रह्मचर्य पूर्वक धर्मक्रिया करना, यह पौषधोपवास-नामक तीसरा शिक्षाव्रत अर्थात् ग्यारहवाँ व्रत है। इस व्रत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं :—

(१) संथारे की विधि में प्रमाद करना अर्थात् उसका पडिलेहन-प्रमार्जन न करना, (२) अच्छी तरह पडिलेहन-प्रमार्जन न करना, (३) दस्त, पेशाब आदि करने की जगह का पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (४) पडिलेहन प्रमार्जन अच्छी तरह न करना और (५) भोजन आदि की चिन्ता करना कि कब सवेरा हो और कब मैं अपने लिये अमुक चीज बनवाऊँ ॥ २९ ॥

[बारहवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएसमच्छरे चेव ।
कालाइक्कमदाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥ ३० ॥†

सेहियसिज्जासथारए, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारए, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमीओ, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमीओ, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपाल[णा] या । [आव० सू०, पत्र ८३५]

* सचित्ते निक्षेपणे, पिधाने व्यपदेशमत्सरे चैव ।
कालातिक्रमदाने, चतुर्थे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥३०॥

† अतिहिसंविभागस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—सच्चित्तनिक्खेवणया, सच्चित्तपिहियणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया य [आव० सू० पत्र ८३७]

अन्वयार्थ—'सच्चित्ते' सचित्त को 'निक्खिवणे' डालने से 'पिहिणे' सचित्त के द्वारा ढाँकने से 'ववएस' पराई वस्तु को अपनी और अपनी वस्तु को पराई कहने से 'मच्छरे' मत्सर—ईर्ष्या—करने से 'चेव' और 'कालाइक्कमदाणे' समय बीत जाने पर आमंत्रण करने से 'चउत्थ' चौथे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत में दूषण लगा उसकी निंदे' निन्दा करता हूँ ॥ ३० ॥

भावार्थ—साधु, श्रावक आदि सुपात्र अतिथि को देश-काल का विचार कर के भक्ति-पूर्वक अन्न, जल देना, यह अतिथिसंविभाग-नामक चौथा शिक्षाव्रत अर्थात् बारहवाँ व्रत है। इसके अति-चारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं :—

(१) साधु को देने योग्य अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु डाल देना, (२) अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढाँक देना, (३) दान करने के लिये पराई वस्तु को अपनी कहना और दान न करने के अभिप्राय से अपनी वस्तु को पराई कहना, (४) मत्सर आदि कषाय पूर्वक दान देना और (५) समय बीत जाने पर भिक्षा आदि के लिये आमन्त्रण करना ॥ ३० ॥

***सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।**
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३१॥

अन्वयार्थ—'सुहिएसु' सुखियों पर 'दुहिएसु' दुःखियों पर 'अ' और 'अस्संजएसु' गुरु की निश्रा से विहार करने वाले सुसाधुओं पर तथा असंयतों पर 'रागेण' राग से 'व' अथवा 'दोसेण' द्वेष से 'मे' मैंने 'जा' जो 'अणुकंपा' दया—भक्ति—की

---

* सुखितेषु च दुःखितेषु च, या मया अस्वयतेषु (असंयतेषु) अनुकम्पा।
रागेण वा द्वेषेण वा, तां निन्दामि तां च गर्हे ॥३१॥

'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो साधु ज्ञानादि गुण में रत हैं या जो वस्त्रपात्र आदि उपधि वाले हैं, वे सुखी कहलाते हैं। जो व्याधि से पीडित हैं, तपस्या से खिन्न हैं या वस्त्र, पात्र आदि उपधि से विहीन हैं, वे दुःखी कहे जाते हैं। जो गुरु की निश्रा से—उनकी आज्ञा के अनुसार—वर्तते हैं, वे साधु अस्वयत कहलाते हैं। जो संयम-हीन हैं, वे असंयत कहे जाते हैं। ऐसे सुखी, दुःखी, अस्वयत और असंयत साधुओं पर यह व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है, यह कुलीन है या यह प्रतिष्ठित है इत्यादि प्रकार के ममत्वभाव से अर्थात् राग-वश हो कर अनुकम्पा करना तथा यह कंगाल है, यह जाति हीन है, यह घिनौना है, इस लिये इसे जो कुछ देना हो दे कर जल्दी निकाल दो, इत्यादि प्रकार के घृणा-व्यञ्जक भाव से अर्थात् द्वेष-वश हो कर अनुकम्पा करना। इसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ३१ ॥

* साहूसु संविभागो, न कओ तवचरणकरणजुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निन्दे तं च गरिहामि ॥३२॥

अन्वयार्थ—'दाणे' देने योग्य अन्न आदि 'फासुअ' प्रासुक अचित्त 'संते' होने पर भी 'तव' तप और 'चरणकरण' चरण-करण से 'जुत्तेसु' युक्त 'साहूसु' साधुओं का 'संविभागो' आतिथ्य 'न कओ' न किया 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' और 'गरिहामि' गर्हा करता हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—देने योग्य अन्न पान आदि अचित्त वस्तुओं

* साधुषु संविभागो, न कृतस्तपश्चरणकरणयुक्तेषु ।
सति प्रासुकदाने, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥ ३२ ॥

के मौजूद होने पर तथा सुसाधु का योग भी प्राप्त होने पर प्रमाद वश या अन्य किसी कारण से अन्न, वस्त्र, पात्रादिक से उनका सत्कार न किया जाय, इसकी इस गाथा में निन्दा की गई है ॥ ३२ ॥

[संलेखना व्रत के अतिचारों की आलोचना]

※इहलोए परलोए, जीविअ मरणे अ आसंसपओगे।
पंचविहो अइयारो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥†

अन्वयार्थ—'इहलोए' इस लोक की 'परलोए' परलोक की 'जीविअ' जीवित की 'मरणे' मर की तथा 'अ' च शब्द से कामभोग की 'आसंस' इच्छा 'पओगे' कर ने 'पंचविहो' पाँच प्रकार का 'अइ-यारो' अतिचार 'मज्झं' मुझको 'मरणंते' मरण के अन्तिम समय तक 'मा' मत 'हुज्ज' हो ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(१) धर्म के प्रभाव से मनुष्य-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना (२) या स्वर्ग-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना, (३) संलेखना (अनशन) व्रत के बहुमान को देख कर जीने की इच्छा करना, (४) दुःख से घबड़ा कर मरण की इच्छा करना और (५) भोग की वाञ्छा करना; इस प्रकार संलेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं। ये अतिचार मरण-पर्य्यन्त अपने व्रत में न लगें, ऐसी भावना इस गाथा में की गई है ॥ ३३ ॥

+ काएण काइअस्स, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए।

※ इहलोके परलोके, जीविते मरणे चाशंसाप्रयोगे।
पञ्चविधोऽतिचारो, मा मम भवतु मरणान्ते ॥ ३३ ॥

† इमीए समणो० इमे पंच०, तंजहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।
[आव० सू०, पत्र ८३६]

+ कायेन कायिकस्य, प्रतिक्रामामि वाचिकस्य वाचा।
मनसा मानसिकस्य, सर्वस्य व्रतातिचारस्य ॥ ३४ ॥

मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स॥३४॥

अन्वयार्थ—'काइअस्स' शरीर द्वारा लगे हुए 'वाइअस्स' वचन द्वार लगे हुए और 'माणसिअस्स' मन द्वारा लगे हुए 'सव्वस्स' सब 'वयाइआरस्स' व्रतातिचार का क्रमश 'काएण' काय योग से 'वायाए' वचन-योग से और 'मणसा' मनो योग से 'पडिक्कमे' प्रतिक्रमण करता हूँ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—अशुभ शरीर-योग से लगे हुए *व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ †शरीर योग से, अशुभ वचन योग से लगे हुए +व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण ‡शुभ वचन योग से और अशुभ मनो-योग से लगे हुए ++व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ †मनो-योग से करने की भावना इस गाथा में की गई है ॥ ३४ ॥

†† वंदणवयसिक्खागा, रवेसु सन्नाकसायदंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ,जो अइआरो अ तं निंदे ॥३५॥

अन्वयार्थ—वंदणवयसिक्खा' वन्दन, व्रत और शिक्षा के 'गारवेसु' **अभिमान से 'सन्ना' संज्ञा से 'कषाय' कषाय से या 'दंडेसु' दण्ड से 'गुत्तीसु' गुप्तियों में 'अ' और 'समिईसु' समितियों में 'जो' 'अइयारो' अतिचार लगा 'तं' उसको 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥ ३५ ॥

भावार्थ—वन्दन यानी गुरुवन्दन और चैत्यवन्दन, व्रत यानी

* वध, बन्ध आदि । † कायोत्सर्ग आदि रूप । + सहसा-अभ्याख्यान आदि । ‡ मिथ्या-दुष्कृत-दान आदि । ++शंका, काङ्क्षा आदि । † अनित्यता आदि भावना रूप ।

†† वन्दनव्रतशिक्षागौरवेषु संज्ञाकषायदण्डेषु ।
गुप्तिषु च समितिषु च, योऽतिचारश्च तं निन्दामि ॥ ३५ ॥

** वन्दन, व्रत और शिक्षा का अभिमान 'ऋद्धिगौरव' है ।

* तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो॥३७॥

अन्वयार्थ—[श्रावक] 'सपडिक्कमणं' प्रतिक्रमण द्वारा 'सप्परिआवं' पश्चात्ताप द्वारा 'च' और 'सउत्तरगुणं' प्रायश्चित्त-रूप उत्तरगुण द्वारा 'तं पि' उसको अर्थात् अल्प पाप-बन्ध को भी 'खिप्पं' जल्दी 'हु' अवश्य 'उवसामेई' उपशान्त करता है 'व्व' जैसे 'सुसिक्खिओ' कुशल 'विज्जो' वैद्य 'वाहिं' व्याधि को ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य व्याधि को विविध उपायों से नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सुश्रावक सांसारिक कामों से बँधे हुए कर्मों का प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त द्वारा क्षय कर देता है ॥ ३७ ॥

† जहा विसं कुट्ठगयं, मंतमूलविसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं॥३८॥
एवं अट्ठविहं कम्मं, रागदोससमज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ॥३९॥

अन्वयार्थ—'जहा' जैसे 'मंतमूलविसारया' मन्त्र और जड़ी-बूटी के जानकार 'विज्जा' वैद्य 'कुट्ठगयं' पेट में पहुँचे हुए 'विसं' ज़हर को 'मंतेहिं' मन्त्रों से 'हणंति' उतार देते हैं 'तो' जिससे कि 'तं' वह पेट 'निव्विसं' निर्विष 'हवइ' हो जा[illegible]

---

* तदपि खलु सप्रति[illegible]
क्षिप्रमुपशमयति, व्या[illegible]

† यथा विषं को[illegible]

'एवं' वैसे ही 'आलोअंतो' आलोचना करता हुआ 'अ' तथा 'निंदतो' निन्दा करता हुआ 'सुसावओ' सुश्रावक 'रागदोससमज्जिअं' राग और द्वेष से बँधे हुए 'अट्ठविहं' आठ प्रकार के 'कम्मं' कर्म को 'खिप्पं' शीघ्र 'हणइ' नष्ट कर डालता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य उदर में पहुँचे हुए विष को भी मन्त्र या जड़ी बूटी के ज़रिये से उतार देते हैं, इसी प्रकार सुश्रावक राग द्वेष-जन्य सब कर्म को आलोचना तथा निन्दा द्वारा शीघ्र क्षय कर डालते हैं ॥ ३८ ॥ ३६ ॥

● कयपावोवि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ य गुरुसगासे
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो ॥४०॥

अन्वयार्थ—'कयपावो वि' पाप किया हुआ भी 'मणुस्सो' मनुष्य 'गुरुसगासे' गुरु के पास 'आलोइअ' आलोचना कर के तथा 'निंदिअ' निन्दा करके 'अइरेगलहुओ' पाप के बोझ से हलका 'होइ' हो जाता है 'व्व' जिस प्रकार कि 'ओहरिअभरु' भार के उतर जाने पर 'भारवहो' भारवाहक—कुली ॥ ४० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार भार उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर का बोझा कम हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा निन्दा करने पर शिष्य के पाप का बोझा भी घट जाता है ॥ ४० ॥

† आवस्सएण एएण, सावओ जइवि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ॥४१॥

● कृतपापोऽपि मनुष्य, आलोच्य निन्दित्वा च गुरुसकाशे ।
भवत्यतिरेकलघुकोऽपहृतभर इव भारवहः ॥ ४० ॥

† आवश्यकेनैतेन श्रावको यद्यपि बहुरजा भवेत् ।
दुःखानामन्तक्रियां करिष्यत्यचिरेण कालेन ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—'जइवि' यद्यपि 'सावओ' श्रावक 'वहुरओ' वहु पाप वाला 'होइ' हो [तथापि वह] 'एएण' इस 'आवस्सएण' आवश्यक क्रिया के द्वारा 'दुक्खाणं' दुःखों का 'अंतकिरिअं' नाश 'अचिरेण' थोड़े ही 'कालेण' काल में 'काही' करेगा ॥ ४१ ॥

भावार्थ—यद्यपि अनेक आरम्भों के कारण श्रावक को कर्म का वन्ध वरावर होता रहता है तथापि प्रतिक्रमण आदि आवश्यक-क्रिया द्वारा श्रावक थोड़े ही समय में दुःखों का अन्त कर सकता है ॥ ४१ ॥

[याद नहीं आये हुए अतिचारों की आलोचना]

†आलोअणा बहुविहा,नय संभरिआ पडिक्कमणकाले मूलगुणउत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४२॥

अन्वयार्थ—'आलोअणा' आलोचना 'वहुविहा' वहुत प्रकार की है, परन्तु 'पडिक्कमणकाले' प्रतिक्रमण के समय 'न संभरिआ' याद न आई, 'य' इससे 'मूलगुण' मूलगुण में और 'उत्तरगुणे' उत्तरगुण में दूषण रह गया 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में लगे हुए अतिचारों की आलोचना शास्त्र में अनेक प्रकार की वर्णित है। उसमें से प्रतिक्रमण करते समय जो कोई याद न आई हो, उस की इस गाथा में निन्दा की गई है ॥ ४२ ॥

✻ तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स—

---

† आलोचना वहुविधा, न च स्मृता प्रतिक्रमणकाले ।
मूलगुणोत्तरगुणे, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥ ४२ ॥

✻ तस्य धर्मस्य केवलिप्रज्ञप्तस्य—
अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायै विरतोऽस्मि विराधनायाः ।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनांश्चतुर्विंशतिम् ॥ ४३ ॥

अब्भुट्ठिओमि आरा-हणाए विरओमि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वदामि जिणे चउव्वीसं ॥४३॥

अन्वयार्थ—'केवलि' केवलि के 'पन्नत्तस्स' कहे हुए 'तस्स' उस 'धम्मस्स' धर्म की—श्रावक धर्म की—'आराहणाए' आराधना करने के लिए 'अब्भुट्ठिओमि' सावधान हुआ हूँ [और उसकी] 'विराहणाए' विराधना से 'विरओमि' हटा हूँ। 'तिविहेण' तीन प्रकार से—मन, वचन, काय से-'पडिक्कंतो' निवृत्त होकर 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मैं केवलि कथित श्रावक-धर्म की आराधना के लिये तैयार हुआ हूँ और उसकी विराधना से विरत हुआ हूँ। मैं सब पापों का त्रिविध प्रतिक्रमण करके चौबीस तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ ॥ ४३ ॥

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥४४॥

अर्थ—पूर्ववत्।

जावंत के वि साहू, भरहेरवयमहाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं॥४५॥

अर्थ—पूर्ववत्।

*चिरसंचियपावपणासणीइ, भवसयसहस्समहणीए।
चउवीसजिणविणिग्गयकहाइ वोलंतु मे दिअहा॥४६॥

अन्वयार्थ—'चिरसंचियपावपणासणीइ' बहुत काल से

* चिरसञ्चितपापप्रणाशिन्या भवशतसहस्रमथन्या ।
चतुर्विंशतिजिनविनिर्गतकथया गच्छन्तु मम दिवसा ॥ ४६ ॥

इकट्ठे किये हुए पापों का नाश करने वाली 'भवसयसहस्समहणीए' लाखों भवों को मिटाने वाली 'चउवीसजिणविणिग्गय' चौबीस जिनेश्वरों के मुख से निकली हुई 'कहाइ' कथा के द्वारा 'मे' मेरे 'दिअहा' दिन 'वोलंतु' वीतें ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो चिर-काल-संचित पापों का नाश करने वाली है, जो लाखों जन्म-जन्मान्तरों का अन्त करने वाली है और जो सभी तीर्थङ्करों के पवित्र मुख-कमल से निकली हुई है, ऐसी सर्व-हितकारक धर्म-कथा में ही मेरे दिन व्यतीत हों ॥ ४६ ॥

*** मम मंगलमरिहंता; सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ।**
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥४७॥

अन्वयार्थ—'अरिहन्ता' अरिहन्त 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'साहू' साधु 'सुअं' श्रुत—शास्त्र 'च' और 'धम्मो' धर्म 'मम' मेरे लिये 'मंगल' मङ्गलभूत हैं, 'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टि वाले 'देवा' देव [मुझको] 'समाहिं' समाधि 'च' और 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिंतु' देवें ॥ ४७ ॥

भावार्थ—श्रीअरिहन्त, सिद्ध, साधु, श्रुत और चारित्र-धर्म, ये सब मेरे लिये मङ्गलरूप हैं। मैं सम्यक्त्वी देवों से प्रार्थना करता हूँ कि वे समाधि तथा सम्यक्त्व प्राप्त करने में मेरे सहायक हों ॥ ४७ ॥

† पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीयपरूवणाए अ ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—'पडिसिद्धाणं' निषेध किये हुए कार्य को

---

* मम मंगलमर्हन्तः, सिद्धाः साधवः श्रुतं च धर्मश्च ।
सम्यग्दृष्टयो देवा, ददतु समाधिं च बोधिं च ॥ ४७ ॥

† प्रतिषिद्धानां करणे, कृत्यानामकरणे प्रतिक्रमणम् ।
अश्रद्धाने च तथा, विपरीतप्ररूपणायां च ॥ ४८ ॥

'करणे' करने पर 'किच्चाणं' करने योग्य कार्य को 'अकरणे' नहीं करने पर 'असद्दहणे' अश्रद्धा होने पर 'तहा' तथा 'विवरीय' विपरीत 'परूवणाए' प्ररूपणा होने पर 'पडिक्कमणं' प्रतिक्रमण किया जाता है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—इस गाथा में प्रतिक्रमण करने के चार कारणों का वर्णन किया गया है :—

(१) स्थूल प्राणातिपात आदि जिन पाप-कर्मों के करने का श्रावक के लिये प्रतिषेध किया गया है उन कर्मों के किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (२) दर्शन, पूजन, सामायिक आदि जिन कर्तव्यों के करने का श्रावक के लिये विधान किया गया है उनके न किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (३) जैन धर्म-प्रतिपादित तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (४) जैन शास्त्रों के विरुद्ध, विचार प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण किया जाता है ॥ ४८ ॥

* खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—[मैं] 'सव्वजीवे' सब जीवों को 'खामेमि' क्षमा करता हूँ। 'सव्वे' सब 'जीवा' जीव 'मे' मुझे 'खमंतु' क्षमा करें। 'सव्वभूएसु' सब जीवों के साथ 'मे' मेरी 'मित्ती' मित्रता है। 'केणई' किसी के साथ 'मज्झ' मेरा 'वेरं' वैरभाव 'न' नहीं है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो तो मैं

* क्षमयामि सर्वजीवान्, सर्वे जीवा क्षाम्यन्तु मे।
मत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ॥ ४९ ॥

उसको खमाता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ। वैसे ही मैंने भी किसीका कुछ अपराध किया हो तो वह मुझे क्षमा करे। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ शत्रुता नहीं है ॥ ४६ ॥

†एवमहं आलोइअ, निंदिय गरहिअ दुगंछिउं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥५०॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'अहं' मैं 'सम्मं' अच्छी तरह 'आलोइअ' आलोचना कर के 'निंदिय' निंदा कर के 'गरहिअ' गर्हा करके और 'दुगंछिउं' जुगुप्सा कर के 'तिविहेण' तीन प्रकार—मन, वचन और शरीर से 'पडिक्कंतो' निवृत्त हो कर 'चउव्वीसं' चौवीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ ५० ॥

भावार्थ—मैंने पापों की अच्छी तरह आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा की; इस तरह त्रिविध प्रतिक्रमण करके अब मैं अन्त में फिर से चौवीस जिनेश्वरों को वन्दन करता हूँ ॥ ५० ॥

३३—आयरिअउवज्झाए सूत्र।

* आयरिअउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'आयरिअ' आचार्य पर 'उवज्झाए' उपाध्याय पर 'सीसे' शिष्य पर 'साहम्मिए' साधर्मिक पर 'कुल' कुल पर 'अ' और 'गणे' गण पर 'मे' मैंने 'जे केइ' जो कोई 'कसाया' कषाय किये

---

† एवमहमालोच्य; निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक्।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनांश्चतुर्विंशतिम् ॥ ५० ॥

* आचार्योपाध्याये, शिष्ये साधर्मिके कुलगणे च।
ये मे केचित्कषायाः, सर्वांस्त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥

'सव्वे' उन सब को 'तिविहेण' त्रिविध अर्थात् मन, वचन और काय से 'खामेमि' क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ— आचार्य, उपाध्याय, शिष्य साधर्मिक (समान धर्म वाला), ‡कुल और गण ; इन के ऊपर मैंने जो कुछ कषाय किये हों उन सबकी उन लोगों से मैं मन, वचन और काय से माफी चाहता हूँ ॥ १ ॥

†सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'सीसे' सिर पर 'अञ्जलि करिअ' अञ्जलि कर के 'भगवओ' पूज्य 'सव्वस्स' सब 'समणसंघस्स' मुनि-समुदाय से [अपने] 'सव्वं' सब [अपराध] को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'अहयंपि' मैं भी 'सव्वस्स' [उनके] सब अपराध को 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—हाथ जोड कर सब पूज्य मुनि-गण से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और मैं भी उनके प्रति क्षमा करता हूँ ॥ २ ॥

*सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥३॥

अन्वयार्थ—'सव्वस्स' सम्पूर्ण 'जीवरासिस्स' जीव-राशि से

---

‡ एक आचार्य की आज्ञा में रहने वाला शिष्य-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। ऐसे अनेक गच्छो का समुदाय 'कुल' और अनेक कुलो का समुदाय 'गण' कहलाता है। [धर्मसंग्रह उत्तर विभाग, पृष्ठ १२६]

† सर्वस्य श्रमणसंघस्य भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥२॥

* सर्वस्य जीवराशेर्भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः।
सर्वं क्षमयित्वा क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥ ३ ॥

'सव्व" [अपने] सब अपराध को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'धम्मनिहिअनियचित्तो' धर्म में निज चित्त को स्थापन किये हुए 'अहयं पि' मैं भी 'सव्वस्स' [उनके] सब अपराध को 'भावओ' भाव-पूर्वक 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—धर्म में चित्त को स्थित कर के सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और स्वयं भी उन के अपराध को हृदय से क्षमा करता हूँ ॥ ३ ॥

३४-सकलतीर्थ नमस्कार ।

सद्भक्त्या देवलोके रविशशिभवने व्यन्तराणां निकाये, नक्षत्राणां निवासे ग्रहगणपटले तारकाणां विमाने। पाताले पन्नगेन्द्रे स्फुटमणिकिरणैर्ध्वस्तसान्द्रान्धकारे, श्रीमत्तीर्थङ्कराणां प्रतिदिवसमहं तत्र चैत्यानि वन्दे ॥१॥ वैताढ्ये मेरुशृङ्गे रुचकगिरिवरे कुण्डले हस्तिदन्ते, वक्खारे कूटनन्दीश्वरकनकगिरौ नैषधे नीलवन्ते । चैत्रे शैले विचित्रे यमकगिरिवरे चक्रवाले हिमाद्रौ, श्रीमत्ती० ॥ २ ॥ श्रीशैले विन्ध्यशृङ्गे विमलगिरिवरे ह्यर्बुदे पावके वा, सम्मेते तारके वा कुलगिरिशिखरेऽष्टापदे स्वर्णशैले । । सह्याद्रौ वैजयन्ते विमलगिरिवरे गुर्जरे रोहणाद्रौ, श्रीमत्ती० ॥ ३ ॥ आघाटे मेदपाटे क्षितितटमुकुटे चित्रकूटे त्रिकूटे, लाटे नाटे च घाटे विटपिघनतटे हेमकूटे विराटे । कर्णाटे हेमकूटे विकटतरकटे चक्रकूटे च भोटे, श्रीम-

त्ती० ॥४॥ श्रीमाले मालवे वा मलयिनि निषधे मेखले पिच्छले वा, नेपाले नाहले वा कुवलयतिलके सिंहले केरले वा । डाहाले कोशले वा विगलितसलिले जङ्गले वा ढमाले, श्रीमत्ती० ॥ ५ ॥ अङ्गे वङ्गे कलिङ्गे सुगतजनपदे सत्प्रयागे तिलङ्गे, गौडे चौडे मुरण्डे वरतरद्रविडे उद्रियाणे च पौण्ड्रे । आर्द्रे माद्रे पुलिन्द्रे द्रविडकवलये कान्यकुब्जे सुराष्ट्रे, श्रीमत्ती०॥६॥ चन्द्रायां चन्द्रमुख्यां गजपुरमथुरापत्तने चोज्जयिन्यां, कोशाम्ब्यां कोशलायां कनकपुरवरे देवगिर्यां च काश्याम् । नासिक्ये राजगेहे दशपुरनगरे भद्दिले ताम्रलिप्त्यां, श्रीमत्ती० ॥७॥ स्वर्गे मर्त्येऽन्तरिक्षे गिरिशिखर-हृदे स्वर्णदीनीरतीरे, शैलाग्रे नागलोके जलनिधिपुलिने भूरुहाणां निकुञ्जे । ग्रामेऽरण्ये वने वा स्थलजलविषमे दुर्गमध्ये त्रिसन्ध्यं, श्रीमत्ती० ॥८॥ श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रुचकनगवरे शाल्मलौ जम्बुवृक्षे, चौज्जन्ये चैत्यनन्दे रतिकररुचके कौण्डले मानुषाङ्के । इक्षूकारे जिनाद्रौ च दधिमुखगिरौ व्यन्तरे स्वर्गलोके, ज्योतिर्लोके भवन्ति त्रिभुवनवलये यानि चैत्यालयानि ॥९॥इत्थं श्रीजैनचैत्यस्तवनमनुदिनं ये पठन्ति प्रवीणाः, प्रोद्यत्कल्याणहेतुं कलिमलहरणं भक्तिभाजस्त्रिसन्ध्यम् । तेषां श्रीतीर्थयात्राफलमतुलमलं जायते मानवानां,

कार्याणां सिद्धिरुच्चैः प्रमुदितमनसां चित्तमानन्द-
कारी ॥१०॥

सार—इन दस श्लोकोंमें से नौ श्लोकों के द्वारा तो तीर्थों को नमस्कार किया है और दसवें श्लोक में उस का तीर्थ-यात्रा तथा कार्यसिद्धिरूप फल बतलाया है।

पहिले श्लोक से दिव्य स्थानों में स्थित चैत्यों को ; दूसरे और तीसरे श्लोक से वैताढ्य आदि पर्वतीय प्रदेशों में स्थित चैत्यों को ; चौथे, पाँचवे और छठे श्लोक से आघाट आदि देशों में स्थित चैत्यों को ; सातवें श्लोक से चन्द्रा आदि नगरियों में स्थित चैत्यों को और आठवें तथा नौवें श्लोक से प्राकृतिक, मानुषिक, दिव्य आदि सब स्थानों में स्थित चैत्यों को नमस्कार किया है।

३५—परसमयतिमिरतरणिं।

परसमयतिमिरतरणिं, भवसागरवारितरणवरतर-
णिम्। रागपरागसमीरं, वन्दे देवं महावीरम् ॥ १ ॥

भावार्थ—मिथ्या मत अथवा बहिरात्मभाव-रूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य-समान, संसार-रूप समुद्र के जल से पार करने के लिये नौका-समान और राग-रूप पराग को उड़ा कर फैंक देने के लिये वायु समान; ऐसे श्रीमहावीर भगवान् को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

निरुद्धसंसारविहारकारि-दुरंतभावारिगणा निकामम्।
निरंतरं केवलिसत्तमा वो, भयावहं मोहभरं हरन्तु॥२॥

भावार्थ— 'सार-भ्रमण के कारण और बुरे परिणाम को करने वाले कषाय आदि भीतरी शत्रुओं' को जिन्होंने बिलकुल नष्ट किया है, वे केवलज्ञानी महापुरुष, तुम्हारे संसार के कारणभूत मोह-बल को निरन्तर दूर करें ॥२॥

संदेहकारिकुनयागमरूढगूढ—संमोहपङ्कहरणामलवारिपूरम्। संसारसागरसमुत्तरणोरुनावं,वीरागमं परमसिद्धिकरं नमामि ॥ ३ ॥

भावार्थ—सन्देह पैदा करने वाले एकान्तवाद के शास्त्रों के परिचय से उत्पन्न, ऐसा जो भ्रमरूप अटिल कीचड उसको दूर करने के लिये निर्मल जल-प्रवाह के सदृश और संसार-समुद्र से पार होने के लिये प्रचण्ड नौका के समान, ऐसे परम-सिद्धि-दायक महावीर-सिद्धान्त अर्थात् अनेकान्तवाद को मैं नमन करता हूँ ॥३॥

परिमलभरलोभालीढलोलालिमाला--वरकमलनिवासे हारनीहारहासे। अविरलभवकारागारविच्छित्तिकारं, कुरु कमलकरे मे मङ्गलं देवि सारम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्कट सुगन्ध के लोभ से खींच कर आये हुए जो चपल भौंरे, उनसे युक्त ऐसे सुन्दर कमल पर निवास करने वाली, हार तथा बरफ के सदृश श्वेत, हास्य-युक्त और हाथ में कमल को धारण करने वाली हे देवि! तू अनादि काल के संसार-रूप कैदखाने को तोडनेवाले सारभूत मंगल को कर ॥४॥

३६—संसारदावानल स्तुति।

संसारदावानलदाहनीरं, संमोहधूलीहरणे समीरं। मायारसादारणसारसीरं,नमामि वीरं गिरिसारधीरं॥

अन्वयार्थ—'संसारदावानलदाहनीरं' संसार रूप दावानल के दाह के लिये पानी के समान 'संमोहधूलीहरणे समीरं' मोह रूप धूल को हरने में पवन के समान 'मायारसादारणसारसीरं' माया

रूप पृथ्वी को खोदने में पैने हल के समान [और] 'गिरिसारधीरं' पर्वत के तुल्य धीरज वाले 'वीरं' श्री महावीर स्वामी को 'नमामि' [मैं] नमन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—[श्रीमहावीर-स्तुति] मैं भगवान् महावीर को नमन करता हूँ। जल जिस प्रकार दावानल के सन्ताप को शान्त करता है उसी प्रकार भगवान् संसार के सन्ताप को शान्त करते हैं, हवा जिस प्रकार धूलि को उड़ा देती है उसी प्रकार भगवान् भी मोह को नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार पैना हल पृथ्वी को खोद डालता है उसी प्रकार भगवान् माया को उखाड़ फेंकते हैं और जिस प्रकार सुमेरु चलित नहीं होता उसी प्रकार अति धीरज के कारण भगवान् भी चलित नहीं होते ॥ १ ॥

भावावनामसुरदानवमानवेन-
चूलाविलोलकमलावलिमालितानि ।
संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि,
कामं नमामि जिनराजपदानि तानि ॥२॥

अन्वयार्थ—'भावावनाम' भाव-पूर्वक नमन करने वाले 'सुर-दानवमानवेन' देव, दानव और मनुष्य के स्वामियों के 'चूलाविलोल-कमलावलिमालितानि' मुकुटों में वर्तमान चञ्चल कमलों की पङ्क्ति से सुशोभित, [और] 'संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि' नमे हुए लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, 'तानि' प्रसिद्ध 'जिनराज-पदानि' जिनेश्वर के चरणों को 'कामं' अत्यन्त 'नमामि' नमन करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—[सकल-जिन की स्तुति] भक्ति-पूर्वक नमन करने वाले देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रों के मुकुटों की कोमल कमल-मालाओं से जो शोभायमान हैं, और भक्त लोगों की कामनाएँ

जिनके प्रभाव से पूर्ण होती हैं, ऐसे सुन्दर और प्रभावशाली जिनेश्वर के चरणों को मैं अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक नमन करता हूँ ॥२॥

बोधागाधं सुपदपदवीनीरपूराभिरामं,
जीवाहिंसाऽविरललहरीसंगमागाहदेहं।
चूलावेलं गुरुगममणीसंकुलं दूरपारं,
सारं वीरागमजलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥३॥

अन्वयार्थ—'बोधागाधं' ज्ञान से अगाध—गम्भीर, 'सुपदपदवीनीरपूराभिरामं' सुन्दर पदों की रचनारूप जल प्रवाह से मनोहर 'जीवाहिंसाऽविरललहरीसङ्गमागाहदेहं' जीवदया-रूप निरन्तर तरङ्गों के कारण कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, 'चूलावेलं' चूलिका रूप तट वाले 'गुरुगममणीसंकुलं' बड़े बड़े आलावा रूप रत्नों से व्याप्त [और] 'दूरपारं' जिसका पार पाना कठिन है [ऐसे] 'सारं' श्रेष्ठ 'वीरागम-जलनिधिं' श्रीमहावीर के आगम-रूप समुद्र की [मैं] 'सादरं' आदर-पूर्वक 'साधु' अच्छी तरह 'सेवे' सेवा करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—[आगम स्तुति] इस श्लोक के द्वारा समुद्र के साथ समानता दिखा कर आगम की स्तुति की गई है।

जैसे समुद्र गहरा होता है वैसे जैनागम भी अपरिमित ज्ञान वाला होने के कारण गहरा है। जल की प्रचुरता के कारण जिस प्रकार समुद्र सुहावना मालूम होता है वैसे ही ललित पदों की रचना के कारण आगम भी सुहावना है। लगातार बड़ी बड़ी तरङ्गों के उठते रहने से जैसे समुद्र में प्रवेश करना कठिन है वैसे ही जीवदया सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों से परिपूर्ण होने के कारण आगम में भी प्रवेश करना अति कठिन है। जैसे समुद्र के बड़े बड़े तट होते हैं वैसे ही आगम में भी बड़ी बड़ी *चूलिकाएँ हैं। जिस प्रकार समुद्र में मोती, मूंगे

*—चूलिका का पर्याय अर्थात् दूसरा नाम उत्तर तन्त्र है। शास्त्र के उन

आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ होती हैं इस प्रकार आगम में भी बड़े बड़े उत्तम * गम—आलावे (सदृश पाठ) हैं। तथा जिस प्रकार समुद्र का पार-सामना किनारा—बहुत ही दूरवर्ती होता है वैसे ही आगम का भी पार—पूर्ण रीति से मर्म समझना—दूर (अत्यन्त मुश्किल) है। ऐसे आगम की मैं आदर तथा विधिपूर्वक सेवा करता हूँ ॥ ३ ॥

आमूलालोलधूलीबहुलपरिमलालीढलोलालिमाला-
झङ्कारारावसारामलदलकमलागारभूमिनिवासे ! ।
छाया-संभारसारे ! वरकमलकरे ! तारहाराभिरामे !,
वाणीसंदोहदेहे ! भवविरहवरं देहि मे देवि ! सारम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'धूलीवहुलपरिमल' रज-पराग से भरी हुई सुगन्धि में 'आलीढ' मग्न [और] 'लोल' चपल [ऐसी] 'अलि-माला' भौंरों की श्रेणियों की 'झङ्कार' गूँज के 'आराव' शब्द से 'सार' श्रेष्ठ [तथा] 'आमूल' जड़ से लेकर 'आलोल' चञ्चल [ऐसे] 'अमलदलकमल' स्वच्छ पत्र वाले कमल पर स्थित [ऐसे] 'अगारभूमिनिवासे' गृह की भूमि में निवास करने वाली, 'छायासंभारसारे' कान्ति-पुञ्ज से शोभायमान, 'वरकमलकरे' हाथ में उत्तम कमल को धारण करने वाली, 'तारहाराभिरामे' स्वच्छ हार से मनोहर [और] 'वाणीसंदोहदेहे' बारह

हिस्से को उत्तर तन्त्र कहते हैं जिसमें पूर्वार्द्ध में कहे हुए और नहीं कहे हुए विषयों का संग्रह हो (दशवैकालिक नि० गा० ३५९ पृष्ठ २६९; आचारांग टीका पृ० ६८; नन्दि-वृत्ति पृ० १०६)।

*—गम के तीन अर्थ देखे जाते हैं:—(१) सदृश पाठ (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५४८), (२) एक सूत्र से होने वाले अनेक अर्थ-बोध, (३) एक सूत्र के विविध व्युत्पत्ति-लभ्य अनेक अर्थ और अन्वय, (नन्दि-वृत्ति पृष्ठ २११-२१२)।

अङ्ग रूप वाणी ही जिसका शरीर है ऐसी 'देवि' हे श्रुतदेवि ! 'मे' मुझ को 'सार' सर्वोत्तम 'भवविरहवर' संसार विरह—मोक्ष का वर 'देहि' दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—[श्रुतदेवी की स्तुति] जल के कल्लोल से मूल-पर्यन्त कपायमान तथा पराग की सुगन्ध से मस्त हो कर चारों तरफ गूंजते रहने वाले भौंरों से शोभायमान ऐसे मनोहर कमल-पत्र के ऊपर आये हुए भवन में रहने वाली, कान्ति के समूह से दिव्य रूप को धारण करने वाली, हाथ में सुन्दर कमल को रखने वाली, गले में पहने हुए भव्य हार से दिव्यस्वरूप दिखाई देने वाली, और *द्वादशाङ्गी वाणी की अधिष्ठात्री हे श्रुतदेवि ! तू मुझे ससार से पार होने का वरदान दे ॥ ४ ॥

३७—भवय दसराणभद्दो ।

†भवयं दसराणभद्दो, सुदंसणो थूलभद्द वइरो य ।
सफलीकयगिहचाया, साहू एवंविहा हुंति ॥१॥

अन्वयार्थ—'दसण्णभद्दो' दशार्णभद्र, 'सुदसणो' सुदर्शन 'थूलभद्दो' स्थूलभद्र 'य' और 'वइरो' वज्रस्वामी ये चार 'भयवं' महात्मा (हुए) । 'सफलीकयगिहचाया' जिन्होंने गृहत्याग—चारित्र—को सफल

---

* १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदशांग, ८ अन्तकृद्दशांग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकश्रुत और १२ दृष्टिवाद, ये बारह अंग कहलाते हैं। इन अंगों की रचना तीर्थङ्कर भगवान् के मुख्य शिष्य जो गणधर कहलाते हैं वे करते हैं। इन अंगों में गूंथी गई भगवान् की वाणी को 'द्वादशांगी वाणी' कहते हैं।

† भगवान् दशार्णभद्र सुदर्शन स्थूलभद्रो वज्रश्च ।
सफलीकृतगृहत्यागाः साधव एवंविधा भवन्ति ॥१॥

किया है ऐसे 'साहू' साधु 'एवंविहा' इन्हीं के जैसे 'हुंति' होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीदशार्णभद्र, सुदर्शन, स्थूलभद्र और वज्रस्वामी ये चार ज्ञानवान् महात्मा हुए और इन्होंने गृहस्थाश्रम के त्याग को चारित्र का पालन करके सफल किया। संसार-त्याग को सफल करने वाले सभी साधु इन्हीं के जैसे होते हैं ॥१॥

* साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिया भावा।
फासुअदाणे निज्जर, अभिग्गहो नाणमाईणं ॥२॥

अन्वयार्थ—'साहूण' साधुओं को 'वंदणेणं' वन्दन करनेसे 'पावं' पाप 'नासइ' नष्ट होता है, 'भावा' परिणाम 'असंकिया' शंका-हीन [होते हैं], 'फासुअदाणे' अचित्त दान देने से 'निज्जर' कर्मों की निर्जरा होती है [और] 'नाणमाईणं' ज्ञान आदि के आचार संबन्धी 'अभिग्गहो' अभिग्रह [का मौका मिलता है] ॥२॥

भावार्थ—साधुओं को प्रणाम करने से पाप नष्ट होता है, परिणाम शङ्काहीन अर्थात् निश्चित हो जाते हैं तथा अचित्तदान द्वारा कर्म की निर्जरा होने का और ज्ञान आदि आचार सम्बन्धी अभिग्रह लेने का अवसर मिलता है ॥२॥

† छउमत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तंपि संभरइ जीवो।
जं च न संभरामि अहं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स॥३॥

अन्वयार्थ—'छउमत्थो' छद्मस्थ [या] 'मूढमणो' मूढ़ मन वाला 'जीवो' जीव 'कित्तियमित्तंपि' कुछ ही बातों को 'संभरइ' याद

---

* साधूनां वन्दनेन नश्यति पापमशङ्किता भावाः।
प्रासुकदानेन निर्जराऽभिग्रहो ज्ञानादीनाम् ॥ २ ॥

† छद्मस्थो मूढमनाः कियन्मात्रमपि स्मरति जीवः।
यच्च न स्मराम्यहं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ३ ॥

कर सकता है। 'जंच' जो जो (पाप कर्म) 'अहं' मुझे 'न' नहीं 'संभरामि' याद आता 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' दुष्कृत 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ॥३॥

भावार्थ—छद्मस्थ व मूढ जीव कुछ ही बातों को याद कर सकता है, सब को नहीं, इस लिये जो जो पाप-कर्म मुझे याद नहीं आता, उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं' ॥३॥

*जं जं मणेण चिंतिय—मसुहं वायाइ भासियं किंचि।
असुहं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥४॥

अन्वयार्थ—(मैंने) 'मणेण' मन से 'जं जं' जो जो 'असुहं' अशुभ 'चिंतियं' चिन्तन किया, 'वायाइ' वाणी से 'किंचि' जो कुछ 'भासियं' (अशुभ) भाषण किया, (और) 'काएण' काया से 'असुहं' जो अशुभ 'कयं' किया 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ॥४॥

भावार्थ—मैंने जो जो मन से अशुभ चिन्तन किया, वाणी से अशुभ भाषण किया और काया से अशुभ कार्य किया, वह सब निष्फल हो ॥४॥

† सामाइयपोसहसं-ठियस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोद्धव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'सामाइयपोसहसंठियस्स' सामायिक और पौषध में स्थित 'जीवस्स' जीव का 'जो कालो' जो समय 'जाइ' व्यतीत

---

* यद्यन्मनसा चिन्तितमशुभं वाचा भाषितं किञ्चित्।
अशुभं कायेन कृतं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ४ ॥

† सामायिकपौषधसंस्थितस्य जीवस्य याति यः कालः।
स सफलो बोद्धव्यः शेषः संसारफलहेतुः ॥

होता है 'सो' वह 'सफलो' सफल 'बोद्धव्वो' जानना चाहिये, 'सेसो' बाकी का 'संसारफलहेऊ' संसार-वृद्धि का कारण है ॥५॥

भावार्थ—सामायिक और पौषध में स्थित जीव का जितना समय व्यतीत होता है, वह सफल है और बाकी का सब समय संसार-वृद्धि का कारण है ॥ ५ ॥

सामायिक विधें लीधुं, विधें कीधुं, विधि करतां अविधि-आशातना लगी हो, दश मन का, दश वचन का, बारह काया का, इन बत्तीस दूसण मांहि जो कोई दूषण लगा हो सो सहु मन कर, वचन कर, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥

३८—जयतिहुअण स्तोत्र ।

*जय तिहुअण-वर-कप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि।
जय तिहुअण-कल्लाण-कोस, दुरिय-क्करि-केसरि ॥
तिहुअणजण-अविलंघिआण, भुवण-त्तय-सामिअ ।
कुणसु सुहाइं जिणेस पास, थंभणयपुर-ट्ठिअ ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'तिहुअणवरकप्परुक्ख' हे तीन जगत् में श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान (आपकी) 'जय' जय हो। 'धन्वन्तरि' हे धन्वन्तरि वैद्य के समान 'जिण' जिनेन्द्र प्रभु (आपकी) 'जय' जय हो। 'तिहुअणकल्लाणकोस' हे तीन जगत् के कल्याण का भण्डार, 'दुरिअक्क-

---

*जय त्रिभुवनवरकल्पवृक्ष, जय जिन धन्वन्तरे।
जय त्रिभुवनकल्याणकोश, दुरितकरिकेसरिन् ॥
त्रिभुवनजनाविलंघिताज्ञ भुवनत्रयस्वामिन् ।
कुरुष्व सुखानि जिनेश पार्श्व स्तम्भनकपुरस्थित ॥१॥

रिकेसरि' हे पाप रूप हस्ती को मारने में सिंह के समान, 'तिहुअणजण-अविलंघियाण' हे त्रिभुवन में अनुल्लंघित आज्ञा वाले, 'भुवणत्तयसामिअ' हे तीन जगत के प्रभु (आपकी) 'जय' जय हो। 'थंभणयपुरट्ठिय' स्तम्भनपुर (खभात) में स्थित 'जिणेस पास' हे पार्श्वनाथ भगवन् (मुझे) 'सुहाइ' सुख 'कुणसु' कीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीनों जगत् के जीवों को वाञ्छित फल देने में कल्पवृक्ष के समान, प्राणियों के बाह्य और अभ्यन्तर रोगों के नाश करने में धन्वन्तरि वैद्य के तुल्य, तीन जगत् के कल्याण का भण्डार, पापरूप हस्ती को मारने के लिये सिंह के समान, जिसकी आज्ञा तीनों लोक में मान्य है अर्थात् जो तीनों जगत् के स्वामी हैं, ऐसे स्तम्भनपुर में स्थित हे पार्श्व प्रभो! आपकी जय हो और आप मुझे सुखी कीजिए ॥ १ ॥

*तइ समरंत लहंति झत्ति, वर-पुत्त-कलत्तइ।
धराण-सुवराण-हिरराण-पुराण, जरा भुंजइ रज्जइ ॥
पिक्खइ मुक्ख असंख-सुक्ख, तुह पास पसाइरा।
इअ तिहुअण वर-कप्प-रुक्ख,सुक्खइ कुण मह जिण॥२॥

अन्वयार्थ—'तइ' आपका 'समरंत' स्मरण करता हुआ 'जण' मनुष्य 'झत्ति' शीघ्र 'वरपुत्तकलत्तइ' सुन्दर पुत्र और पत्नी को 'लहंति' प्राप्त करता है, [तथा] 'धण्णसुवण्णहिरण्णपुण्ण' धान्य, सुवर्ण तथा सुवर्ण के आभूषणों से पूर्ण 'रज्जइ' राज्यों को 'भुंजइ' भोगता है। 'पास' हे पार्श्वनाथ भगवन् 'तुह' आपकी 'पसाइण'

* त्वा स्मरन्तो लभन्ते झगिति वरपुत्रकलत्राणि।
धान्यसुवर्णहिरण्यपूर्णानि जनो भुङ्क्ते राज्यानि ॥
प्रेक्षते मोक्षमसंख्यसौख्य तव पार्श्व प्रसादेन।
इति त्रिभुवनवरकल्पवृक्ष सौख्यानि कुरु मम जिन ॥२॥

कृपा से 'असंख-सुक्ख' असंख्य सुख वाले 'मुक्ख' मोक्ष को [मनुष्य] 'पिक्खइ' पाता है। 'इअ' इससे 'तिहुअणवरकप्परुक्ख' तीन जगत् में श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान 'जिण' हे जिनेन्द्र 'मह' मुझे 'सुक्खइं' सुख 'कुण' कीजिए ॥ २ ॥

भावार्थ—हे पार्श्व प्रभो! आपका स्मरण करता हुआ मनुष्य पुत्र, कलत्र तथा धन, धान्य से परिपूर्ण राज्य तक की बाह्य संपत्ति को शीघ्र ही प्राप्त करता है और आपकी कृपा से अनन्त सुख वाली मुक्ति का भी अनुभव करता है, इस तरह आप फल-प्रदान करने में कल्पवृक्ष के समान हैं, अतएव मुझे भी सुखी कीजिए ॥२॥

*जर-जज्जर परिजुरण्ण-कण्ण, नट्ठुट्ठ सुकुट्ठिण।
चक्खु-क्खीण खएण खुण्ण, नर सल्लिय सूलिण॥
तुह जिण सरण-रसायणेण, लहु हुंति पुणण्णव।
जय-धन्नंतरि पास महवि, तुह रोग-हरो भव ॥३॥

अन्वयार्थ—'जर' ज्वर से 'जज्जर' अशक्त 'सुकुट्ठिण' गलित कोढ से 'परिजुण्णकण्ण' सड़े हुए कान वाले [और] 'नट्ठुट्ठ' नष्ट होठ वाले, [और] 'चक्खुक्खीण' क्षीण चक्षु वाले, 'खएण' क्षय रोग से 'खुण्ण' दुर्बल [तथा] 'सूलिण' शूल रोग के 'सल्लिय' शल्य वाले 'नर' मनुष्य 'जिण' हे जिनदेव 'तुह' आपके 'सरणरसायणेण' स्मरण रूप रसायन से 'लहु' शीघ्र 'पुणण्णव' तंदुरस्त 'हुंति' होते हैं। [इससे] 'जयधन्नंतरि' जगत् में धन्वन्तरि वैद्य के तुल्य 'पास' हे पार्श्वप्रभो 'तुह' आप 'महवि रोगहरो' मेरे भी रोग को नाश करने वाले 'भव' होइए ॥३॥

---

*ज्वरजर्जराः परिजीर्णकर्णा नष्टौष्ठाः सुकुष्ठेन।
क्षीणचक्षुषः क्षयेण क्षुण्णा नराः शल्यिताः शूलेन॥
तव जिन स्मरणरसायनेन लघु भवन्ति पुनर्नवा
जगद्धन्वन्तरे पार्श्व ममापि त्वं रोगहरो भव ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ भगवन्! आपके स्मरण रूपी रसायन से ज्वर, कोढ़, क्षय, शूल इत्यादि विषम रोग वाले जीव भी शीघ्र ही आरोग्य को प्राप्त करते हैं, इससे हे धन्वन्तरी के तुल्य प्रभो! मेरे रोग का भी निवारण कीजिए ॥३॥

†विज्जा-जोइस-मंत तंत-सिद्धीउ अपयत्तिण।
भुवणऽब्भुअ अट्ठविह सिद्धि, सिज्झहि तुह नामिण॥
तुह नामिण अपवित्तओ वि, जण होइ पवित्तउ।
तं तिहुअण-कल्लाण-कोस, तुह पास निरुत्तउ॥ ४॥

अन्वयार्थ—'तुह' आपके 'नामिण' नाम से 'विज्जाजोइसमंतंतसिद्धीउ' विद्या, ज्योतिष, मन्त्र और तन्त्र की सिद्धियाँ [और] 'भुवणब्भुअ' जगत् में अद्भुत मानी जाती 'अट्ठविह' आठ प्रकार की 'सिद्धि' सिद्धियाँ 'अपयत्तिण' बिना प्रयत्न के 'सिज्झहि' सिद्ध होती हैं [तथा] 'तुह' आपके 'नामिण' नाम से 'अपवित्तओवि जण' अपवित्र मनुष्य भी 'पवित्तउ' पवित्र 'होइ' होता है। 'तं' इससे 'पास' हे पार्श्वनाथ प्रभो 'तुह' आप 'तिहुअणकल्लाणकोस' त्रिभुवन के कल्याणों का भण्डार 'निरुत्तउ' कहलाते हैं ॥४॥

भावार्थ—हे भगवन्! आप के नाम का चिन्तन-मात्र करने से विद्या, ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र और अणिमा आदि आठ महासिद्धियाँ भी बिना परिश्रम सिद्ध होती हैं। आप के नाम से दुराचारी मनुष्य भी गुण-संपन्न हो जाता है। इसीसे आप 'त्रिभुवन कल्याण कोश' अर्थात् तीनों भुवन के कल्याणों का भण्डार कहलाते हैं ॥४॥

---

† विद्याज्योतिर्मन्त्रतन्त्रसिद्धयोऽप्रयत्नेन।
भुवनाद्भुता अष्टविधा सिद्धयः सिद्ध्यन्ति तव नाम्ना।
तव नाम्नाऽपवित्रोऽपि जनो भवति पवित्र-
स्तत्त्रिभुवनकल्याणकोष त्वं पार्श्व निरुक्तः॥ ४॥

†खुद्द-पउत्तइ मंत-तंत-जंताइं विसुत्तइ।
चर-थिर-गरल-गहुग्ग-खग्ग-रिउ-वग्गवि गंजइ॥
दुत्थिय-सत्थ अणत्थ-घत्थ, नित्थारइ दय करि।
दुरियइ हरउ स पास-देउ, दुरिय-करि-केसरि॥ ५॥

अन्वयार्थ—'स' वह 'दुरिअकरिकेसरि' पाप रूप हाथी के लिए केसरी सिंह के तुल्य 'पास देउ' पार्श्वनाथ भगवान् 'दय' दया 'करि' करके 'दुरियइ' पापों का 'हरउ' नाश करे [जो] 'खुद्दपउत्तइ' क्षुद्र जनों से प्रयुक्त 'मंततंतजंताइं' मन्त्र, तन्त्र और यन्त्रों को 'विसुत्तइ' विफल करता है; (तथा) 'चरथिरगरलगहुग्गखग्गरिउवग्गवि' जङ्गम और स्थावर विष, ग्रह तथा उग्र खड्ग वाले शत्रु-वर्ग को 'गंजइ' हराता है, (तथा) 'अणत्थघत्थ' अनर्थों से ग्रस्त 'दुत्थियसत्थ' दुःखित जन-समूह को 'नित्थारइ' दुःख से मुक्त करते हैं॥५॥

भावार्थ—जो भगवान् पार्श्वनाथ, नीच लोगों ने दूसरोंका अनिष्ट करने के लिए प्रयुक्त किये हुए मन्त्र, तन्त्र और जन्तरों को अफल कर देते हैं; जङ्गम और स्थावर विष, दुष्ट ग्रह और वध के लिए तय्यार शत्रु-वर्ग को भी परास्त करते हैं तथा अनर्थों से व्याप्त दुःखित जनों का दुःख से छूटकारा करते हैं वे पाप-रूपी हाथी को मार भगाने में सिंह तुल्य पराक्रम वाले पार्श्वप्रभु कृपा करके मनुष्यों के पापों का नाश करें॥५॥

*तुह आणा थंभेइ भीम-दप्पुद्धुर-सुर-वर-

† क्षुद्रप्रयुक्तानि मन्त्रतन्त्रयन्त्राणि विसूत्रयति।
चरस्थिरगरलग्रहोग्रखड्गरिपुवर्गानपि गञ्जयति॥
दुःस्थितसार्थान् अनर्थग्रस्तान् निस्तारयति दयां कृत्वा।
दुरितानि हरतु स पार्श्वदेवो दुरितकरिकेसरी॥ ५॥

* तवाज्ञा स्तम्भयति भीमदर्पोद्धुरान् सुरवर-

रक्खस-जक्ख-फणिंद-विंद-चोरानल-जलहर ॥
जल-थल-चारि-रउद्द-खुद्द-पसु-जोइणि-जोइय ।
इय तिहुअणअविलंघिआण, जय पास सुसामिय ॥६॥

अन्वयार्थ—'तुह' आपकी 'आणा' आज्ञा 'भीम' भयङ्कर [और] 'दप्पुद्धुर' अत्यन्त गर्विष्ठ [ऐसे] 'सुरवर' उत्तम श्रेणी के देवताओं को 'रक्खस' राक्षसों को, 'जक्ख' यक्षों को 'अनल' अग्नि को, 'जलहर' मेघ को, 'जलथलचारि' जल और स्थल में रहने वाले 'रउद्द' भयङ्कर 'खुद्द' क्षुद्र—हिंसक 'पसु' पशुओं को, 'जोइणि' योगिनी—मन्त्र तन्त्रादि को जानने वाली स्त्रियों को, तथा 'जोइय' योगी पुरुषो को 'थंभइ' स्तब्ध करती है—रोकती है, 'इय' इससे 'तिहुअण अविलंघिआण' तीन जगत् में अनुल्लंघित आज्ञा वाले 'पास सुसामिय' हे पार्श्वनाथ स्वामी 'जय' आपकी जय हो ॥६॥

भावार्थ—आपकी आज्ञा सब प्रकार के उपद्रवियों को उपद्रव करने से रोकती है चाहे वह उपद्रवी देव हो, राक्षस हो, यक्ष हो, फणाधर सर्प हो, चोर हो, अग्नि हो, मेघ हो, मकर आदि जलचर जन्तु हो, सिंह आदि स्थलचारी हिंसक पशु हो, मन्त्र आदि का जानकार योगी या योगिनी हो, कैसा ही समर्थ क्यों न हो। इसीसे पहली गाथा में कहा गया आपका 'त्रिभुवनाविलंघिताज्ञ' रूप विशेषण सार्थक है। हे पार्श्वप्रभो! आपकी जय हो ॥६॥

*पत्थिय-अत्थ अणत्थ-तत्थ. भत्ति-ब्भर-निब्भर।

राक्षसयक्षफणीन्द्रवृन्दचोरानलजलधरान् ॥
जलस्थलचारिरौद्रक्षुद्रपशुयोगिनीयोगिन ।
त्रिभुवनाविलंघिताज्ञ जय पार्श्व सस्वामिन् ॥ ६ ॥

* प्रार्थितार्था अनर्थत्रस्ता भक्तिभरनिर्भरा ।
रोमाञ्चाञ्चितचारुकाया किन्नरनरसुरवराः ॥

रोमंचंचिय-चारु-काय किन्नर-नर-सुर-वर ॥
जसु सेवहि कम-कमल-जुयल, पक्खालिय-कलि-मलु ।
सो भुवण-त्तय-सामि पास, मह मद्दउ रिउ-वलु ॥७॥

अन्वयार्थ—'जसु' जिसके, 'पक्खालियकलिमलु' कलि के मैल को धोने वाले, 'कमकमलजुयल' दोनों चरण कमल की 'पत्थिय-अत्थ' ईप्सित की प्रार्थना करने वाले 'अणत्थतत्थ' अनर्थ से त्रस्त 'भत्तिब्भरनिब्भर' भक्ति से परिपूर्ण 'रोमंचंचियचारुकाय' रोमाञ्च से पुलकित सुन्दर शरीर वाले 'किन्नर' किन्नर-लोक, 'नर' मनुष्य (और) 'सुरवर' उत्तम श्रेणी के देवता-लोक 'सेवहि' सेवा करते हैं 'सो' वह 'भुवण-त्तयसामि' तीनों जगत् के स्वामी 'पास' पार्श्वनाथ भगवान् 'मह' मेरे 'रिउवलु' शत्रु के वल का 'मद्दउ' विनाश करें ॥७॥

भावार्थ—वे श्री पार्श्वनाथ भगवान् मेरे शत्रु-वल का नाश करें जो तीनों जगत् के स्वामी हैं, क्योंकि किन्नर आदि अधोलोक-निवासी देव-गण, मनुष्य आदि मर्त्यलोक-निवासी प्राणिगण और स्वर्ग-निवासी वैमानिक देव-समूह भक्ति से पुलकित होकर अपनी २ ईप्सित सिद्धि के लिये जिसके चरण-कमल की सेवा करते हैं ॥७॥

*जय जोइय-मण-कमल-भसल, भय-पंजर-कुंजर ।
तिहुअण-जण-आणंद-चंद, भुवण-त्तय-दिणयर ॥
जय मइ-मेइणि-वारिवाह, जय-जंतु-पियामह ।
थंभणय-ट्ठिय पासनाह, नाहत्तण कुण मह ॥ ८ ॥

यस्य सेवन्ते क्रमकमलयुगलं प्रक्षालितकलिमलं ।
स भुवनत्रयस्वामी पार्श्वो मम मर्दयतु रिपुबलम् ॥ ७ ॥

* जय योगिमनःकमलभ्रमर, भयपञ्जरकुञ्जर ।
त्रिभुवनजनानन्दचन्द्र, भुवनत्रयदिनकर ॥
जय मतिमेदिनीवारिवाह, जगज्जन्तुपितामह ।
स्तम्भनस्थित पार्श्वनाथ नाथत्वं कुरु मम ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—'जोइय' योगिओं के 'मण' मन रूपी 'कमल' कमल में 'भसल' भ्रमर के समान, 'भयपञ्जरकुञ्जर' भय रूप पञ्जडे को तोडने के लिए हस्ती के तुल्य, 'तिहुअणजणआणंदचंद' तीन जगत् के जीवों को आनन्द देने में चन्द्रमा के समान 'भुवणत्तयदिणयर' तीनों जगत् में सूर्य के समान [आपकी] 'जय' जय हो । 'मइ' बुद्धिरूपी 'मेइणी' भूमि में 'वारिवाह' मेघ के समान 'जयजंतुपियामह' जगत् के जीवों के पितामह [आपकी] 'जय' जय हो । 'थंभणयट्ठिय पासनाह' स्तम्भनपुर में स्थित हे पार्श्वनाथ भगवन् 'मह' मेरे 'नाहत्तण' नाथ-पन को 'कुण' करो ॥८॥

भावार्थ—योगी लोगों के चित्त-कमल में वास करनेके लिए भ्रमर तुल्य, भय रूप पञ्जडे को तोडने में हस्ती के समान, समस्त जगत् को आह्लादित करने में चन्द्र के सदृश, तीनों जगत् के अज्ञान अन्धकार को दूर करने में सूर्य-प्रतिम, बुद्धि रूपी पृथिवी को नव पल्लवित करनेमें मेघ के समान, सकल जीवों के पितामह ऐसे हे पार्श्वप्रभो आपकी निरन्तर जय हो और आप मेरे स्वामी हों ॥८॥

† बहुविह-वन्नु अवन्नु सुन्न, वन्निउ छप्पन्निहि ।
मुक्ख-धम्म-कामत्थ-काम, नर निय-निय-सत्थिहि ॥
जं झायहि बहु दरिसणत्थ, बहु-नाम पसिद्धउ ।
सो जोइय-मण-कमल-भसल, सुहु पास पवद्धउ ॥९॥

अन्वयार्थ—'जोइयमणकमलभसल' योगी लोगों के मन रूप कमल में भ्रमर के समान 'सो' वह 'पास' पार्श्वनाथ भगवान् 'सुहु'

† बहुविधवर्णमवर्णं शून्यं वर्णितं षट्प्रज्ञै-
र्मोक्षधर्मकामार्थकामा नरा निजनिजशास्त्रेषु ।
यं ध्यायन्ति बहुदर्शनस्था बहुनामप्रसिद्धं
स योगिमनःकमलभ्रमरः सुखं पार्श्वः प्रवर्धयतु ॥ ९ ॥

सुख की 'पवड्ढउ' वृद्धि कर, 'जं' जिसको 'छण्पन्निहिं' विद्वान् लोगों ने 'नियनियसत्थिहिं' अपने २ शास्त्रो में 'बहुविहवन्नु' अनेक प्रकार के वर्ण वाला, 'अवन्नु' वर्ण-रहित, [तथा] 'सुन्नु' शून्यरूप 'वन्निउ' वर्णित किया है। [और] 'बहुदरिसणत्था' अनेक दर्शन में स्थित 'मुक्ख-धम्मकामत्थकाम' मोक्ष, धर्म, काम और अर्थ की इच्छा वाले 'नर' मनुष्य 'बहुनामपसिद्धउ' अनेक नामो से प्रसिद्ध [ऐसे जिसका) 'झायहिं' ध्यान करते हैं ॥६॥

भावार्थ—जिस भगवान् को अन्य विद्वानों ने अपने अपने शास्त्रो में अनेक वर्ण वाला—साकार, निराकार और शून्याकार प्रतिपादित किया है, और चारों पुरुषार्थो के अभिलाषी लोग अन्य मतानुयायी होते हुए भी अन्य अन्य नाम से जिस भगवान् का ध्यान करते हैं वह योगिओं के मनमें वसने वाले भगवान् श्री पार्श्वनाथ सुख की वृद्धि करें ॥६॥

*भय-विब्भल रणझणिर-दसणा, थरहरिय-सरीरय।
तरलिय-नयण विसन्न सुन्न, गग्गर-गिर करुणय ॥
तइ सहसत्ति सरंत हुंति, नर नासिय-गुरु-दर।
मह विज्झव सज्झसइं पास, भय-पंजर-कुंजर ॥१०॥

अन्वयार्थ—'भयविब्भल' भय से व्याकुल 'रणझणिरदसण' जिनके दाँत फड़फड़ाने लगे हों 'थरहरियसरीरय' जिनका शरीर काँप उठा हो, 'तरलियनयण' जिनकी आँखें मारे भयके इधर-उधर फड़क रही हो, 'विसण्ण' खेद-युक्त, 'सुन्न' चेतना-वर्जित, 'गग्गरगिर' गद्गद

* भयविह्वला रणज्झणद्दशनाः कम्पितशरीरका-
स्तरलितनयना विषण्णाः शून्या गद्गदगिरः करुणकाः ॥
त्वां सहसेति स्मरन्तो भवन्ति नरा नाशितगुरुदरा
मम विध्यापय साध्वसानि पार्श्व भयपञ्जरकुञ्जर ॥ १० ॥

वाणी वाले, 'करुणय' दीन [ऐसे] 'नर' मनुष्य 'तइ' आपका 'सरत' स्मरण करने पर 'सहस' शीघ्र 'नासियगुरुदर' विषम भय से वर्जित 'हुंति' होते हैं। 'त्ति' इसीसे 'भयपंजरकुंजर' भय रूपी पंजड़े को तोड़ने के लिए 'कुंजर' हस्ती के समान 'पास' हे पार्श्वनाथ भगवन्! 'मह' मेरे 'सज्झसइं' भयों का 'विज्झवउ' नाश कीजिए ॥ १० ॥

भावार्थ—भय से जिनका दाँत खटपट आवाज करने लग गए हैं, जिसका शरीर मारे डर से काँप उठा है, भय से जिनकी आँखें इधर-उधर शरण की ताक में फड़क रही हैं, जो खेद से व्याप्त और किंकर्त्तव्य-मूढ होकर दीन की तरह करुणा-जनक विलाप कर रहे हैं, ऐसे भय-व्याकुल मनुष्य भी आपका चिन्तन करने पर शीघ्र ही भय-मुक्त हो जाते हैं। इसीसे 'भयपंजरकुञ्जर' कहलाने वाले हे पार्श्वनाथ! मेरे भयों का भी अन्त कीजिए ॥ १० ॥

*पइं पासि वियसंत-नित्त-पत्तंत-पवित्तिय-
वाह-पवाह-पवूढ-रूढ-दुह-दाह सुपुलइय ॥
मन्नइ मन्नु सउन्नु पुन्नु, अप्पाणं सुर-नर ।
इय तिहुअण-आणंद-चन्द, जय पास-जिणेसर ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—'पइं' आपका 'पासि' दर्शन कर 'वियसंत' प्रफुल्ल होने वाले 'नित्तपत्तंत' नेत्र-रूप [कमल के] पत्र के प्रान्त भाग में 'पवित्तिय' प्रवृत्त 'वाहपवाह' बाष्प के प्रवाह में 'पवूढरूढदुहदाह' चिरकाल के दुःख रूप दाह को प्रवाहित करने वाले [और] 'सुपुलइय' रोमाञ्चित शरीर वाले 'सुरनर' देव और मनुष्य 'अप्पाणं' अपनी आत्मा को 'मन्नु'

* त्वां दृष्ट्वा विकसन्नेत्रपत्रान्तप्रवर्तित-
बाष्पप्रवाहप्रव्यूढरूढदुःखदाहाः सुपुलकिताः ।
मन्यन्ते मान्यं सपुण्यं पुण्यमात्मानं सुरवराः
इति त्रिभुवनानन्दचन्द्र जय पार्श्वजिनेश्वर ॥ ११ ॥

के नेत्रों को नहीं दिखाने वाले, अत एव तीन जगत में सूर्य के समान, ऐसे हे पार्श्वनाथ! आप मेरे अज्ञान का नाश कीजिए ॥ १३ ॥

*तुह-समरण-जल-वरिस-सित्त, माणव-मइ-मेइणि।
अवरावर-सुहुमत्थ-बोह-कंदल-दल-रेहिणि ॥
जायइ फल-भर-भरिय हरिय-दुह-दाह अणोवम।
इय मइ-मेइणि-वारिवाह, दिस पास मइं मम ॥१४॥

अन्वयार्थ—'तुह' आपके 'समरण' स्मरण-रूप, 'जलवरिस' जल-वृष्टि से 'सित्त' सिंची हुई, 'माणवमइमेइणि' मनुष्य की बुद्धि-रूप पृथिवी 'अवरावर' भिन्न भिन्न प्रकार के 'सुहुमत्थबोह' सूक्ष्म अर्थों के ज्ञान-रूप 'कंदलदल' अङ्कुर और पत्रों से 'रेहिणि' शोभने वाली, 'फल-भरभरिय' फलों के समूह से परिपूर्ण, 'हरियदुहदाह' दुःख-दाह का नाश करने वाली [और] 'अणोवम' उपमा-रहित 'जायइ' होती है। 'इय' इस कारण से 'मइमेइणिवारिवाह' बुद्धि-रूपी पृथिवी के लिए मेघ के तुल्य 'पास' हे पार्श्व प्रभो! 'मम' मुझे 'मइं' ज्ञान 'दिस' दीजिए ॥१४॥

भावार्थ—हे पार्श्वप्रभो! आप सचमुच बुद्धि-रूपी पृथिवी को नव-पल्लवित करने के लिए मेघ के समान हैं, क्योंकि आपके स्मरण-रूपी जल-वर्षा से मनुष्यों की बुद्धि-रूपी अनुपम पृथिवी भिन्न भिन्न प्रकार के सूक्ष्मार्थ-ज्ञान-रूपी अंकुर और पत्रों को तथा विरति-आदि फलों को पैदा करती है और दुःख-रूपी दाह का नाश करती है। इस-से हे भगवन्! मुझे भी ज्ञान दीजिए ॥ १४ ॥

---

*त्वत्स्मरणजलवर्षसिक्ता मानवमतिमेदिनी,
अपरापरसूक्ष्मार्थबोधकन्दलदलराजिनी।
जायते फलभरभरिता हतदुःखदाहाऽनुपमा,
इति मतिमेदिनीवारिवाह दिश पार्श्व मतिं मम ॥ १४ ॥

*कय-अविकल-कल्लाण-वल्लि, उल्लूरिय-दुह-वणु ।
दाविय-सग्गपवग्ग-मग्ग, दुग्गइ-गम-वारण ॥
जय-जन्तुह जणएण तुल्ल, जं जणिय हियावहु ।
रम्मु धम्मु सो जयउ पासु, जय-जन्तु-पियामहु ॥१५॥

अन्वयार्थ—'ज' जिसने 'कयअविकलकल्लाणवल्लि' संपूर्ण कल्याण रूपी वल्लीओं को उत्पन्न करने वाले, 'उल्लूरियदुहवणु' दुःख-रूपी वनों को उखाडने वाले, 'दावियसग्गपवग्गमग्ग' स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को दिखलाने वाले, 'दुग्गइगमवारणु' दुर्गति में होने वाले गमन को रोकने वाले, 'जयजंतुह' जगत् के जंतुओं को 'जणएण' पिता के तुल्य 'हियावहु' हित-कारक, 'रम्मु' सुन्दर [ऐसे] 'धम्मु' धर्म को 'जणिय' उत्पन्न किया है, 'सो' वह 'जयजंतुपियामहु' जगत-जीवों के पितामह के समान 'पासु' पार्श्वनाथ भगवान् 'जयउ' जयवंत हों ॥ १५ ॥

भावार्थ—जिसने जगत् के जीवों का अविकल कल्याण किया है, उनके दुःखों का नाश किया है, उनको स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बतलाया है, उनको दुर्गति में गिरने से रोका है, वह हितकारक धर्म सचमुच पिता के ही तुल्य है, क्योंकि पिता भी पुत्र का कल्याण करता है, दुःख का नाश करता है, सन्मार्ग दिखलाता है और असन्मार्ग से हटाता है। ऐसे सुन्दर धर्म के भी जो जन्म दाता हैं उन पिता के पिता श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की जय हो ॥ १५ ॥

---

* कृताविकलकल्याणवल्लिरुच्छिन्नदुःखवनो
दर्शितस्वर्गापवर्गमार्गो दुर्गतिगमनवारणः ।
जगज्जन्तूनां जनकेन तुल्यो येन जनितो हितावहो
रम्यो धर्मः स जयतु पार्श्वो जगज्जन्तुपितामहः ॥१५॥

इय मइ मा अवहीरि पास, पालिहि विलवंतउ ॥१८॥

अन्वयार्थ—'देव' हे भगवन्! 'मह' मेरा 'तरलु' चंचल 'मणु' मन 'पमाणु' प्रमाणभूत 'नेय' नहीं है, 'विसंठुलु' अव्यवस्थित 'वायावि' वाणी भी 'नेय' [प्रमाण] नहीं है, 'अविणयसहावु' विनय-रहित [और] 'अलसविहलंघलु' आलस्य से विह्वल 'तणुरवि' शरीर भी [नेव—प्रमाणभूत नहीं है, परन्तु] 'तुह' आप का 'कारुण्ण पवित्तउ' दया से पवित्र 'माहप्पु' माहात्म्य—प्रभाव 'पमाणु' प्रमाण है। 'इय' इस कारण 'पास' हे पार्श्वप्रभो! 'विलंवतउ' विलाप करते हुए 'मइ' मेरी 'मा' मत 'अवहीरि' अवहेलना कीजिए [किन्तु] 'पालहि' मेरा पालन कीजिए ॥ १८ ॥

भावार्थ—हे प्रभो! मेरा मन, वचन और काया ये तीनों ही अप्रमाण हैं क्योंकि मन चंचल है, वाणी अव्यवस्थित है और शरीर अविनीत और आलसी है, किन्तु आपका दया से पवित्र माहात्म्य ही प्रमाण हैं। इसीसे मुझ दीन की उपेक्षा न कर पालन कीजिए ॥ १८ ॥

*किं किं कप्पिउ नय कलुणु, किं किं व न जंपिउ।
किं व न चिट्ठिउ किट्ठु देव, दीणयमवलंबिउ ॥
कासु न किय निप्फल्ल लल्लि, अम्हेहि दुहत्तिहि।
तहवि न पत्तउ ताणु किंपि, पइ पहु परिचत्तिहि ॥१९॥

अन्वयार्थ—'पहु' हे प्रभो! 'पइ' आपसे 'परिचत्तिहि' परि-

इति मां माऽवधीरय पार्श्व पालय विलपन्तम् ॥१८॥

* किं किं कल्पितं नच करुणं किं किं वा न जल्पितं
किं वा न चेष्टितं क्लिष्टं देव दीनतामवलम्ब्य।
केषु न कृतं निष्फलं चाटु अस्माभिर्दुःखार्तै—
स्तथापि न प्राप्तं त्राणं किमपि त्वया प्रभो परित्यक्तैः ॥१९॥

त्यक 'दुहत्तिहिं' दु ख से पीडित 'अम्हेहिं' हमने 'किं किं' क्या क्या 'कलुणु' दीनता युक्त 'नय' नहीं 'कप्पिउ' चिन्तन किया ? 'व' और 'किं किं' क्या क्या 'न' नहीं 'जपिउ' उच्चारण किया ? 'व' और 'किं' कौनसा 'किट्ठ' क्लेशप्रद 'न चिट्ठिउ' अनुष्ठान नहीं किया ? 'देव' हे भगवन्! 'दीणय' दीनता का 'अवलंबिउ' अवलम्बन करके 'कासु' किसकी 'निप्फल्ल' निष्फल 'ल्लि' खुशामद 'न किय' नहीं की ? 'तहवि' तथापि 'किंपि' कुछ भी 'ताणु' शरण 'न पत्तउ' नहीं प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

भावार्थ—हे पार्श्वदेव ! आप के शरण से रहित होनेसे दु खी हो कर हमने क्या क्या दीनता-गर्भित चिन्तन न किया ? क्या क्या वचन न बोला और कौन-कौन सी कायिक चेष्टाएँ न की, दीनता से किस किस-की व्यर्थ खुशामद न की, अर्थात् सब कुछ मानसिक, वाचिक और कायिक प्रयत्न किये, परन्तु कोई भी उन दु खो से बचाने वाला न मिला ॥ १६ ॥

तुहु सामिउ तुहु मायवप्पु, तुहु मित्त पियंकरु ।
तुहु गइ तुहु मइ तुहुजि ताणु, तुहु गुरु खेमंकरु ॥
हउ दुहभरभारिउ वराउ, राउ निब्भग्गह ।
लीणउ तुह कम कमल-सरणु, जिण पालहि चंगह।२०।

अन्वयार्थ—'तुहु' आप 'सामिउ' स्वामी हैं, 'तुहु' आप 'मायवप्पु' मातापिता हैं, 'तुहु' आप 'पियंकरु' इष्ट कारक 'मित्त'

---

† त्वं स्वामी त्वं मातापितरौ त्वं मित्रं प्रियंकरः,
त्वं गतिस्त्वं मतिस्त्वमेव त्राणं त्वं गुरुः क्षेमंकरः ।
अहं दुःखभरभारितो वराको राजा निर्भाग्यानां,
लीनस्तव क्रमकमलं शरणं जिन पालयोत्कृष्टानाम् ॥ २० ॥

मित्र हैं, 'तुह्' आप 'गइ' गति है, 'तुह्' आप 'मइ' मति-बुद्धि है, 'तुहु जि' आप ही 'ताणु' त्राण—रक्षण-कर्ता हैं, 'तुहु' आप 'खेमंकरु' कल्याण करने वाले गुरु' गुरु-देव हैं। [और] 'हउ' मैं 'दुहभरभारिउ' दुःख के बोझ से लदा हुआ हूँ, 'वराउ' गरीब हूँ, 'चंगह' उत्कृष्ट 'निब्भग्गह' भाग्य-हीनों का 'राउ' राजा हूँ । [इससे] 'जिण' हे जिन-देव ! 'तुह' आपके 'कम-कमल' चरण-कमल के 'सरण' शरण में 'लीणउ' लीन हुआ हूँ, 'पालहि' मेरा रक्षण कीजिए ॥ २० ॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आप स्वामी हैं, मातापिता हैं, मित्र हैं, गति हैं—रक्षाके अनन्य उपाय हैं, मति-प्रद हैं, त्राण हैं, तथा गुरु हैं, और मैं भारी दुःखी, गरीब और बड़ा ही निर्भाग्य हूँ, आप के चरण-कमल में ही लीन हूँ, शरण दीजिए और मेरी रक्षा कीजिए ॥ २० ॥

***पइ किवि कय नीरोय लोय, किवि पाविय सुहसय ।**
किवि मइमंत महंत केवि, किवि साहिय-सिव-पय ।
किवि गंजिय-रिउ-वग्ग केवि, जस-धवलिय-भू-यल
मइ अवहीरहि केण पास, सरणागय-वच्छल ॥२१॥

अन्वयार्थ—'सरणागयवच्छल' शरण में आये हुए की रक्षा करने वाले 'पास' हे पार्श्वनाथ भगवन् ! 'पइ' आपने 'किवि' कई 'लोय' लोगों को 'नीरोय' रोग-रहित 'कय' किये, 'किवि' कइओंको 'सुहसय' सैकड़ो सुख, 'पाविय' प्राप्त करवाये; 'किवि' कइओंको 'मइमंत' बुद्धिमान् [किये], 'केवि' कइओं को 'महंत' बड़े [किये],

* त्वया केऽपि कृता नीरोगा लोकाः केऽपि प्रापिताः सुखशतं,
केऽपि मतिमन्तो महान्तः केऽपि केऽपि साधिताशिवपदाः ।
केऽपि गञ्जितरिपुवर्गाः केऽपि यशोधवलितभूतलाः,
मामवधीरयसि केन पार्श्व शरणागतवत्सल ॥ २१ ॥

'कइ' कई लोगों को 'साहियसिवपय' मोक्ष पद की साधना करवाई, 'किवि' कई लोगों को 'असधवलियभूयल' यशस्वी बनाये; फिर 'मइ' मेरी 'केण' किस कारण से 'अवहीरहि' अवहेलना करते हो? ॥२१॥

भावार्थ—हे पार्श्वप्रभो! आप शरण में आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाले हो, क्योंकि आपने कई रोगिओं को नीरोग किये हैं, कई सुखार्थिओं को सैकडो सुख दिये हैं, अनेक बुद्धि-रहित जीवों को बुद्धि दी है, कई छोटे जोवों को बडे बनाये हैं, कई लोगों को मुक्ति दी है, अनेकों के शत्रुओं को पराभूत किये हैं, और अनेक लोगो को यशस्वी बनाये हैं, फिर मेरी ही अवहेलना क्यों की जाती है? ॥२१

*पच्चुवयार-निरीह नाह, निप्फन्न-पत्रोयण।
तुह जिण पास परोवयार-करणिक परायण॥
सत्तु-मित्त-सम-चित्त-वित्ति, नय-निंदय-सम-मण।
मा अवहीरय अजुग्गउवि, मइं पास निरंजण॥२२॥

अन्वयार्थ—'पच्चुवयारनिरीह' प्रत्युपकार की इच्छा नहीं रखने वाले, 'निप्फन्नपओयण' कृतार्थ, 'परोवयारकरणिक्कपरायण' दूसरे का हित करने में तत्पर, 'सत्तुमित्तसमचित्तवित्ति' शत्रु और मित्रों में समान मन वाले 'नयनिंदयसममण' नत और निन्दक में समान मन वाले 'निरंजण' पाप-रहित [ऐसे] 'जिण पास नाह' हे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र! 'तुह' आप 'मइं' मुझ 'अजुग्गउवि' नालायक को, 'मा' मत 'अवहीरय' अवहेलना कीजिए, [किन्तु मुझे भी] 'पास' देखिए॥ २२॥

---

* प्रत्युपकारानिरीह नाथ निष्पन्नप्रयोजन,
त्वं जिन पार्श्व परोपकारकरणैकपरायण।
शत्रुमित्रसमचित्तवृत्ते नतनिन्दकसममनो,
माऽवधीरयायोग्यमपि मां पार्श्व निरञ्जन॥ २२॥

भावार्थ—प्रत्युपकार की इच्छा नहीं रखनेवाले, कृतकृत्य, परोपकार में तत्पर, शत्रु और मित्र, नत और निन्दक दोनों की तरफ समान मनवाले ऐसे हे पार्श्वनाथ जिनेश्वर! मेरी अवहेलना मत कीजिए, किन्तु इस नालायककी पर भी कृपा-दृष्टि कीजिए ॥ २२ ॥

†हउ बहुविह-दुह-तत्त-गत्तु-तुहु दुह-नासण-परु ।
हउ सुयणह करुणिक्क-ठाणु, तुहु निरु करुणाकरु ॥
हउ जिण पास असामि-सालु, तुहु तिहुअण-सामिय ।
जं अवहीरहि मइं झखंत, इय पास न सोहिय॥२३॥

अन्वयार्थ—'जिणपास' हे पार्श्व जिन! 'हउ' मै 'बहुविह' अनेक प्रकार के 'दुह' दुःखों से 'तत्त-गत्त' पीड़ित शरीर वाला हूँ [और] 'तुहु' आप 'दुहनासणपरु' दुःखों के नाश करने में तत्पर हो; 'हउ' मैं 'सुयणह' सज्जनोंकी 'करुणिक्कठाणु' कृपा का एकमात्र पात्र हूँ [और] 'तुहु' आप 'निरु' केवल 'करुणाकरु' दया करने वाले हैं; 'हउ' मैं 'असामिसालु' नाथ-रहित—अनाथ हूँ [और] 'तुहु' आप 'तिहुअणसामिय' तीनों जगत् के नाथ हो; [ऐसा होने पर भी] 'पास' हे पार्श्वप्रभो! 'झखंत' विलाप करते हुए 'मइं' मेरी 'जं' जो 'अवहीरहि' अवहेलना की जाती है 'इय' यह 'सोहिय' शोभाप्रद 'न' नहीं है॥ २३ ॥

भावार्थ—पार्श्वजिन! मैं अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हूँ और आप दुःख-नाश में तत्पर है। मैं उत्तम पुरुषों की कृपा का पात्र हूँ और आप करुणा-निधान हैं, मैं अनाथ हूँ और आप तीन

† अहं बहुविधदुःखतप्तगात्रस्त्वं दुःखनाशनपरो-
ऽहं सुजनानां करुणैकस्थानं त्वं केवलं करुणाकरः ।
अहं जिन पार्श्व अस्वामिशालस्त्वं त्रिभुवनस्वामी,
यदवधीरयसि मां विलपन्तमिति पार्श्व न शोभितम् ॥२३॥

जगत के नाथ हैं, ऐसा होने पर भी हे प्रभो! जो मेरी अवहेलना की जाती है वह आपके लिये शोभाप्रद नहीं है ॥ २३ ॥

†जुग्गाऽजुग्ग-विभाग नाह, न हु जोयहि तुह-सम।
भुवणुवयार-सहाव भाव-करुणा-रस-सत्तम ॥
सम-विसमइं किं घणु नियइ, भुवि दाह समंतउ।
इय दुहि-बंधव पास-नाह, मइ पाल थुणंतउ ॥२४॥

अन्वयार्थ—'भुवणुवयारसहाव' संसार पर उपकार करने की प्रकृति वाले, 'भावकरुणारससत्तम' वास्तविक दया-रस से श्रेष्ठ [ऐसे] 'नाह' हे नाथ! 'तुह' आप के 'सम' समान [श्रेष्ठ लोक] 'जुग्गाजुग्ग-विभाग' योग्य और अयोग्य का भेद 'हु' कभी 'न' नहीं 'जोयहि' देखते हैं। 'भुवि' जगत् में 'दाह' दाह को 'समतउ' समाता हुआ 'घणु' मेघ 'किं' क्या 'समविसमइं' सम और विषम भाग को 'नियइ' देखता है? 'इय' इस प्रकार 'दुहिबंधव' हे दुःखियों के बन्धु 'पासनाह' पार्श्वनाथ भगवन्! 'थुणंतउ' [आपकी] स्तुति करने वाले 'मइ' मेरी 'पाल' रक्षा कीजिए ॥ २४ ॥

भावार्थ—संसार को उपकार करना ही जिसका एकमात्र स्वभाव है और जो सच्ची दया के करने वाले हैं ऐसे हे पार्श्व प्रभो! आप जैसे उत्तम लोक, योग्य अयोग्य का विभाग नहीं करते हैं, अर्थात् योग्य का ही उपकार करना और अयोग्य का भला न करना ऐसा भेद उत्तम लोक नहीं रखते हैं; मेघ जब बरसने लगता है और जगत् की गरमी

---

† योग्यायोग्यविभागं नाथ न खलु पश्यन्ति त्वत्समाः,
भुवनोपकारस्वभाव भावकरुणारससत्तमाः।
समविषमाणि किं घनः पश्यति भुवि दाहं शमयन्
इति दुःखिबान्धव पार्श्वनाथ मां पालय स्तुवन्तम् ॥२४॥

को शान्त करने लगता है तब क्या सम-विषम—ऊँच-नीच-देखता है? अर्थात् ऊँच-नीच का भेद न रख कर सर्वत्र समान भाव से वर्षा करता है। इसी तरह हे दुःखिओं के बन्धु पार्श्वदेव! इस स्तुतिकार की भी रक्षा कीजिए ॥ २४ ॥

†नय दीणह दीणयं मुयवि, अन्नु वि किवि जुग्गय ।
जं जोइवि उवयार करहि, उवयार-समुज्जय ॥
दीणह दीण निहीणु जेण, तइ नाहिण चत्तउ ।
तो जुग्गउ अहमेव पास, पालहि मइ चंगउ ॥२५॥

अन्वयार्थ—'दीणयं' दीनता को 'मुयवि' छोड़कर 'दीणह' दीन जनों की 'अन्नुवि किवि' दूसरी कोई भी 'जुग्गय' योग्यता 'नय' नहीं है, 'जं' जिसको 'जोइवि' देखकर 'उवयार' उपकार 'करहि' करें। 'दीणह' दीन जनों में 'दीण' दीन, 'निहीणु' निःसत्त्व [और] 'जेण' जिस कारण से 'तइ नाहिण' आप जैसे स्वामीने 'चत्तउ' त्यक्त किया है 'तो' इससे 'अहमेव' मैं ही 'जुग्गउ' योग्य हूँ, 'पास' हे पार्श्वप्रभो! 'मइ' मेरा 'चंगउ' अच्छी तरह 'पालहि' पालन कीजिए ॥ २५ ॥

भावार्थ—दीनता को छोड़कर दूसरी कोई भी योग्यता दीन लोगों की नही होती, जिसको देखकर उपकारी लोग उपकार करें। हे प्रभो! जब आपने मुझे छोड़ दिया है तो मैं ही अत्यन्त दीन और निःसत्त्व होने के कारण सर्वथा योग्य हूँ। हे पार्श्वदेव! मेरा पालन अच्छी तरह कीजिए ॥ २५ ॥

---

† न च दीनानां दीनतां मुक्त्वाऽन्यापि कापि योग्यता,
यां दृष्ट्वोपकारं कुर्वन्ति उपकारसमुद्यताः ।
दीनानां दीनो निहीनो येन त्वया नाथेन त्यक्त-
स्ततो योग्योऽहमेव पार्श्व पालय मां भद्रम् ॥ २५ ॥

*अह अन्नुवि जुग्गय-विसेसु किवि मन्नहि दीणह।
जं पासिवि उवयारु करइ, तुहु नाह समग्गह॥
सुच्चिय किल कल्लाणु जेण, जिण तुम्ह पसीयह।
किं अन्निण तं चेव देव, मा मइ अवहीरह॥२६॥

अन्वयार्थ—'नाह' हे प्रभो! 'अह' यदि 'दीणह' दीन जनों की 'अन्नुवि दीनता के सिवाय और 'जुग्गयविसेसु किवि' कोई योग्यता 'मन्नहि' आप मानते हों 'जं' जिसे 'पासिवि' देखकर 'तुह' आप 'समग्गह' सब लोग पर 'उवयारु' उपकार 'करह' करते हों, [तो] 'जिण' हे जिनदेव! 'सुच्चिय' वही 'किल' निश्चय से 'कल्लाणु' अच्छा है 'जेण' जिससे 'तुम्ह' आप 'पसीयह' प्रसन्न होते हों, 'तं चेव' वही [कीजिए], 'किं अन्निण' दूसरे से क्या? 'देव' हे प्रभो! 'मइ' मेरी 'मा' मत 'अवहीरह' अवहेलना कीजिए॥ २६॥

भावार्थ—हे प्रभो! यदि दीनता के सिवाय दीनजनों की योग्यता और भी कोई हो जिसे देखकर आप और लोगों पर उपकार करते हों तो मुझे भी वही योग्यता दीजिए, क्योंकि मेरे लिए तो वही अच्छा है जिससे आप प्रसन्न होते हों, दूसरे से क्या? हे प्रभो! मेरी उपेक्षा मत कीजिए॥ २६॥

तुह पत्थण न हु होइ विहलु, जिण जाणउ किं पुण।
हउ दुक्खिय निरु सत्त-चत्त, दुक्कहु उस्सुय-मण॥

* अथान्यमपि योग्यताविशेषं कमपि मन्यसे दीनानां
यं दृष्ट्वोपकारं करोषि त्वं नाथ समग्राणाम्।
स एव किल कल्याणं येन जिन यूयं प्रसीदथ
किमन्येन तदेव देव मा मामवधीरय॥ २६॥

† तव प्रार्थना न खलु भवति विफला जिन जानामि किं पुन-
रहं दुःखित केवलं सत्त्वत्यागोद्यमी उत्सुकमना।

तं मन्नउ निमिसेण एउ, एउ वि जइ लब्भइ ।
सच्चं जं भुक्खिय-वसेण, किं उंबरु पच्चइ ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—'जिण' हे जिनदेव ! 'जाणउ' मैं जानता हूं कि 'तुह' आपकी की हुई 'पत्थण' प्रार्थना 'विहलु' निष्फल 'न हु' नहीं 'होइ' होती है, 'किंवुण' किंतु 'हउ' मैं 'निरु' केवल 'दुक्खिय' दुःखी, 'सत्तवत्त' निःसत्त्व, 'दुकहु' रुचि-रहित [और] 'उस्सुयमण' [फल के लिए] उत्कण्ठित हूँ । 'तं' इससे 'मन्नउ' मानता हूं कि 'जइ' सायत 'एउ एउवि' यह भी [शुद्ध चारित्र और मुक्ति भी] 'निमिसेण' एक क्षण में ही 'लब्भइ' प्राप्त हो सकती है । 'जं' यह [किंवदन्ती] 'सच्चं' सत्य है कि 'किं' क्या 'भुक्खियवसेण' बुभुक्षित होने के कारण 'उंबरु' कठरे का फल 'पच्चइ' पक जाता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं यह जानता हूँ कि आपको की हुई प्रार्थना निष्फल नहीं जाती, समय पर जरूर फल देती है, किन्तु मैं अत्यन्त दुःखी और दुर्बल होने के कारण फल के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित—व्यग्र हूँ; और इसी व्यग्रता के कारण ही यह मान लेता हूं कि इसी क्षण में प्रार्थना का चारित्र-शुद्धि और अपवर्ग आदि फल मिल जाँय । यद्यपि यह मानी हुई बात है कि आप से मेरे ईप्सित फल की प्राप्ति समय पर ही होगी, बुभुक्षित होने के कारण 'ही उदुम्बर शीघ्र नहीं पकता, वह उसके समय पर ही पकता है, किन्तु पकता अवश्य है, इसी तरह आप से भी मुझे फल की प्राप्ति समय पर जरूर होगी, किन्तु व्यग्रता के कारण ही मैं इसी समय उसकी प्रार्थना करता हूं ॥ २७ ॥

तन्मन्ये निमेषेणैतदेतदपि यदि लभ्यते
सत्यं यद् बुभुक्षितवशेन किमुदुम्बरं पच्यते ? ॥ २७ ॥

†तिहुअण-सामिय पासनाह, मइ अप्पु पयासिउ ।
किज्जउ जं निय-रूव-सरिसु, न मुणउ बहु जंपिउ ॥
अन्नु न जिण जगि तुह समोवि, दक्खिन्न-दयासउ ।
जइ अवगन्नसि तुह जि अहह, कह होसु हयासउ ॥२८॥

अन्वयार्थ—'तिहुअणसामिय' हे तीन जगत के स्वामी 'पासनाह' पार्श्वनाथ भगवन् ! 'मइ' मैंने 'अप्पु' मेरी आत्मा 'पयासिउ' प्रकाशित की। 'जं' जो 'नियरूवसरिसु' आपके स्वभाव के उचित हो सो, 'किज्जउ' कीजिए, 'बहु' बहुत 'जंपिउ' कहने को 'न मुणउ' मैं नहीं जानता। 'जिण' हे जिनदेव ! 'तुह' आपके 'समोवि' समान भी (अधिक की तो बात ही क्या) 'दक्खिन्नदयासउ' दाक्षिण्य और दया वाला, 'जगि' जगत् में 'न अन्नु' दूसरा कोई नहीं है, [इससे] 'जइ' यदि 'तुह जि' आप ही 'अवगन्नसि' (मेरी) अवगणना करेंगे [तो] 'अहह' हाय ! 'हयासउ' (मुझ) हताश की 'कह होसु' क्या गति होगी ? ॥ २८ ॥

भावार्थ—हे त्रिभुवन-स्वामी पार्श्वनाथ ! मुझे जो कुछ कहना था सो आपकी सेवा में निवेदन कर दिया, अब आपके स्वभाव को जो उचित हो सो कीजिए, क्योंकि ज्यादह बोलना मैं नहीं जानता। हे प्रभो ! आपके समान दाक्षिण्य और दया वाला जगत् में अन्य कोई नहीं है, यदि आप ही मेरी अवगणना करेंगे तो हाय ! मुझ हताश की क्या गति होगी ? ॥ २८ ॥

---

† त्रिभुवनस्वामिन् पार्श्वनाथ मयाऽऽत्मा प्रकाशितः
क्रियतां यन्निजरूपसदृशं न जानामि बहु जल्पितुम् ।
अन्यो न जिन जगति तव समोऽपि दाक्षिण्यदयाश्रयो
यद्यवगणयसि त्वमेवाहह कथं भविष्यामि हताशकः ॥२८॥

†जइ तुह रूविण किणवि पेय-पाइण वेलवियउ।
तुवि जाणउ जिण पास तुम्हि, हउं अंगीकरउ ॥
इय मह इच्छिउ जं न होइ, सा तुह ओहावणु।
रक्खंतह निय-कित्ति णेय, जुज्जइ अवहीरणु ॥२६॥

अन्वयार्थ—'पासजिण' हे पार्श्व जिन! 'जइ' यद्यपि, 'किणवि' किसी 'पेयपाइण' प्रेतप्राय ने, 'तुह' आपके 'रूविण' रूप से 'वेलवियउ' मुझे ठगा है.'तुवि' तोभी 'जाणउ' मैं जानता हूँ कि 'तुम्हि' आपने 'हउं' मेरा 'अंगीकरिउ' अंगीकार किया है। 'इय' इससे 'मह' मेरा 'इच्छिउ' ईप्सित 'जं' जो 'न होइ' (सिद्ध) नही होता 'सा' वह 'तुह' आपका 'ओहावणु' लघुता है। 'नियकित्ति' अपनी कीर्त्ति की 'रक्खंतह' रक्षा करते हुए (आपको) 'अवहीरणु' (मेरी) अवहेलना 'णेय जुज्जइ' योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

भावार्थ—हे पार्श्वप्रभो! यद्यपि पार्श्वयक्ष आदि किसी व्यन्तर-देवने आपका रूप दिखला कर मुझे ठगा है, तोभी यह मैं मानता हूँ कि आपने मेरा स्वीकार किया है। अव यदि मेरा ईप्सित सिद्ध न हो तो वह आपकी ही न्यूनता है; यदि 'आप आश्रितों के वत्सल हैं' ऐसी अपनी कीर्त्ति बचानी हो तो मेरी अवहेलना करना योग्य नही हैं ॥ २६ ॥

*एह महारिय जत्त देव, इहु न्हवण-महूसउ।
जं अणलिय-गुण-गहण तुम्ह,मुणि-जण-अणिसिद्धउ॥

---

† यदि तव रूपेण केनापि प्रेतप्रायेण वञ्चित-
स्ततोऽपि जानामि जिन पार्श्व त्वयाऽहमङ्गीकृतः।
इति ममेप्सितं यन्न भवति सा तवापहापनं
रक्षतो निजकीर्तिं नैव युज्यतेऽवधीरणम् ॥ २६ ॥
एषा मदीया यात्रा देव एष स्नपनमहोत्सवो
यदनलीकगुणग्रहणं तव मुनिजनानिषिद्धम् ।

एम पसीअसु पास-नाह, थंभणयपुर-ट्ठिय ।
इय मुणिवरु सिरि अभयदेउ, विन्नवइ अणिंदिय॥३०॥

अन्वयार्थ—'देव' हे भगवन्! 'तुम्ह' आपका 'जं' जो 'मुणिजणअणिसिद्धउ' मुनि लोगों से अनिषिद्ध—अनुमोदित 'अणलियगुणगहण' सत्य गुणों का ग्रहण—स्तवन (जो मैंने किया है) 'एह' यही 'महारिय' मेरी 'जत्त' यात्रा है [और] 'इहु' यही 'न्हवणमहूसउ' स्नपन-महोत्सव है। 'एम' ऐसा होने पर 'थंभणयपुरट्ठिय' हे स्तम्भनपुर में स्थित 'पासनाह' पार्श्वनाथ! पसीअसु' प्रसाद कीजिए। 'इय' इस तरह 'अणिंदिय' अनिन्दित 'मुणिवरु' आचार्य सिरिअभयदेउ' श्रीअभयदेव 'विन्नवइ' प्रार्थना करता है॥ ३०॥

भावार्थ—हे प्रभो! आपका मैंने जो यह मुनिजनानुमोदित गुणानुवाद किया है वही मेरी यात्रा है और वही मत्कृत आप का स्नपन महोत्सव है। हे स्तम्भनपुराधीश पार्श्वप्रभो! मुझ पर प्रसन्न होइए। इस तरह श्रीअभयदेवसूरि आपकी प्रार्थना करता है॥३०॥

३६—जय महायस।

†जय महायस जय महायस जय महाभाग जय चिंतिय-सुह-फलय, जय समत्थ-परमत्थ-जाणय जय जय गुरु-गरिम गुरु। जय दुहत्त-सत्ताण ताणय थंभणय-ट्ठिय पास-जिण, भवियह भीम-भवुत्थु भय अवणिं-ताणंतगुण, तुज्झ ति संझ नमोत्थु॥१॥

एवं प्रसीद पार्श्वनाथ स्तम्भनपुरस्थित
इति मुनिवर श्रीअभयदेवो विज्ञपयत्यनिन्दित ॥३०॥

† जय महायशो जय महायशो जय महाभाग जय चिन्तितशुभफलद,
जय समस्तपरमार्थज्ञायक जय जय गुरुगरिम गुरो।
जय दुःखार्तसत्त्वानां त्रायक स्तम्भनस्थित पार्श्वजिन,
भव्यानां भीमभवोत्थ भयमपनायकानन्तगुण, तुभ्यं त्रिसन्ध्यं नमोऽस्तु ॥१॥

अन्वयार्थ—'जय महायस जय महायस' हे महायशस्विन्! तेरी जय हो जय हो। 'महाभाग' हे महाभाग्यशालिन्! 'जय' तेरी जय हो। 'चिंतियसुहफलय' हे चिन्तित शुभ-फल के दायक! 'जय' तेरी जय हो। 'समत्थपरमत्थजाणय' हे समस्त तत्त्वों के जानकार! 'जय' तेरी जय हो। 'गुरुगरिम गुरु' हे श्रेष्ठ गौरव वाले गुरो! 'जय जय' तेरी जय हो, जय हो। 'दुहत्तसत्ताण ताणय' हे दुःखित जीवों के रक्षक! 'जय' तेरी जय हो। 'भवियह' भविक जीवों के 'भीम भवुत्थु भय' भयंकर संसार में उत्पन्न भय को 'अवणिंत' दूर करने वाले, 'अणंतगुण' अनन्त गुण वाले [ऐसे] 'थंभणयट्ठिय पासजिण' स्तम्भनपुर में स्थित हे पार्श्व जिन! 'तुज्झ' तुझको 'तिसंझ' तीनों संध्याओं के वक्त 'नमोत्थु' नमस्कार हो॥ १॥

भावार्थ—हे महायशस्विन्! हे महाभाग! हे चिन्तित शुभ-फल के दायक! हे समस्त तत्वों के जानकार! हे श्रेष्ठ गौरवान्वित गुरो! हे दुःखित जीवों के रक्षक! तेरी जय हो, जय हो, वार वार जय हो। भव्य जीवों के भयानक संसार-सम्बन्धी भय को हटानेवाले, अनन्तगुणों के धारक ऐसे हे स्तम्भन-पार्श्वनाथ! तुझको तीनों संध्याओं के समय नमस्कार हो॥ २॥

४०—श्रुतदेवता की स्तुति।

सुवर्ण-शालिनी देयाद्, द्वादशाङ्गी जिनोद्भवा।
श्रुतदेवी सदा मह्य—मशेष-श्रुत-संपदम्॥१॥

अन्वयार्थ—'जिनोद्भवा' जिन भगवान् से उत्पन्न 'द्वादशाङ्गी' बारह अङ्ग-रूपी 'सुवर्णशालिनी' सुन्दर वर्णवाली 'श्रुतदेवी' श्रुतदेवता 'मह्यम्' मुझे 'सदा' हमेशा 'अशेषश्रुतसंपदम्' सकल शास्त्रों की संपत्ति 'देयात्' देवें॥ १॥

भावार्थ—जिनेन्द्र की कही हुई वह श्रुत देवता जो सुन्दर-

वर्ण'—अक्षरों वाली है तथा बारह अङ्ग-ग्रन्थों में विभक्त है, मुझे हमेशा सकल शास्त्रों की सम्पत्ति—रहस्य देती रहे ॥ १ ॥

४१—क्षेत्र-देवता की स्तुति ।

यासां क्षेत्र-गताः सन्ति, साधवः श्रावकादयः ।
जिनाज्ञां साधयन्तस्ता रक्षन्तु क्षेत्र-देवताः ॥१॥

अन्वयार्थ— 'यासां' जिनके 'क्षेत्रगताः' क्षेत्र में स्थित 'साधवः' साधु-लोग [तथा] 'श्रावकादयः' श्रावक आदि 'जिनाज्ञां' जिन भगवान् की आज्ञा का 'साधयन्तः सन्ति' पालन करते हैं, 'ताः' वे 'क्षेत्र-देवताः' क्षेत्रदेवताएँ 'रक्षन्तु' रक्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जिनके क्षेत्र में रह कर साधु तथा श्रावक आदि, जिन-भगवान् की आज्ञा पालते हैं, वे क्षेत्रदेवताएँ हमारी रक्षा करें ॥१॥

४२—नमोऽस्तु वर्धमानाय ।

*** इच्छामो अणुसट्ठिं, णमो खमासमणाणं ।**

अर्थ—हम 'अणुसट्ठिं' गुरु आज्ञा 'इच्छामो' चाहते हैं । 'खमासमणाणं' क्षमाश्रमणों को 'णमो' नमस्कार हो ।

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयावाप्तमोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'कर्मणा' कर्म से 'स्पर्धमानाय' मुकाबिला करने वाले, और अन्त में 'तज्जयावाप्तमोक्षाय' उस पर विजय पाकर मोक्ष पाने वाले, तथा 'कुतीर्थिनाम्' मिथ्यात्वियों के लिये 'परोक्षाय' अगम्य, ऐसे 'वर्धमानाय' श्रीमहावीर को 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥१॥

भावार्थ—जो कर्म-वैरियों के साथ लड़ते लड़ते अन्त में उनको

* इच्छामोऽनुशास्तिं नमः क्षमाश्रमणेभ्यः ।

जीत कर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, तथा जिनका स्वरूप मिथ्यामतियों के लिये अगम्य है, ऐसे प्रभु श्रीमहावीर को मेरा नमस्कार हो ॥१॥

येषां विकचारविन्दराज्या,ज्यायःक्रमकमलावलिं दधत्या सदृशैरतिसङ्गतं प्रशस्यं,कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः

अन्वयार्थ—'येषां' जिनके 'ज्यायःक्रमकमलावलि' अतिप्रशंसा योग्य चरण-कमलों की पङ्क्ति को 'दधत्या' धारण करने वाली ऐसी 'विकचारविन्दराज्या' विकस्वर कमलों की पङ्क्त के निमित्त से अर्थात् उसे देख कर [विद्वानों ने] 'कथितं' कहा है कि 'सदृशैः' सदृशों के साथ 'अतिसङ्गतं' अत्यन्त समागम होना 'प्रसस्यं' प्रशंसा के योग्य है, 'ते' वे 'जिनेन्द्राः' जिनेन्द्र 'शिवाय' मोक्ष के लिये 'सन्तु' हों ॥२॥

भावार्थ—बराबरी वालों के साथ अत्यन्त मेल का होना प्रशंसा करने योग्य है, यह कहावत जो सुनी जाती है, उसे जिनेश्वरों के सुन्दर चरणों को धारण करने वाली ऐसी देव-रचित खिले हुए कमलों की पङ्क्ति को देख कर ही विद्वानों ने प्रचलित किया है; ऐसे जिनेश्वर सब के लिये कल्याणकारी हों ॥२॥

कषायतापार्दितजन्तुनिर्वृतिं, करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः। स शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभो, दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ॥३॥

अन्वयार्थ—'यः' जो 'गिराम्' वाणी का 'विस्तरः' विस्तार 'जैनमुखाम्बुदोद्गतः' जिनेश्वर के मुखरूप मेघ से प्रगट हो कर 'कषायतापार्दितजन्तु' कषाय के ताप से पीड़ित जन्तुओं को 'निर्वृतिं' शान्ति 'करोति' करता है [और इसीसे जो] 'शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभः' ज्येष्ठ मास में होने वाली वृष्टि के समान है, 'सः' वह 'मयि' मुझ पर 'तुष्टिं' तुष्टि 'दधातु' धारण करे ॥३॥

भावार्थ—भगवान् की वाणी ज्येष्ठ मास की मेघ-वर्षा के समान

अति शीतल है, अर्थात् जैसे ज्येष्ठ मास की वृष्टि ताप पीडित लोगों को शीतलता पहुँचाती है वैसे ही भगवान् की वाणी कषाय पीडित प्राणियों को शान्ति लाभ कराती है, ऐसी शान्त वाणी का मुझ पर अनुग्रह हो ॥३॥

श्वसित-सुरभि-गन्धा-ऽऽलीढ-भृङ्गी-कुरङ्गं
मुखशशिनमजस्रं, बिभ्रति या बिभर्ति ।
विकच-कमलमुच्चैः साऽस्त्वचिन्त्य-प्रभावा,
सकलसुख-विधात्री, प्राणभाजां श्रुताङ्गी ॥४॥

अन्वयार्थ—'श्वसित' श्वास की 'सुरभिगन्ध' सुगन्ध में 'आलीढ' मग्न 'भृङ्गीकुरङ्ग' भ्रमरी रूप हरिण वाले 'मुखशशिनम्' मुख-चन्द्र को 'बिभ्रती' धारण करती हुई 'या' जो 'उच्चैः' सुन्दर रीति से 'विकचकमलम्' विकसित कमल को 'बिभर्ति' धारण करती है, 'सा' वह 'अचिन्त्यप्रभावा' अचिन्त्य माहात्म्य वाली 'श्रुताङ्गी' श्रुतदेवी 'प्राणभाजां' जीवों को 'सकलसुखविधात्री' संपूर्ण सुख करने वाली 'अस्तु' हो ॥४॥

भावार्थ—वह अचिन्त्य प्रभाव वाली श्रुतदेवी जीवों को संपूर्ण सुख को देने वाली हो, जो अपने श्वास की सुगन्ध से आकृष्ट भ्रमर-रूपी कुरङ्ग वाले मुख-चन्द्र को धारण करती हुई सुन्दर विकसित कमल को धारण करती है ॥४॥

४३—श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथ-चैत्यवन्दन ।

श्रीसेढी-तटिनी-तटे पुर-वरे, श्रीस्तम्भने स्वर्गिरौ,
श्रीपूज्याभयदेव-सूरि-विबुधाधीशैः समारोपितः ।
संसिक्तः स्तुतिभिर्जलैः शिवफलैः, स्फूर्जत्फणा-पल्लवः
पार्श्वः कल्पतरुः स मे प्रथयतां नित्यं मनो-वाञ्छितम् ॥१

अन्वयार्थ—'श्रीसेढीतटिनीतटे' सेढी नदी के किनारे पर स्थित 'पुरवरे श्रीस्तम्भने' स्तम्भनपुर नगर रूप 'स्वर्गिरौ' मेरू पर्वत पर 'श्रीपूज्याभयदेवसूरिविबुधाधीशैः' पूज्यपाद श्री अभयदेवसूरि-रूप इन्द्र ने 'समारोपित' संस्थापित, 'शिवफलैः' जिनका फल मुक्ति है ऐसे 'स्तुतिभिर्जलैः' स्तुति-रूप जल से सिक्त, तथा फणा-रूप पल्लवों से बिराजमान ऐसे 'पार्श्वः' पार्श्वनाथ-रूप 'कल्पतरुः' कल्पवृक्ष 'मे' मुझको 'नित्यं' हमेशा 'मनोवाञ्छितम्' मनोऽभीष्ट 'प्रथयतां' पूर्ण करे ।१।

भावार्थ—जैसे कल्पवृक्ष को इन्द्र ने मेरु पर्वत पर संस्थापित किया है ऐसे श्रीपार्श्वप्रभु को विद्वन्मुकुट-मणि श्री अभयदेवसूरि-जी ने सेढो नदी के किनारे पर स्थित स्थम्भनपुर में प्रतिष्ठित किया है। जैसे कल्पवृक्ष जल से सिंचा जाता है वैसे श्रीपार्श्वप्रभु स्तुतियों से अभिषिक्त किये गये हैं। कल्पवृक्ष को पल्लव होते हैं यहां भगवान् पर जो नाग-फणाए हैं वे ही पल्लव हैं। इस तरह कल्पवृक्ष के समान वाञ्छित फल को देने वाले श्रीपार्श्वप्रभु मेरा ईप्सित पूर्ण करे ॥१॥

आधिव्याधि-हरो देवो, जीरावल्ली-शिरोमणिः।
पार्श्वनाथो जगन्नाथो, नत-नाथो नृणां श्रिये ॥२॥

अन्वयार्थ—'आधिव्याधिहरो' आधि तथा व्याधि को हरने वाला, 'जीरावल्लीशिरोमणिः' जीरावल्ली-नामक तीर्थ में मुकुट-मणि समान 'नतनाथो' देव आदि के अधिपतिओं से पूजित, 'जगन्नाथो' जगत् का नाथ 'पार्श्वनाथो' श्रीपार्श्वनाथ भगवान् 'नृणां' मनुष्यों को 'श्रिये' संपत्ति के लिए हों ॥२॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा का नाश करने वाला, जीरावल्ली-तीर्थ का नायक, अनेक महा-पुरुषों से पूजित, जगत् के नाथ ऐसे श्रीपार्श्वनाथ स्वामी, मनुष्यों को संपत्ति का कारण हो ॥२॥

४४—सिरि-थंभणय-ठिय-पास-सामिणो ।

*सिरि-थंभणय-ठिय-पास-सामिणो सेस-तित्थ-सामीणं
तित्थ-समुन्नइ-कारण-सुरासुराणं च सव्वेसिं ॥१॥
एसिमहं सरणत्थं, काउस्सग्गं करेमि सत्तीए ।
भत्तीए गुण-सुट्ठियस्स संघस्स समुन्नइ-निमित्तं ॥२॥

अन्वयार्थ—'सिरिथंभणयठिय' श्रीस्तम्भनपुर में स्थित 'पाससामिणो' पार्श्वनाथ भगवान् 'सेसतित्थसामीण' शेष तीर्थों के स्वामी 'च' और 'तित्थसमुन्नइकारण' तीर्थों की उन्नति के कारणभूत 'सुरासुराणं' सुर और असुर 'एसि सव्वेसिं' इन सबों के 'सरणत्थं' स्मरण के लिए [तथा] 'गुणसुट्ठियस्स' सुस्थित गुण वाले 'संघस्स' संघ की 'समुन्नइनिमित्त' उन्नति के लिए 'अहं' मैं 'सत्तीए' शक्ति के अनुसार 'भत्तीए' भक्ति पूर्वक 'काउस्सग्ग' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ॥१-२॥

भावार्थ—श्रीस्तम्भनतीर्थ में स्थित पार्श्वनाथ, शेष तीर्थों के स्वामी और तीर्थों की उन्नति के कारण भूत सुर असुर, इन सबों के स्मरण-निमित्त तथा गुणवान् श्रीसंघ की उन्नति के निमित्त मैं शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥१-२॥

४५—चउक्कसाय सूत्र ।

*चउ-क्कसाय-पडिमल्लुल्लूरणु, दुज्जय-मयण-बाण-

* श्रीस्तम्भनपुरस्थितपार्श्वस्वामिनः शेषतीर्थस्वामिनाम् ।
तीर्थसमुन्नतिकारणसुरासुराणां च सर्वेषाम् ॥ १ ॥
एषामहं स्मरणार्थं कायोत्सर्गं करोमि शक्त्या ।
भक्त्या सुस्थितगुणस्य संघस्य समुन्नतिनिमित्तम् ॥ २ ॥

* चतुष्कषायप्रतिमल्लोत्कर्तनो, दुर्जयमदनबाणभञ्जनः ।
सरसप्रियङ्गुवर्णो गजगामी जयतु पार्श्वो भुवनत्रयस्वामी ॥ १ ॥

मुसुमूरणु। सरस-पिअंगु-वरणु गय-गामिउ, जयउ पासु भुवण-त्तय-सामिउ ॥१॥

अन्वयार्थ--'चउक्कसाय' चार कषायरूप 'पडिमल्ल' वैरी के 'उल्लूरणु' नाश-कर्त्ता, 'दुज्जय' कठिनाई से जीते जाने वाले, 'मयण-बाण' काम-बाणों को 'मुसुमूरणु' तोड़ देने वाले, 'सरसपिअंगुवण्णु' नवीन प्रियङ्गु वृक्ष के समान वर्ण वाले, 'गयगामिउ' हाथी की सी चाल वाले और 'भुवणत्तयसामिउ' तीनों भुवन के स्वामी [ऐसे] 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जयउ' जयवान् हो ॥१॥

भावार्थ--तीन भुवन के स्वामी श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की जय हो। वे कषायरूप वैरियों का नाश करने वाले हैं, काम के दुर्जय बाणों को खण्डित करने वाले हैं--जितेन्द्रिय हैं, नये प्रियङ्गु वृक्ष के समान नील वर्ण वाले हैं और हाथी की सी गम्भीर गति वाले हैं ॥१॥

* जसु तणु-कंति-कडप्प-सिणिद्धउ,
सोहइ फणिमणिकिरणालिद्धउ ।
नं नव-जलहर-तडिल्लय-लंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ॥२॥

अन्वयार्थ-'जसु' जिसका 'तणु कंति-कडप्प' शरीर का कान्ति-मण्डल 'सिणिद्धउ' स्निग्ध और 'फणिमणिकिरणालिद्धउ' साँप की मणियों की किरणों से व्याप्त है, [इस लिये ऐसा] 'सोहइ' शोभमान् हो रहा है कि 'नं' मानो 'तडिल्लयलंछिउ' बिजली की चमक सहित 'नवजलहर' नया मेघ हो; 'सो' वह 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जिणु' जिनेश्वर 'वञ्छिउ' वाञ्छित 'पयच्छउ' देवे ॥२॥

* यस्य तनुकान्तिकलापः स्निग्धः, शोभते फणिमणिकिरणाश्लिष्टः ।
ननु नवजलधरस्तडिल्लतालाञ्छितः, स जिनः पार्श्वः प्रयच्छतु वाञ्छितम् ॥२॥

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ सब कामनाओं को पूर्ण करे। उनके शरीर का कान्ति मण्डल चिकना तथा सर्प के मणियों की किरणों से व्याप्त होने के कारण ऐसा मालूम हो रहा है कि मानो बिजली की चमक से शोभित नया मेघ हो अर्थात् भगवान् का शरीर नवीन मेघ की तरह नील वर्ण और चिकना है तथा शरीर पर फैली हुई सर्प-मणि की किरणें बिजली की किरणों के समान चमक रही है ॥२॥

४६—अर्हन्तो भगवन्त।

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धि-स्थिता आचार्या जिन-शासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः। श्री सिद्धान्त-सुपाठका मुनिवरा रत्न-त्रयाराधकाः, पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'इन्द्रमहिता' इन्द्र से पूजित 'अर्हन्तो भगवन्त' तीर्थंकर भगवान्, 'सिद्धिस्थिता' मुक्ति में स्थित 'सिद्धा' सिद्ध भगवान्, 'जिनशासनोन्नतिकरा' जिन-शासन की उन्नति करने वाले 'आचार्या' आचार्य महाराज, 'श्रीसिद्धान्तसुपाठका' सिद्धान्तों को पढ़ाने वाले 'पूज्या उपाध्यायका' पूजनीय उपाध्याय महाराज 'च' तथा 'रत्नत्रयाराधका' तीन रत्नों की आराधना करने वाले 'मुनिवराः' मुनि महाराज 'एते' ये 'पञ्च' पाँच 'परमेष्ठिन' परमेष्ठी 'प्रतिदिन' हमेशा 'वो' आपका 'मङ्गलं' कल्याण 'कुर्वन्तु' करे ॥१॥

भावार्थ—इन्द्रों से पूजित अर्हन् देव, मुक्ति स्थित सिद्ध भगवान् जिन-शासन की उन्नति करने वाले आचार्य महाराज, शास्त्र सिद्धान्त पढ़ाने वाले पूजनीय उपाध्याय और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र इन तीन रत्नों के आराधक मुनि महाराज ये पाँच परमेष्ठी प्रतिदिन आपका कल्याण करे ॥१॥

४७—लघु-शान्ति स्तव*।

शान्तिं शान्ति-निशान्तं, शान्तं शान्ताऽशिवं नमस्कृत्य। स्तोतुः शान्ति-निमित्तं, मन्त्र-पदैः शान्तये स्तौमि ॥१॥

अन्वयार्थ—'शान्तिनिशान्त' शान्ति के मन्दिर, 'शान्त' राग-द्वेष-रहित, 'शान्ताऽशिवं' उपद्रवों को शान्त करने वाले और 'स्तोतुः शान्तिनिमित्तं' स्तुति करने वाले की शान्ति के कारणभूत, 'शान्ति' श्री शान्तिनाथ को 'नमस्कृत्य' नमस्कार कर के 'शान्तये' शान्ति के लिये 'मन्त्रपदैः' मन्त्र-पदों से 'स्तौमि' स्तुति करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति के आधार हैं, राग-द्वेष-रहित हैं, उपद्रवों के मिटाने वाले हैं और भक्त जन को शान्ति देने वाले हैं; इसी कारण मैं उन्हें नमस्कार कर के शान्ति के लिये मन्त्र-पदों से उनकी स्तुति करता हूँ ॥१॥

ओमिति-निश्चित-वचसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम्। शान्ति-जिनाय जयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ॥२॥

---

* इसकी रचना नाडुल नगर में हुई थी। शाकंभरी नगर में मारी का उपद्रव फैलने के समय शान्ति के लिये प्रार्थना की जाने पर बृहद्गच्छीय श्रीमानदेव सूरिजी ने इसको रचा था। पद्मा, जया, विजया और अपराजिता, ये चारों देवियाँ उक्त सूरिजीकी अनुगामिनी थीं। इस लिये इस स्तोत्र के पढ़ने, सुनने और इसके द्वारा मन्त्रित जल छिड़कने आदि से शान्ति हो गई।

इसको दैवसिक प्रतिक्रमण में दाखिल हुए करीब पाँच सौ वर्ष हुए। वृद्ध-परम्परा ऐसी है कि, पहले लोग इस स्तोत्र को शान्ति के लिये साधु व यति के मुख से सुना करते थे। उदयपुर मे एक वृद्ध यति बार बार इसके सुनाने से ऊब गये, तब उन्होंने यह नियम कर दिया कि 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ' के कायोत्सर्ग के बाद —प्रतिक्रमण के अन्त मे—इस शान्ति को पढ़ा जाय, ताकि सब सुन सकें। तभी से इसका प्रतिक्रमण मे समावेश हुआ है।

अन्वयार्थ—'ओमितिनिश्चितवचसे' ओम्' इस प्रकार के निश्चित वचन वाले, 'भगवते' भगवान् 'पूजाम्' पूजा 'अर्हते' पाने के योग्य 'जयवते' राग-द्वेष को जीतने वाले यशस्विने' कीर्ति वाले और 'दमिनाम्' इन्द्रिय-दमन करने वालों—साधुओं के 'स्वामिने' नाथ 'शान्तिजिनाय' श्रीशान्ति जिनेश्वर को 'नमो नम' बार बार नमस्कार हो ॥२॥

भावार्थ—'ओम्' यह पद निश्चित रूप से जिनका वाचक है जो भगवान् हैं, जो पूजा पाने के योग्य हैं, जो राग द्वेष को जीतने वाले हैं, जो कीर्ति वाले हैं और जो जितेन्द्रियों के नायक हैं, उन श्रीशान्ति नाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो ॥२॥

सकलातिशेषक-महा-सम्पत्ति-समन्विताय शस्याय ।
त्रैलोक्य-पूजिताय च, नमो नम. शान्ति-देवाय ॥३॥

अन्वयार्थ—'सकलातिशेषकमहासम्पत्तिसमन्विताय' सम्पूर्ण अतिशयरूप महा-सम्पत्ति वाले, 'शस्याय' प्रशसा योग्य 'च' और 'त्रैलोक्यपूजिताय' तीन लोक में पूजित, 'शान्तिदेवाय' श्रीशान्तिनाथ को 'नमो नम' बार बार नमस्कार हो ॥३॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो। वे अन्य सब सम्पत्ति को मात करने वाली चौतीस अतिशयरूप महा-सम्पत्ति से युक्त हैं और इसीसे वे प्रशसा-योग्य तथा त्रिभुवन-पूजित हैं ॥ ३ ॥

सर्वामर-सुसमूह—स्वामिक-संपूजिताय निजिताय ।
भुवन-जन-पालनोद्यत—तमाय सतत नमस्तस्मै ॥४॥
सर्व-दुरितौघ-नाशन—कराय सर्वा-ऽशिव-प्रशमनाय ।
दुष्ट-ग्रह-भूत-पिशाच—शाकिनीनां प्रमथनाय ॥५॥

अन्वयार्थ—'सर्वाऽमरसुसमूहस्वामिकसंपूजिताय' देवों के सब समूह और उनके स्वामियों के द्वारा पूजित. 'निजिताय' अजित, 'भुवनजनपालनोद्यततमाय' जगत् के लोगों का पालन करने में अधिक तत्पर, 'सर्वदुरितौघनाशनकराय' सब पाप-समूह का नाश करने वाले, 'सर्वाशिवप्रशमनाय' सब अनिष्टों को शान्त करने वाले, 'दुष्टग्रहभूतपिशाचशाकिनीनां प्रमथनाय' दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच और दुष्ट शाकिनियों को दबाने वाले; 'तस्मै' उस [श्रीशान्तिनाथ] को 'सततं नमः' निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥'५॥

भावार्थ—जो सब प्रकार के देव-गण और उनके नायकों के द्वारा पूजे गये हैं, जो सब से अजित हैं, जो सब लोगों का पालन करने में विशेष सावधान हैं, जो सब तरह के पाप-समूह को नाश करने वाले हैं, जो अनिष्टों को शान्त करने वाले हैं और जो दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच तथा दुष्ट शाकिनी के उपद्रवों को दबाने वाले हैं, उन श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर को निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥'५॥

यस्येति-नाम-मन्त्र—प्रधान-वाक्योपयोग-कृत-तोषा ।
विजया कुरुते जन-हित—मिति च नुता नमत तं शान्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—'नुता' स्तुति-प्राप्त 'विजया' विजया देवी 'यस्य' जिसके 'इतिनाममन्त्रप्रधानवाक्य' पूर्वोक्त नामरूप प्रधान मन्त्र-वाक्य के 'उपयोगकृततोषा' उपयोग से सन्तुष्ट होकर 'जनहित' लोगों का हित 'कुरुते' करती है 'इति' इस लिये 'तं शान्तिम्' उस शान्तिनाथ भगवान् को 'नमत' तुम नमस्कार करो ॥६॥

भावार्थ—हे भव्यो ! तुम श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करो। भगवान् का नाम महान् मन्त्र-वाक्य है। इस मन्त्र के उच्चारण से विजया देवी प्रसन्न होती है और प्रसन्न होकर लोगों का हित करती है ॥६॥

सत्त्वानाम्। अभय-प्रदान-निरते !, नमोऽस्तु-स्वस्ति-प्रदे ! तुभ्यम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'भव्यानां' भव्यों को 'कृतसिद्धे !' सिद्धि देने वाली, 'निर्वृतिनिर्वाणजननि!' शान्ति और मोक्ष देने वाली, 'सत्त्वानाम्' प्राणियों को 'अभयप्रदाननिरते!' अभय प्रदान करने में तत्पर, और 'स्वस्तिप्रदे' कल्याण देने वाली हे देवि ! 'तुभ्यम्' तुझको 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥६॥

भावार्थ—हे देवि ! तुझको नमस्कार हो ! तूने भव्यों की कार्य-सिद्धि की है; तू शान्ति और मोक्ष को देने वाली है; तू प्राणिमात्र को अभय-प्रदान करने में रत है और तू कल्याण-कारिणी है ॥६॥

भक्तानां जन्तूनां, शुभावहे नित्यमुद्यते! देवि !।
सम्यग्दृष्टीनां धृति-रति-मति-बुद्धि-प्रदानाय ॥१०॥
जिन-शासन-निरतानां, शांति-नतानां च जगति जनतानाम्। श्री-सम्पत्-कीर्ति-यशो--वर्द्धनि ! जय देवि ! विजयस्व ॥११॥

अन्वयार्थ—'भक्तानां जन्तूनां' भक्त जीवों का 'शुभावहे' भला करने वाली, 'सम्यग्दृष्टीनां' सम्यक्त्वियों को 'धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानाय' धीरज, प्रीति, मति और बुद्धि देने के लिये 'नित्यम्' हमेशा 'उद्यते !' तत्पर, 'जिनशासननिरतानां' जैन धर्म में अनुराग वाले तथा 'शान्तिनतानां' श्रीशान्तिनाथ को नमे हुए 'जनतानाम्' जन-समुदाय की 'श्रीसम्पत्कीर्त्तियशोवर्द्धनि' लक्ष्मी, सम्पत्ति, कीर्त्ति और यश को बढ़ाने वाली 'देवि !' हे देवि 'जगति' जगत में 'जय', तेरी जय हो तथा 'विजयस्व' विजय हो ॥१०॥११॥

भावार्थ—हे देवि ! जगत् में तेरी जय-विजय हो। तू भक्तों

का कल्याण करने वाली है; तू सम्यक्त्वियों को धीरज, प्रीति, मति तथा बुद्धि देने के लिये निरन्तर तत्पर रहती है और जो लोग जैन-शासन के अनुरागी तथा श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमन करने वाले हैं उनकी लक्ष्मी, सम्पत्ति और यश-कीर्त्ति को बढाने वाली है ॥१०॥११॥

सलिलानल-विष-विषधर, दुष्ट-ग्रह-राज-रोग-रण-भयतः
राक्षस-रिपु-गण-मारि--चौरेति-श्वापदादिभ्यः ॥ १२ ॥
अथ रक्ष रक्ष सुशिवं,कुरु कुरु शांतिं च कुरु कुरु सदेति ।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्ति च कुरु कुरु त्वम् ।१३।

अन्वयार्थ—'अथ' अब 'सलिल' पानी, 'अनल' अग्नि, 'विष' जहर, 'विषधर' साँप, 'दुष्टग्रह' बुरे ग्रह, 'राज' राजा, 'रोग' बीमारी और 'रण' युद्ध के 'भयत' भय से, तथा 'राक्षस' राक्षस, 'रिपुगण' वैरि-समूह, 'मारि' प्लेग, हैजा आदि रोग, 'चौर' चोर, 'ईति' अतिवृष्टि आदि सात ईतियों और 'श्वापदादिभ्य' हिंसक प्राणी आदि से 'त्वम्' तू 'रक्ष रक्ष' बार बार रक्षा कर, 'सुशिव' कल्याण 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'सदा' हमेशा 'शान्तिं' शान्ति 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'इति' इस प्रकार 'तुष्टिं' परितोष 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'पुष्टिं' पोषण 'कुरु कुरु' बार बार कर; 'च' और 'स्वस्ति' मंगल 'कुरु कुरु' बार बार कर ॥१२॥१३॥

भावार्थ—हे देवि ! तू पानी, आग, विष और सर्प से बचा। शनि आदि दुष्ट ग्रहों के, दुष्ट राजाओं के, दुष्ट रोगों के और युद्ध के भय से तू बचा। राक्षसों से, रिपुओं से, महामारी से, चोरों से, अति-वृष्टि आदि सात ईतियों से और हिंसक प्राणियों से बचा। हे देवि ! तू मंगल, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण यह सब सदा बार बार कर ॥१२॥१३॥

भगवति ! गुणवति ! शिव-शान्ति—तुष्टि-पुष्टि-स्वस्तीह

कुरु कुरु जनानाम्। ओमिति नमो नमो ह्राँ ह्रीँ ह्रू ह्रः यः क्षः ह्रीँ *फुट् फुट् स्वाहा ॥१४॥

अन्वयार्थ—'गुणवति!' हे गुण वाली 'भगवति!' भगवति! [तू] 'इह' इस जगत में 'जनानाम्' लोगों के 'शिवशान्तितुष्टिपुष्टिस्वस्ति' कल्याण, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कुशल को 'कुरु कुरु' वार वार कर। 'ओमिति' ओम्-रूप तुझ को 'ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा' ह्राँ ह्रीँ इत्यादि मन्त्राक्षरों से 'नमो नमः' वार वार नमस्कार हो ॥१४॥

भावार्थ—गुण वाली हे भगवति! तू इस जगत में लोगों को सब तरह से सुखी कर। हे देवि! तू ओम्-स्वरूप—रक्षकरूप या तेजोरूप है; इस लिये तुझको ह्राँ ह्रीँ आदि †दश मन्त्रों द्वारा वार २ नमस्कार हो ॥१४॥

**एवं यन्नामाक्षर—पुरस्सरं संस्तुता जया देवी ।
कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नमः शान्तये तस्मै ॥१५॥**

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'यन्नामाक्षरपुरस्सरं' जिसके नामाक्षर-पूर्वक 'संस्तुता' स्तवन की गई 'जयादेवी' जयादेवी 'नमतां' नमन करने वालों को 'शान्तिं' शान्ति 'कुरुते' पहुँचाती है; 'तस्मै' उस 'शान्तये' शान्तिनाथ को 'नमो नमः' पुनः पुनः नमस्कार हो ॥१५॥

भावार्थ—जिसके नाम का जप कर के संस्तुत अर्थात् आ-ह्वान की हुई जया देवी भक्तों को शान्ति पहुँचाती है, उस प्रभा-वशाली शान्तिनाथ भगवान् को वार २ नमस्कार हो ॥१५॥

इति पूर्व-सूरि-दर्शित—मन्त्र-पद-विदर्भितः स्तवः

---

* 'फट् फट्' इत्यपि।

† ऊपर के अक्षरों में पहिले सात अक्षर शान्तिमन्त्र के बीज हैं और शेष तीन विघ्न-विनाशकारी मन्त्र हैं।

शान्तेः । सलिलादि-भय-विनाशी, शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् ॥१६ ॥

अन्वयार्थ—'इति' इस प्रकार 'पूर्वसूरिदर्शित' पूर्वाचार्यों के बतलाये हुए 'मन्त्रपदविदर्भित' मन्त्र पदों से रचा हुआ 'शान्ते' श्रीशान्तिनाथ का 'स्तव' स्तोत्र 'भक्तिमताम्' भक्तों के 'सलिलादि-भयविनाशी' पानी आदि के भय का विनाश करने वाला 'च' और 'शान्त्यादिकर' शान्ति आदि करने वाला है ॥१६॥

भावार्थ—पूर्वाचार्यों के कहे हुए मन्त्र पदों को ले कर यह स्तोत्र रचा गया है। इस लिये यह भक्तों के सब प्रकार के भयों को मिटाता है और सुख, शान्ति आदि करता है ॥१६॥

यश्चैनं पठति सदा,शृणोति भावयति वा यथायोगम्।
स हि शान्ति-पदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ॥१७॥

अन्वयार्थ—'य' जो [भक्त] 'एनं' इस स्तोत्र को 'सदा' हमेशा 'यथायोगम्' विधि पूर्वक 'पठति' पढता है, 'शृणोति' सुनता है 'वा' अथवा 'भावयति' मनन करता है, 'स' वह 'च' और सूरि श्रीमानदेव' श्रीमानदेव सूरि 'शान्तिपद' मुक्ति-पद को 'हि' अवश्य 'यायात्' प्राप्त करता है ॥१७॥

भावार्थ—जो भक्त इस स्तोत्र को नित्य प्रति विधि-पूर्वक पढेगा, सुनेगा और मनन करेगा, वह अवश्य शान्ति प्राप्त करेगा। तथा इस स्तोत्र के रचने वाले श्रीमानदेव सूरि भी शान्ति पायँगे ॥१७॥

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥१८॥

अन्वयार्थ—'जिनेश्वरे' जिनेश्वर को 'पूज्यमाने' पूजने पर 'उपसर्गाः' उपद्रव 'क्षय' विनाश को 'यान्ति' प्राप्त होते हैं, 'विघ्नव-

लयः' विघ्नरूप लताएँ 'छिद्यन्ते' छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और 'मनः' चित्त 'प्रसन्नताम्' प्रसन्नता को 'एति' प्राप्त होता है ॥१८॥

भावार्थ—जिनेश्वर का पूजन करने से सब उपद्रव नष्ट हो जाते हैं, विघ्न-बाधाएँ निर्मूल हो जाती हैं और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१८॥

सर्व-मङ्गल-माङ्गल्यं, सर्व-कल्याण-कारणम् ।
प्रधानं सर्व-धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥१९॥

अर्थ—पूर्ववत् ॥ १९ ॥

४८—भुवनदेवता की स्तुति ।

चतुर्वर्णाय संघाय, देवी भुवन-वासिनी ।
निहत्य दुरितान्येषा, करोतु सुखमक्षयम् ॥१॥

अन्वयार्थ- 'एषा भुवनवासिनी देवी' यह भुवनदेवता 'दुरितानि' पापों को 'निहत्य' नष्ट करके 'चतुर्वर्णाय संघाय' चतुर्विध श्रीसंघ के लिये 'अक्षयं' क्षय-रहित—अखूट 'सुखं' सुख 'करोतु' करे ॥ १ ॥

भावार्थ—भुवनवासिनी देवी, पापों को नष्ट करके चतुर्विध श्रीसंघ के लिए अक्षय सुख दे ॥ १ ॥

४९—वर-कनक सूत्र ।

***ओं वर-कणय-संख-विद्दुम—मरगय-घण-संनिहं विगय-मोहं । सत्तरि-सयं जिणाणं, सव्वामर-पूइयं वन्दे ॥ १ ॥ स्वाहा ॥**

---

* ओं वरकनकशंखविद्रुममरकतघनसंनिभं विगतमोहम् ।
सप्ततिशतं जिनानां सर्वामरपूजितं वन्दे ॥१॥

अन्वयार्थ—'वर' श्रेष्ठ 'कणय' सुवर्ण, 'सख' शंख, 'विद्रुम प्रवाल-मूँगे, 'मरगय' नीलम और 'घण' मेघ के 'संनिह' समान वर्ण वाले 'विगयमोहं' मोह-रहित और 'सव्वामरपूइय' सब देवों से पूजित 'सत्तरिसय' एक सौ सत्तर [१७०] 'जिणाण' जिनवरों को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ । 'ओं' मंगल वाचक और 'स्वाहा' मन्त्र द्योतक है ॥१॥

भावार्थ—उत्कर्ष से एक समय में वर्तमान १७० जिन-देवों को मैं वन्दन करता हूँ जिनका शारीरिक वर्ण भिन्न भिन्न होता है—किसी का श्रेष्ठ सोने के समान पीला, किसी का शंख के तुल्य श्वेत, किसी का प्रवाल-सदृश लाल, किसी का मरकत के माफिक हरा और किसी का मेघ की तरह श्याम होता है; जो सब मोह-रहित और सब देवों से पूजे जाते हैं ॥ १ ॥

† ओ भवणवइ-वाणमंतर—जोइस-वासी विमाण-वासी य । जे केवि दुट्ठ-देवा, ते सव्वे उवसमंतु मे ॥ २ ॥ स्वाहा ॥

अन्वयार्थ—'जे केवि' जो कोई भी 'भवणवइ' भवनपति, 'वाणमन्तर' वानव्यन्तर, 'जोइसवासी' ज्योतिष्क 'य' और 'विमाणवासी' वैमानिक 'दुट्ठदेवा' दुष्ट देव [हों] 'ते' वे 'सव्वे' सब 'मे' मेरे लिए 'उवसमन्तु' शान्त हों । यहाँ भी पूर्व गाथा की तरह 'ओं' तथा 'स्वाहा' मंगल और मन्त्र के सूचक हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार प्रकार के देव हैं उनमें जो कोई भी दुष्ट देव हों वे सब मेरे लिये उपशान्त हों ॥ २ ॥

---

† ओं भवनपति-वानव्यन्तरा ज्योतिवासिनो विमानवासिनश्च ।
ये केऽपि दुष्टदेवास्ते सर्वे उपशाम्यन्तु मे ॥ २ ॥

॥ बृहद्-अतिचार ॥

॥ नाणम्मि दंसणम्मि य, चरणम्मि तवे य तह य विरियम्मि । आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥ ज्ञानाचार १, दर्शनाचार २, चारित्राचार ३, तपाचार ४, वीर्याचार५. एवं पांचविध आचारमांहि जिको अतिचार पत्त-दिवसमांहि, सूक्ष्म वादर, जाणतां अणजाणतां, हुओ होय, ते सहू मन, वचन, कायाइं करी मिच्छामि दुक्कडं ॥

॥ अथ ज्ञानाचारना आठ अतिचार;—काले विणए बहु-माणे, उवहाणे तह य निन्हवणे । वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥१॥ ज्ञान काल-वेलामांहि पढ़िउं गुणिउं नहीं, अकाले पढ़िउं, विनय-हीन बहु-मान-हीन उपधान-हीन श्रीउपाध्याय कनें नही पढिउं, अथवा अनेरा कने पढ़िउं, अनेरो गुरु कह्यो । व्यंजन, अर्थ, तदुभय कूडो पढ्यो । देव-वांदणे, पडिक्कमणे, सिज्झाय करतां, पढतां गुणतां कूडो अक्षर काने-मात्रे-अधिको-ओछो आगल-पाछल भणयो । सूत्र-अर्थ कूडा भणया, भणीनें वीसार्‍यो । तपोधन तणे धर्मे काजो अणउधरे, दांडी अणपडिलेही, वसती अणसोधी, असिज्झाई अणोझा-काल-वेलामांहि दशवैकालिक-प्रमुख सिद्धान्त

भण्यो-गुण्यो। योग कह्यांपखे भण्यो। ज्ञानोपगरण पाटी, पोथी, ठवणी, कवली, नवकरवालो, सांपडा, सांपडी, वही, दस्तरी, ओलीया, कागल-प्रमुख प्रते आशातना हुई, पग लागो, थूंक लागो, ओसीसे मूक्यो, कने छतां आहार-नीहार कीधो, ज्ञान-द्रव्य भक्षण-उपेक्षण कीधो, प्रज्ञापराधे विणास्यो, विणसतो उवेख्यो, छती शक्ते सार-संभाल न कीधी। ज्ञानवंत प्रते मच्छर वह्यो, अवज्ञा आशातना कीधी, कोई प्रते भणतां गुणतां प्रद्वेष-मत्सर-अंतराय-अप घात कीधो। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, ए पांच ज्ञान तणी असद्दहणा कीधी। कोई तोतलो बोबडो हस्यो, वितर्क्यो। आपणा जाणपणा तणो गर्व चिंतव्यो। अष्टविध ज्ञानाचार विषइओ जिको अतिचार पक्ष-दिवसमांहे सूक्ष्म बादर, जाणतां अजाणतां, हुवो होय, ते सहु मन, वचन, कायाइं करी मि०।

दर्शनाचारना आठ अतिचार,—निस्संकिय निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढ-दिट्ठी अ। उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥१॥ देव-गुरु-धर्म-तणे विषे निःशंकपणो न कीधो, तथा एकांत निश्चय धर्यो नही। 'सघलाइ मत भला छे' एहवी

श्रद्धा कीधी । धर्मसंबंधिया फलतणे विषे निःसंदेह बुद्धि धरी नहीं । चारित्रिया साधु-साध्वी तणां मल-मलिन गात्र देखी दुगंछा उपजावी । मिथ्यात्वीतणी पूजा-प्रभावना देखी मूढदृष्टिपणो कीधो । संघमांहे गुणवंततणी अनुपबृंहणा. अस्थिरीकरण, अवात्सल्य, अप्रीति, अभक्ति चिंतवी । संघमांहे थिरीकरण, वात्सल्य, शक्ति छते प्रभावना न कीधी । देवद्रव्य विनाशिउं, विणसंतुं उवेखिउं, छती शक्ते सार-संभाल न कीधी । साधर्मिकशुं कलह-कर्म कीधुं । जिन-भवन-तणी चोरासी आशातना कीधी । गुरु प्रतें तेत्रीश आशातना कीधी । अधौत-वस्त्रें देव-पूजा कीधी । तिहुं ठाम पाखें देव-पूजा-वास-कूपी-कलशतणो ठबको लागो । मुखतणी वाफ लागी । ठवणारिय हाथ थकी पडिओ, पडिलेहवो वीसार्यो । नवकरवालीनें पग लागो । दर्शनाचार-विषईओ जिको अतिचार० ॥३॥

॥ चारित्राचारना आठ अतिचार;—पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तिहिं गुत्तीहिं । एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १ ॥ इरिया-समिति १, भासा-समिति २, एषणा-समिति ३, आयाण-भंडमत्त-निक्खिवणा-समिति ४, उच्चार-पास-

वरा-खेल-जल्ल-संघाण-पारिठावणियासमिती ५, मनो-गुप्ति १, वचन-गुप्ति २, काय-गुप्ति ३, ए पंच समिती तीन गुप्ति, रूडी परें पाली नही। साधुतरों धर्मे सदैव श्रावकतरो पोसह-पडिक्कमरो लीधे अष्टविध चारित्राचार-विषईओ जिको अतिचार० ॥

विशेषतः श्रावकतरों धर्मे श्रीसम्यक्त्व-मूल बारह व्रत। श्रीसम्यक्त्व-तरा पांच अतिचार;—संका कंख विगिच्छा,पसंस तह संथवो कुलिंगीसु। संका,—श्रीअरिहंत-तणां बल, अतिशय, ज्ञान, लक्ष्मी, गांभीर्यादिक गुण, शाश्वती प्रतिमा, चारित्रियानां चारित्र, जिन-वचन-तणो संदेह कीधो। आकांक्षा;—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, क्षेत्रपाल, गोगो, गोत्रदेवता। ग्रह पूजा, विणाइग, हनुमंत इत्येवमादिक ग्राम, गोत्र, देश, नगर, जूजूआ देव-देहराना प्रभाव देखी रोगें, आतंकें इहलोक-परलोकार्थे पूज्या, मान्या। बौद्ध, सांख्यादिक संन्यासी, भरडा, भगत, लिंगिया, योगी, दरवेश अनेराई दर्शनियानो कष्ट, मंत्र, चमत्कार देखी परमार्थ जाणया विण भूल्या, अनुमोद्या, कुशास्त्र शिख्यां, सांभल्यां। शराध, संवत्सरी, होली, बलेव, माही-पूनिम, अजा-पडिवा, प्रेतबीज, गोरत्रीज, विणायग-चोथ, नाग-पांचम, झुलणा-छठ,

बीजे स्थूल-मृषावाद-विरमण व्रतें पांच अतिचार। सहसा-रहस्स-दारे, मोसुवएसे य कूड-लेहे य ॥ सहसात्कार;—किणहिक प्रतें अयुक्तो आल दीधो, किणहिक प्रतें एकांते वात करतां देखी 'तुम्हें तो राज-विरुद्ध चिंतवोछो' इत्यादिक कह्यु । स्वदार-मंत्र-भेद कीधो । अनेराई किणहीनो मंत्र आलोच-मर्म प्रकाश्यो । किणहीनें कूडी बुद्धि दीधी । कूडो लेख लिख्यो। कूडी साख भरी। थापण-मोसो कीधो । कन्या-ढोर-गाय-भूमि-संबंधिया लेहणें देहणें व्यव-साय-वाद-वढावढि करतां मोटकुं झूठ बोल्युं । हाथ-पग-भणी गाल दीधी। करडका मोड्या। अधर्म्म वचन बोल्यां। बीजे मृषावाद-व्रत-विषइओ० ॥२॥

त्रीजे अदत्तादान-विरमण व्रतना पांच अति-चार । तेनाहडप्पओगे। घर, बाहिर, क्षेत्र, खले पराई वस्तु अणमोकलावी लीधी, दीधी, वावरी । चोरीनी वस्तु मोल लीधी। चोर, धाडी प्रतें संबल दीधुं, संकेत कह्युं । विरुद्ध राज्यातिक्रम कीधो। नवा-पुराणां, सरस-विरस, सजीव-निर्जीव वस्तु तणा भेल-संभेल कीधा । खोटे तोले मान माप वहोर्‌यां । दा-ण-चोरी कीधी । साटे लांच लीधी । माता, पिता, पुत्र, कलत्र, परिवार वंची जूदी गांठ कीधी । किण-

हीनें लेखे-पलेखे भूलव्युं। पडी वस्तु ओलवी लीधी। त्रीजे अदत्तादान-व्रत-विषइओ० ॥३॥

चोथे स्वदार-संतोष मैथुन व्रतें पांच अतिचार॥ अपरिग्गहिया इत्तर, अणंग-वीवाह-तिव्व-अणुरागे॥ अपरिग्रहीतागमन. इत्वर-परिगृहिता-गमन, विधवा, वेश्या,स्त्री, कुलाङ्गना, स्वदार शोक तणे विषे दृष्टि-विपर्यास कीधो,सराग वचन बोल्यां, आठम चउदश अनेराई पर्व्व तिथि तणा नियम भांग्या। घरघरणां कीधां, कराव्यां, अनुमोदीयां। कुविकल्प चिंतव्या। अनङ्ग-क्रीडा कीधी। पराया विवाह जोड्या। काम-भोग तणे विषे तीव्राभिलाष कीधो। कुस्वप्न लाधां। नट विट पुरुषशुं हांसुं कीधुं। चोथे मैथुन-व्रत-वि०॥४॥

पांचमे परिग्रह-परिमाण-व्रते पांच अतिचार॥ धण धन्न खित्त वत्थू। धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, रूप्य, सुवर्ण, कुप्य, द्विपद,चतुष्पद ए नवविध परिग्रह तणा नियम उपरांत वृद्धि देखी मूर्च्छा लगें संक्षेप न कीधो। माता,पिता, पुत्र कलत्रादि तणे लेखें कीधो। परिग्रह-परिमाण लेई पढ्यो नहीं, पढी वीसारिओ। नियम विसारिओ। पांचमे परिग्रह-परिमाण-व्रत-विषइओ० ॥ ५ ॥

छट्ठे दिग्-विरमण-व्रतें पांच अतिचार॥ गम-

णस्स य परिमाणे ॥ ऊर्ध्वदिसि, अधोदिसि, तिर्यग्-दिसि जायवा-आयवा-तणो नियम जे कोई अजाणे भांगो। एक गमा संकोडी विजो गमा वधारी। विस्मृति लगें अधिक भूमि गया। पाठवणी आघी मोकली ॥ छट्ठे दिग्व्रते वि० ॥ ६ ॥

सातमें भोगोपभोग-परिमाण व्रत ॥ जेहना भोजन आश्री पांच अतिचार अने करमहूंती पन्नरे, एवं वीश अतिचार ॥ सच्चित्ते पडिवद्धे, अपोल दुप्पोलयं च आहारे। सच्चित तणे नियम लीधे अधिक सच्चित्त लीधुं, तथा सच्चित्त मलो वस्तु, अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार, तुच्छोषधि तणां भक्षण कीधुं। होला, उंबो, पहुंक, काकडी, भडथां कीधां। सुल्यां धान प्रमुख भक्षण कोधां। सच्चित्त-दव्व-विगई—पाणह तंबोल-वत्थ-कुसुमेसु। वाहण-सयण-विलेवण—बंभ-दिसि-राहाण-भत्तेसु ॥१॥ ए चवदे नियम दिन प्रते संभारया-संक्षेप्या नहिं, लेई नियम भांग्या। बावीस अभक्ष, बत्तीस अनंतकाय मांहि आदु, मूला, गाजर, पींडालू, सूरण, सेलरां, काची आंबली, गोल्हां खाधां। चोमासा-प्रमुख-मांहे वासी कठोलनी रोटी खाधी। त्रिहुं दिवसनुं दही लीधुं। मधू, महुडां, माखण, माटी, वेंगण, पीलू, पीचू, पपोटा, पींपी, विष,

हिम,करहा,घोलवडां,अणजाण्यां फल,टींवरु,अथाणु, आमणबोर, काचु मीठु,तिल, खसखस,काचां कोठिंवडां खाधां। रात्रि-भोजन कीधु। लगभगतो वेलायें व्यालू कीधु। दिवस उग्या विण शिराव्या। "तथा पन्नरे कर्मादान–इंगालि-कम्मे,वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी कम्मे, फोडी-कम्मे;दंत-वाणिज्ये, लाक्षा-वाणिज्ये, रस-वाणिज्ये, केश-वाणिज्ये, विष-वाणिज्ये,जंतपीलणकम्मे, निल्लंछण कम्मे, दवग्गि-दावणया, सर-दह-तलाव-सोसणया, असई-पोसणया, ए पांच कम्मे, पांच वाणिज्य, पांच सामान्य, महारंभ लीहाला कराव्या। इंटवाह, नीवाह पचाव्या। धाणी, चणा, पक्कान्न करी वेच्या। वासी माखण तपाव्यां। अंगीठा कीधा, कराव्या। तिलादिक संचीया, फागुण मास उपरान्त राख्या। कूकडा, सूडा प्रमुख पोष्या, अनेरुं जे कांई बहु सावद्य कठोर कर्मादिक समाचर्यु॥ सातमा भोगोपभोग-व्रत-विषइओ० ॥७॥

आठमा अनर्थ-दंड विरमण व्रतना पांच अतिचार॥ कंदप्पे-कुक्कुइए॥ -कंदर्प लगें विटनी परे हास्य, कुतूहल,मुखादि-अंग-कुचेष्टा कीधी। मूरखपणा लगें कुणहीने असंबद्ध वाक्य बोल्या। खांडा, कटारी, कुसी,कुहाडा,रथ, ऊखल,मूसल, अगन,घरटी आदिक

सज करी मेल्या, माग्यां आप्यां, कणक वस्तु ढोर लेवराव्यां, अनेरो कांइ पापोपदेश दीधो। अंघोल, नाहण, दांतण, पग-धोअण, पाणी, तेल, अधिक आण्यां, हींडोले हींच्या। राज-कथा, देश-कथा, भक्त-कथा, स्त्री-कथा, पराई बात कीधी। आर्त्त रौद्र ध्यान ध्यायां। कर्कश वचन बोल्या। करडका मोड्या। संभेडा लाया। भेंसा, सांढ़, कूकडा, मिंढा, श्वानादि झूझतां, कलह करतां जोयां। खाधी लगें अदेखाई चिंतवी। माटी, मीठुं, कण, कपासिया काज विण चांप्या, तेह उपर बयठा। आली वनस्पति खुंदी। छास,पाणी,घीरस, तेल,गुल, आम्लवेतस, बेरजादिक तणां भाजन उघाडां मूक्यां, ते मांहि कीडी, कंथुआ, माखी, उंदर, गिरोली प्रमुख जीव विणठा। सूडा प्रमुख जीव क्रीडा-हेतें बांधी राख्या। घणी निद्रा कीधो। राग-द्वेष लगें एकने ऋद्धि-परिवार वांछी,एक ने मृत्यु-हाणि विमासी। आठमा अनर्थदंड व्रत वि०॥

नवमा सामायिक व्रतें पांच अतिचार॥ ति-विहे दुप्पणिहाणे। सामायिक लीधे मन आहट-दोहट चिंतव्युं। वचन सावद्य बोल्युं। काय अण-पडिलेह्युं हलाव्युं। छतो वेलाइं सामायिक न लीधुं। सामायिक लई उघाडे मुखे बोल्या,ऊंघ आवी कीधी।

बीज दीवा तणी उजाही लागी। कण, कपासीया, माटी, मीठुं, नील-फूल, हरि-कायना संघट्ट हुआ। पुरुष तियंचना संघट्ट हुआ। तथा स्त्री तियंची आभडी। मुहपत्तीयों संघट्टी। सामायिक अणपूरिउं पारिउं,पारउं विसारिउं। नवमे सामायिक व्रत विषइओ० ॥६॥

दशमे देशावकाशिक व्रते पांच अतिचार,— आणवणे पेसवणे० ॥ आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाइ, रूवाणुवाइ, बहिया पुग्गल-पक्खेवे ॥ नियमित भूमिकामांहि बाहिर थकी कांई अणाव्युं। आप कन्हाथी बाहिर मोकल्युं। साद करी, रूप देखाडी, कांकरी नाखी आपणपणुं छतुं जणाव्युं ॥ दशमे देशावकाशिक-व्रत-विषइओ० ॥ १ ॥

इग्यारमे पोषधोपवास व्रते पांच अतिचार,— संथारुच्चार-विही, पमाय तह चेव भोअणाभोए ॥ पोसह लीधे संथारा तणी भूमि, बाहिरला थंडिला दिवसें शोध्यां पडिलेह्यां नही। मातरु अणपडिलेह्युं वावरिउं, अणपुंजी भूमिकाइ परठविउं, परठवतां चिन्तवण न कीधी, 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' न कह्यो, परठव्या पूठें वार त्रण वोसिरामि वोसिरामि न कह्युं। पोसहसालामांहि पइसतां नीसरतां निस्सिही आवस्सही कहेवो वीसारी। पृथ्वीकाय,

अप्काय, तेऊकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय तणा संघट्ट, परिताप, उपद्रव हुआ। संथारा पोरसि तणो विधि भणवो वीसारिओ। पोरसीमांहि उंघ्या। अविधि संथारुं पाथर्यु। काल वेलायें पडिक्कमणं न कीधुं। पारणादिक तणी चिन्ता निपजावी। कालवेला देव वांदवा वीसारिया। पोसह असूरो लीयो, सवारो पारीयो। पर्व तिथि आवी पोसह लीधो नही॥ इग्यारमे पोषधोपवास-व्रत-विषइओ० ॥ ११ ॥

बारमे अतिथि-संविभाग-व्रतें पांच अतिचार;—सच्चित्ते निक्खिवणे॥ सच्चित्त वस्तु हेठे उपरि थके महात्मा प्रतें असूझतुं दान दीधुं। अदेवा तणी बुद्धे सूझतुं फेडी असूझतुं कीधुं। देवा तणी बुद्धे असूझतुं फेडी सूझतुं कीधुं, आपणुं फेडी परायुं कीधुं। विहरवा वेला टली गया पछें असुर करी महातमा तेड्या। मच्छरलगें दान दीधुं। गुणवंत आवे भगति न साचवी। छती शक्ति साधर्मिक-वात्सल्य न कीधुं। अनेराइ धम्मक्षेत्र सीदाता छती शक्तें उद्धर्या नहीं॥ बारमें अतिथि-संविभाग-व्रत–विषइओ०॥१२॥

संलेहणा तणा पांच अतिचार। इहलोए परलोए॥

इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीविआसंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे। इहलोक मनुष्य भवे मान, महत्त्व, लोक तणी सेवा,ठकुराई, वलदेव-वासुदेव-चक्रवर्त्ति-पद वांछयां। परलोके इंद्र-अहमिंद्र-देवाधिदेव-पदवी वांछी। सुख आव्ये जीववा तणी वांछा कीधी। दुःख आव्ये मरवा तणी वांछा कीधी। काम-भोग-तणी इच्छा कीधी॥ संलेहणा-व्रत-वि० ॥

तपाचार वारभेदें ॥ छ अभ्यन्तर, छ वाहिर ॥ अणसणमूणोयरिया०। अणसण कहीयें उपवास, ते पर्व्वतिथि छती शक्ते कीधुं नही। ऊणोदरी ते पांच सात कवल ऊणा रह्या नही। द्रव्य-संचेप विगय-प्रमुख-परिमाण कीधुं नही। आसनादिक काय-किलेश न कीधो। संलीणता—अंगोपांग संकोच्यां नहीं। नवकारसी, पोरसी, गंठसी, मूठसी, साड्ढपोरसि, पुरिमड्ढ, एकासणो, वेआसणो, नीवी, आंविल प्रमुख पच्चक्खाण पारवां वीसारयां, वेसतां नवकार भण्यो नही, ऊठतां दिवस-चरिमं न कीधुं, नीवी, आंविल, उपवासादिक तप करी काचुं पाणी पीधुं, वमन थयुं॥ वाह्य-तप-व्रत-विपइओ०॥

अभ्यंतर तप॥ पायच्छित्तं विणओ। गुरुकनें

मन सुद्धें आलोयणा लीधीं नही। गुरु-दत्त प्रायच्छित्त तप लेखा शुद्ध पहुंचाड्युं नहीं। देव-गुरु-संघ-साहम्मी प्रतें विनय साचव्यो नही। वाचना, प्रच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा लक्षण पंच विधि सिज्झाय कीधी नहीं। धर्म्मध्यान शुक्लध्यान ध्यायुं नही। कर्मक्षय निमित्त लोगस्स दस वीसनो काउस्सग्ग न कीधो ॥ अभ्यन्तर-तप-विषइओ ॥

॥ वीर्याचारना तान अतिचार ॥ अणिगूहियबलविरिओ, परिक्कमइ जो जहुत्तठाणेसु ॥ जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरियायारो ॥१॥ पढवे, गुणवे, विनय, वेयावच्च, देवपूजा, सामायिक, दान, शील, तप, भावना प्रमुख धर्म्म कृत्य तणे विषे मन, वचन, काय तणुं छतुं बल वीर्य गोपव्युं। रूडा पञ्चाङ्ग खमासमण न दीधां। बेठां पडिक्कमणुं कीधुं ॥ वीर्याचार-व्रत-विषइओ० ॥

नाणाइ अट्ठ अइवय, सम संलेहण पण पनर कम्मेसु। बारस तव विरिअ तिगं, चउवीसं सय अईयारा ॥ १॥ पडिसिद्धाणं करणे ॥ जिन-प्रतिषिद्ध बावीस अभक्ष्य, बत्तीस अनंतकाय, बहु-बीज-भक्षण, महाआरंभ, महापरिग्रहादिक कीधां। नित्यकृत्य, देवपूजा, सामायिकादिक तथा तीर्थयात्रादिक न कीधां। जीवाजीवादि-विचार

सद्दहिया नहीं, आपणी कुमति लगें उत्सूत्र-प्ररूपणा कीधी। प्राणातिपात १, मृषावाद २, अदत्तादान ३, मैथुन ४, परिग्रह ५, क्रोध ६, मान ७, माया ८, लोभ ६, राग, द्वेष ११, कलह १२, अभ्याख्यान १३, परपरिवाद १४, पैशून्य १५, अरतिरति १६, मायामृषावाद १७, मिथ्यात्वशल्य १८, ए अढारह पापस्थानकमाँहि जे कोइ कीधो, कराव्यो अनुमोद्यो, एवंप्रकारे श्रावक-धर्मे श्रीसम्यक्त्व-मूल बारह व्रत चोवीसा सो अतिचारमांहि जिको कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि सूक्ष्म, बादर, जाणतां अजाणतां हुवो होय ते सहू मन,वचन,कायायें करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥

५१—कमलदल-स्तुति ।

कमल-दल-विपुल-नयना,
कमल-मुखी कमल-गर्भ-सम-गौरी ।
कमले स्थिता भगवती,
ददातु श्रुत-देवता सौख्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'कमलदलविपुलनयना' कमल के पत्र के समान विशाल आँख वाली, 'कमलमुखी' कमल के समान मुँह वाली, 'कमल-गर्भसमगौरी' कमल के गर्भ के तुल्य गौर वर्ण वाली, 'कमले स्थिता' [और] कमल में स्थित [ऐसी] 'भगवती श्रुतदेवता' भगवती श्रुत-देवी 'सौख्यम्' सुख 'ददातु' दे ॥१॥

भावार्थ—जिसकी आँखें कमल के पत्र के समान विशाल हैं, जिसका मुख कमल के तुल्य सुन्दर है, जिसका वर्ण कमल के गर्भ के सदृश गौर है और जो कमल के आसन पर स्थित है ऐसी भगवती श्रुतदेवी आपको सुख दे ॥ १ ॥

५२—भुवनदेवता-स्तुति ।

† भुवणदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।

अर्थ—भुवनदेवता की आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

ज्ञानादिगुणयुतानां, स्वाध्यायध्यानसंयमरतानाम् ।
विदधातु भुवनदेवी, शिवं सदा सर्वसाधूनाम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'भुवनदेवी' भुवनदेवता 'ज्ञानादिगुणयुतानां' ज्ञान वगैरह गुणों से सहित [और] 'स्वाध्यायध्यानसंयमरतानाम्' हमेशा स्वाध्याय, संयम आदि में लीन 'सर्वसाधूनाम्' सब साधुओं का 'सदा' हमेशा 'शिवं' कल्याण 'विदधातु' करे ॥१॥

भावार्थ—भुवनदेवता ऐसे सभी साधुओं का सदा कल्याण करती रहे, जो ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से युक्त हैं और जो स्वाध्याय, ध्यान तथा संयम आदि में तत्पर बने रहते हैं ॥ १ ॥

५३—क्षेत्रदेवता-स्तुति ।

***खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।**

अर्थ—क्षेत्र-देवता आराधना के लिये कायोत्सर्ग करता हूँ ।

यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य, साधुभिः साध्यते क्रिया ।
सा क्षेत्रदेवता नित्यं, भूयान्नः सुखदायिनी ॥१॥

† भुवनदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम् ।

* क्षेत्रदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम् ।

अन्वयार्थ—'यस्या' जिसके 'क्षेत्र' क्षेत्र को 'समाश्रित्य' प्राप्त करके 'साधुभि' साधुओं के द्वारा 'क्रिया' चारित्र 'साध्यते' पाला जाता है 'सा क्षेत्रदेवता' वह क्षेत्रदेवता 'न' हमारे लिये 'नित्य' हमेशा 'सुखदायिनी भूयात्' सुख देने वाली हो ॥१॥

भावार्थ—वह क्षेत्रदेवता हमें हमेंशा सुख पाने में सहायक बनी रहे, जिसके क्षेत्र में रहकर साधु पुरुष अपने चारित्र का निराबाध आराधन करते हैं ॥१॥

५४—पच्चक्खाण-सूत्र ।

[* नमुक्कारसहिअ-पच्चक्खाण ।]

(१)

† उग्गए सूरे, नमुक्कार-सहिअं मुट्ठि-सहिअं +पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं—असणं,पाणं,खाइमं, साइमं ; अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्व-समाहि-वत्तिआगारेणं, विगईओ +पच्च क्खाइ, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्च-मक्खिएणं

* जो चौदह नियम हररोज सभारता है उसके लिये यह पच्चक्खाण है। यदि वह पोरसी आदिका पच्चक्खाण करना चाहे तो 'नमुक्कारसहिअ' के स्थान में 'पोरिसिं' आदि शब्द बोलें।

† उद्गते सूरे,नमस्कारसहित मुष्टिसहित प्रत्याख्याति चतुर्विधमप्याहारम्—अशन, पान, खादिम, स्वादिमम् , अन्यत्रानाभोगात्, सहसाकारात्, महत्तराकारात, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् , विकृती प्रत्याख्याति, अन्यत्रानाभोगात्, सहसाकारात्, लेपालेपात्, गृहस्थसंसृष्टात्, उत्क्षिप्तविवेकात्, प्रतीत्यम्रक्षितात्, पारिष्ठापनिकाकारात्, महत्तराकारात्, देशावकाशिक भोग-परिभोग प्रत्याख्याति अन्यत्रानाभोगात्, सहसाकारात् महत्तराकारात्, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति ।

पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं; देसावगासियं भोग-परिभोगं +पच्चक्खाइ, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं,महत्तरागारेणं सव्व-समाहि-वत्तिआगारेणं ×वोसिरइ ॥

भावार्थ—सूर्य के उदय होने के समय से लेकर दो घड़ी दिन निकल आने पर्यन्त चारों आहारों का 'नमुक्कारसहिय मुट्ठिसहिय' पच्चक्खाण किया जाता है अर्थात् नवकार गिनकर मुट्ठी खोलने का संकेत करके चार प्रकार के आहारों का त्याग किया जाता है। वे चार आहार ये हैं;—(१) अशन—रोटी आदि भोजन, (२) पान—पानी आदि पीने योग्य चीजें, (३) खादिम—फल, मेवा आदि और (४) स्वादिम—सुपारी, लवंग आदि मुखवास। इन आहारों का त्याग चार आगारों (छूटों) को रख कर किया जाता है। वे चार आगार ये हैं,—(१) अनाभोग—बिलकुल याद न आना। (२) सहसाकार—मेघ बरसते या दही मथने आदि के समय, रोकने पर भी, जल, छाँछ आदि त्याग की हुई वस्तुओं का मुख में चला जाना। (३) महत्तराकार विशेष निर्जरा आदि खास कारण से गुरु की आज्ञा पाकर निश्चय किये हुए समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लेना। (४) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार—तीव्र रोग की उपशान्ति के लिये औषध आदि ग्रहण करने के निमित्त निर्धारित समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लेना। एक या एक से अधिक विकृतियों का त्याग किया जाता है। इस विकृति-त्याग में ये आठ आगार हैं—(१) अनाभोग (२) सहसाकार (३) * लेपालेप—घृत आदि लगे हुए हाथ, कुड़छी आदि को पोंछकर

+ दूसरों को पच्चक्खाण करना हो तो 'पच्चक्खाइ' और 'वोसिरइ' और स्वयं करना हो तो 'पच्चक्खामि' और 'वोसिरामि' कहना चाहिए।

*लेपालेप से लेकर पाँच आगार मुनि के लिये हैं, गृहस्थ के लिए नहीं।

उनसे दिया हुआ आहार ग्रहण करना। (४) गृहस्थसंसृष्ट—घी, तेल आदि से छौंके हुए शाक, दाल आदि लेना या गृहस्थ ने अपने लिये जिस पर घी आदि लगाया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (५) उत्क्षिप्त-विवेक—ऊपर रक्खे हुए गुड, शक्कर आदि को उठा लेने पर उनका कुछ अंश जिसमें लगा रह गया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (६) प्रतीत्यम्रक्षित—भोजन बनाते समय जिन चीजों पर सिर्फ उँगली से घी, तेल आदि लगाया गया हो ऐसी चीजों को लेना। (७) पारिष्ठापनिकाकार—अधिक हो जाने के कारण जिस आहार को परठवाना पड़ता हो तो परठवन के दोष से बचने के लिये उस आहार को गुरु की आज्ञा से ग्रहण कर लेना। (८) महत्तराकार। देशावकाशिक-व्रत-संबन्धी भोग-परिभोग का पच्चक्खाण किया जाता है। इसमें ये चार आकार हैं—अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, और सर्व-समाधिप्रत्ययाकार।

आगार का मतलब यह है कि यदि उस समय त्याग की हुई वस्तु का सेवन किया जाय तो भी पच्चक्खाण का भंग नहीं होता।

(२)

† उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ चउव्वि-हंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्ण-त्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ ॥१॥

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन निकलने पर्यन्त, अशन,पान, खादिम और स्वादिम इन चारों आहारों का, नवकार गिन कर पारनेका संकेत करके, त्याग किया जाता है। यह पच्चक्खाण इन दो आगारों को रख कर किया जाता है—अनाभोग और सहसाकार ॥१॥

† जो चौदह नियम न धारता हो उसके लिए ये नवकारसी आदि का पच्चक्खाण है।

(२—पोरिसी साड्ढपोरिसी-पच्चक्खाण।)

† पोरिसिं, * साड्ढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं, पच्च-क्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अण्णत्थणाभोगेणं, सहसा-गारेणं, पच्छण्ण-कालेणं, दिसामोहेणं, साहु-वयणेणं, सव्व-समाहि-वत्तियागारेणं; विगईओ पच्चक्खाइ इत्यादि ‡।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक चारों आहारों का नमुक्कारसहिअ पच्चक्खाण किया जाता है। यह पच्चक्खाण छ आगारों को रख कर किया जाता है (१) अनाभोग। (२) सहसाकार। (३) प्रच्छन्नकाल—मेघ, रज, ग्रहण, आदि के द्वारा सूर्य ढक जानेसे पोरिसी या साढपोरिसी का समय मालूम न होना। (४) दिग्मोह—दिशा का भ्रम होने से पोरिसी या साढपोरिसी का समय ठीक ठीक न जानना। (५) साधुवचन—साधु के 'उग्घाड़ा पोरिसी' शब्द को जो कि व्याख्यान में पोरिसी पढ़ाते वक्त बोला जाता है, सुन कर अधूरे समय में हो पच्चक्खाण को पार लेना। (६) सर्व-समाधिप्रत्ययाकार।

---

† पौरुषीम्। सार्धपौरुषीम्। प्रच्छन्नकालेन। दिग्मोहेन। साधुवचनेन।

* पोरिसी के पच्चक्खाण में 'साढपोरिसिं' पद और साड्ढपोरिसी के पच्चक्खाण में 'पोरिसिं' पद नहीं बोलना चाहिए।

‡ 'विगईओ पच्चक्खाइ' से लेकर 'वोसिरइ' तक का पाठ पूर्व की तरह कहना चाहिए।

[३—पुरिमड्ढ-अवड्ढ-पच्चक्खाण।]

† सूरे उग्गए, पुरिमड्ढं, * अवड्ढं, मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ ; चउव्विहंपि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसा-मोहेणं, साहु-वयणेणं; महत्तरागारेणं, सव्व-समाहि-वत्तियागारेणं, विगईओ पच्च०।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर पूर्वार्ध—दो प्रहर तक पच्चक्खाण करना पुरिमड्ढ है और तीन प्रहर तक पच्चक्खाण करना अवड्ढ है। इसके सात आगार हैं जिनमें छ पोरिसी के पच्चक्खाण के समान और 'महत्तराकार' नमुक्कार के तुल्य है।

[४—एकासण बिआसण-पच्चक्खाण।]

× पोरिसिं साड्ढपोरिसिं वा पच्चक्खाइ, उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ; अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसा-मोहेणं, साहु-वयणेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं; एकासणं बिआसणं वा पच्चक्खाइ, दुविहं तिविहंपि आहारं असणं, खाइमं, साइमं, अण्ण० सह० सागारिआगारेणं, आउंटण-पसारेणं, गुरु-

† पूर्वार्धम्। अपरार्धम्।

*—अवड्ढ के पच्चक्खाण में 'पुरिमड्ढ' पद और पुरिमड्ढ के पच्चक्खाण में 'अवड्ढ' पद नहीं बोलना चाहिए।

× एकाशन द्व्यशनं वा। द्विविधं त्रिविधमपि। सागारिकाकारात्, आकुञ्चनप्रसारणात्, गुर्वभ्युत्थानात्।

अब्भुट्ठाणेणं, पारि० मह० सव्व०* देसावगासिय० इत्यादि ॥४॥

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में पोरिसी आदि का पच्चक्खाण किया जाता है, इस लिए छः आगार पोरिसी के ही हैं। एकासण-बिआसण के ये आठ आगार हैं;—(१) अनाभोग (२) सहसाकार (३) सागारिकाकार—जिनके देखने से आहार करने की शास्त्र में मनाही है, उनके उपस्थित हो जाने पर स्थान बदल कर दूसरी जगह चले जाना। (४) आकुञ्चनप्रसारण—सुन्न पड़ जाने आदि के कारण से हाथ पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना। (५) गुर्वभ्युत्थान—किसी पाहुने मुनि या गुरु के आने पर विनय-सत्कार के लिए उठ जाना (६) पारिष्ठापनिकाकार। (७) महत्तराकार (८) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार ॥४॥

[५—एगलठाण-पच्चक्खाण।]

† पोरिसिं साड्ढपोरिसिं वा पच्चक्खाइ, उग्गए

---

* साधु के लिए एकासण, आंबिल, नीवी तथा तिविहाहार उपवास के पच्चक्खाण में, यहां पर, ये छः आगार और होते हैं—"पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा"। अर्थात्—(१) पानलेप—दाल आदि का माँड तथा इमली, द्राक्षा आदि का पानी। (२) अलेप—साबूदाना आदि का धोवन तथा छाँछ का निथरा हुआ पानी। (३) अच्छ—तीन बार औटा हुआ स्वच्छ पानी। (४) बहुलेप—चावल आदि का चिकना माँड। (५) ससिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ या बरतन का धोवन। (६) असिक्थ—आटा लगे हुए हाथ या बरतन का कपडे से छना हुआ धोवन। तथा साधु पच्चक्खाण के समय 'देसावगासियं'—आदि का प्रत्याख्यान न करें ॥

† एकाशनम् एकस्थानम्।

सूरे. चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अरण० सह० पच्छरण० दिसा० साहु० सव्व० एकासणं एगट्ठाणं पच्चक्खाइ, दुविहं, तिविह, चउव्विहंपि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं, अरण० सह० सागा० गुरु० पारि० मह० सव्व० देसाव० इत्यादि पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थ—एकासण के पच्चक्खाण की तरह इसका अर्थ जानना। फर्क केवल उतना ही है, कि एकासण के पच्चक्खाण में आठ आगार हैं और यहाँ 'आउटणपसारेण' आकार को छोड़कर बाकी सात आगार रखे जाते हैं ॥५॥

[६—आयंबिल-पच्चक्खाण।]

† पोरिसिं साड्ढपोरिसिं वा पच्चक्खाइ, उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असण, पाणं, खाइमं, साइमं, अरणत्थ० सह० पच्छ० दिसा० साहु० सव्व० आयंबिलं पच्चक्खाइ, अरणत्थ० सह० लेवालेवेणं, गिहत्थ-संसिट्ठेण, उक्खित्त विवेगेणं, पारिट्ठा० मह०, सव्व० एकासणं पच्चक्खाइ, तिविहपि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं; अरण० सह० सागा० आउंटण० गुरु० पारि० मह० सव्व० वोसिरइ ॥६॥

भावार्थ—आयंबिल में पोरिसी या साढपोरिसी तक छह आगार-पूर्वक चारों आहारों का त्याग किया जाता है। इस लिये

† आचामाम्लम्।

इसके शुरू में पोरिसी या साढपोरिसी का पच्चक्खाण है, पीछे आयंबिल करनेका पच्चक्खाण आठ आगार सहित है। आयंबिल में एक दफा जिमनेके बाद पानी के सिवाय तीनों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिए इसमें आठ आगारों के सहित तिविहार एगासण का भी पच्चक्खाण है ॥६॥

[७—निव्विगइय-पच्चक्खाण ।]

* पोरिसिं साड्ढ-पोरिसिं वा पच्चक्खाइ, उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अरणत्थ० सह० पच्छ० दिसा० साहु० सव्व० निव्विगइयं पच्चक्खाइ, अरणत्थ० सह० लेवा० गिहत्थ० उक्खित्त० पडुच्च० पारिट्ठा० मह० सव्व० एकासणं पच्चक्खाइ, तिविहंपि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं, अरणत्थ० सह० सागा० आउंटण० गुरु० पारिट्ठा० मह० सव्व० देसाव० इत्यादि पूर्ववत् ॥७॥

भावार्थ—विकार पैदा करने वाली वस्तुओं को 'विकृत' कहते हैं। विकृति के दो भेद हैं—भक्ष्य और अभक्ष्य । दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और पकान्न ये छः भक्ष्य विकृतियाँ हैं और मांस, मद्य, मधु और मक्खन ये चार अभक्ष्य । अभक्ष्य विकृतिओं का तो श्रावक को सर्वथा त्याग होता ही है। भक्ष्य विकृतिओं का इस पच्चक्खाण से त्याग किया जाता हैं। इसका भी आयंबिल के पच्चक्खाण की तरह ही सब अर्थ समझना चाहिए, केवल आगार में इतना विशेष है कि वहाँ आठ हैं और यहाँ 'प्रतीत्यम्रक्षित' को मिलाकर नव आगार रखे जाते हैं ॥७॥

* निर्विकृतिकम् ।

(८—चउव्विहाहार-उपवास-पच्चक्खाण ।)

* सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ । चउव्वि-हंपि आहारं—असणं,पाणं,खाइम, साइमं, अण्णत्थ० सह० मह० सव्व० वोसिरइ ॥८॥

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में सूर्योदय से लेकर दूसरे रोज के सूर्योदय तक चार आगार रख कर चारों आहारों का त्याग किया जाता है ॥८॥

(९—तिविहाहार-उपवास पच्चक्खाण ।)

सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ । तिविहंपि आहारं-आसणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थ० सह० पाणहार पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं, पुरिमड्ढं, अवड्ढं वा पच्चक्खाइ अण्णत्थ० सह० पच्छण्ण० दिसा० साहु० सव्व० देसावगासियं इत्यादि पूर्ववत् ॥९॥

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर दूसरे रोज के सूर्योदय तक तिविहार अभक्तार्थ-उपवास का पच्चक्खाण किया जाता है। इसमें पाँच आगार रख कर पानी के सिवाय तीन आहारों का त्याग किया जाता है। पानी भी पोरिसी, साड्ढपोरिसी आदि तक छ आगार रख कर छोड़ दिया जाता है, इसी लिए 'पाणहार पोरिसी' इत्यादि पाठ है।

(१०—दत्ति पच्चक्खाण ।)

+ पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं, पुरिमड्ढं, अवड्ढं वा पच्चक्खाइ,उग्गए सूरे,चउविहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं साइमं, अणत्थ० सह० पच्छ० दिसा०

---

* अभक्तार्थम् । + दत्तिम् ।

साहु० सव्व० एकासणं एगट्ठाणं दत्तियं पच्चक्खामि, तिविहं चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अणत्थ० सह० सागा० गुरु० मह० सव्व० विगइओ पच्चक्खाइ इत्यादि पूर्ववत्, देसावगासियं इत्यादि पूर्ववत् ॥१०॥

भावार्थ—एक वार में अविच्छिन्न रूप से जितना दान दिया जाय उसे दत्ति कहते हैं। इसमें भी एकासण की तरह शुरु में छः आगार-सहित पोरिसी या साढपोरिसी का पच्चक्खाण है, पीछे छह आगार सहित दत्ति का पच्चक्खाण है, दत्ति में एक दफा जिमने के बाद पानी भिन्न तीनों आहारों का या चारों आहारों का त्याग किया जाता है; इसलिए बाद में छह आगारों सहित उनका भी पच्चक्खाण है।

(११ – दिवसचरिम-चउव्विहाहार-पच्चक्खाण ।)

दिवस-चरिमं पच्चक्खाइ, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अणत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहि-वत्ति-यागारेणं वोसिरइ ॥११॥

भावार्थ—इस पच्चक्खाण से दिन के शेष भाग से संपूर्ण रात्रि पर्यन्त चारों आहारों का त्याग किया जाता है ॥११॥

[१२—दिवसचरिम-दुविहाहार-पच्चक्खाण ।]

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, दुविहंपि आहारं—असणं, खाइमं; अणत्थ० सह० मह० सव्व० वोसिरइ ॥१२॥

भावार्थ—इस पच्चक्खाण से दिन के शेष भाग से लेकर

संपूर्ण रात्रि पर्यन्त पानी और मुखवास को छोडकर शेष दो आहारों का त्याग किया जाता है ॥१२॥

[१३—पाणहार-पच्चक्खाण]

पाणहार दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, अन्नत्थणा-भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहि-वत्तियागारेणं वोसिरइ ॥१३॥

भावार्थ—यह पच्चक्खाण दिन के शेष भाग से लेकर संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त पानी का त्याग करने के लिए है ॥१३॥

[१४—भवचरिम-पच्चक्खाण]

भवचरिमं पच्चक्खाइ, तिविहं चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइम, साइमं, अण्णत्थ० सह० मह० सव्व० वोसिरइ* ॥१४॥

भावार्थ—अन्त समय में यह पच्चक्खाण किया जाता है। इस पच्चक्खाण में चार के स्थान में दो आगार भी रखे जा सकते हैं ॥१४॥

[१५—देसावगासिय-पच्चक्खाण]

† अहं णं भंते ! तुम्हाणं समीवे देसावगासियं

* इसी तरह गंठिसहिअ, मुट्ठिसहिअ, और अंगुट्ठसहिअ आदि अभि-ग्रह-पच्चक्खाण के भी ये ही चार आगार होते हैं। साधु के लिये पाँचवाँ 'चोल-पट्टागारेणं' चोलपट्ट का भी आगार होता है।

† अहं भदन्त ! युष्माकं समीपे देशावकाशिकं प्रत्याख्यामि द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः। द्रव्यतो देशावकाशिकम्, क्षेत्रतोऽत्र अन्यत्र वा, कालतो यावद् धारणा, भावतो यावद् ग्रहेण न गृह्ये, छलेन न छल्ये, अन्येन केनापि रोगातङ्केन वा एष मे परिणामो न परिपतति तावदभिग्रहं, अन्यत्रानाभोगात्, सहसाकारात्, महत्तराकारात्, सर्वसमाधिप्रत्ययाकाराद् व्युत्सृजामि॥१५॥

पच्चक्खामि दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं देसावगासियं, खित्तओ णं इत्थ वा अ-णत्थ वा, कालओ णं जाव धारणा, भावओ णं जाव गहेणं न गहेज्जामि, छलेणं न छलेज्जामि, अण्णेण केणवि रोगायंकेण वा एस मे परिणामो न परिवडइ ताव अभिग्गहो, अणत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहि-वत्तियागारेणं वोसिरइ॥ १५॥

भावार्थ—हे भगवन्! मैं आपके पास द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से देशावकाशिक--दशवें श्रावक-व्रत का नियम लेता हूँ। द्रव्य से देशावकाशिक, क्षेत्र से यहाँ या अन्यत्र, काल से धारणा पर्यन्त और भाव से जब तक भूतादि-ग्रह से गृहीत न होऊँ, छल से छला न जाऊँ या अन्य किसी रोगातंक से मेरा यह परिणाम पतित न हो जाय तबतक यह मेरा अभिग्रह है। इस पच्चक्खाण में भी पूर्व-व्याख्यात ये चार आगार हैं;—अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधिप्रत्ययाकार ॥१५॥

५५—पच्चक्खाण-आगार-संख्या।

+ दो चेव नमुक्कारे, आगारा छच्च हुंति पोरिसिए।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एगासणयम्मि अट्ठेव ॥१॥

+ द्वावेव नमस्कारे, आकाराः षट् च भवन्ति पौरुष्याम्।
सप्तैव च पूर्वार्धे, एकाशनकेऽष्टैव ॥ १ ॥
सप्तैकस्थानस्य तु, अष्टैव चाचामाम्ले आकाराः।
पञ्चैवाभक्तार्थे, षट् पाने चरिमे चत्वारि ॥ २ ॥
पञ्च चत्वारोऽभिग्रहे, निर्विकृतौ अष्ट नव चाकाराः।
अप्रावरणे पञ्च तु, भवन्ति शेषेषु चत्वारः ॥ ३ ॥

सत्तेगट्ठाणस्स उ, अट्ठेव य अंबिलम्मि आगारा ।
पंचेव अब्भत्तट्ठे, छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥२॥
पच चउरो अभिग्गहे, निव्वीए अट्ठ नव य आगारा ।
अप्पावरणे पंच उ, हवंति सेसेसु चत्तारि ॥३॥

भावार्थ—नवकारसी के पच्चक्खाण में दो, पोरिसी में छह, पुरिमड्ढ में सात, एकासण में आठ, एकठाणे में सात, आयबिल में आठ, उपवास में पाँच, पाणहार में छह, चरिम-पच्चक्खाण में चार, अभिग्रह-पच्चक्खाण में पाँच या चार, निर्विकृति में आठ या नव, अप्रावरण में पाँच और शेष प्रत्याख्यानों में चार आगार होते हैं। इनका विस्तार से विवरण पूर्वोक्त पच्चक्खाण सूत्र में यथास्थान किया गया है ॥ १--३ ॥

अथ सप्त स्मरणानि ।

५६—अजित-शान्ति स्तवन ।

अजिअं जिअ-सव्व-भयं,
संतिं च पसंत-सव्व-गय-पावं ।
जय गुरु संति-गुण-करे,
दो वि जिणवरे पणिवयामि ॥१॥ [गाहा]

अन्वयार्थ—'जिअसव्वभयं' सब भयों को जीते हुए 'अजिअं' श्री अजितनाथ 'च' और 'पसंतसव्वगयपावं' सब रोग और पाप को शान्त किये हुए 'संतिं' श्री शान्तिनाथ [इन] जयगुरु' जगत् के गुरु

---

* अजितं जितसर्वभयं, शान्तिं च प्रशान्तसर्वगदपापम् ।
जगद्गुरू शान्तिगुणकरौ, द्वावपि जिनवरौ प्रणिपतामि ॥ १ ॥

[तथा] 'संतिगुणकरे' उपशम गुण को करने वाले [ऐसे] 'दो वि' दोनों 'जिणवरे' जिनवरों को 'पणिवयामि' [मैं] नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम गाथा है। इसमें श्री अजितनाथ और श्री शान्तिनाथ दोनों की स्तुति है।

सब भयों को जीत लेने वाले अजितनाथ और सब रोग तथा पापों को शान्त कर देने वाले श्रीशान्तिनाथ, इन दोनों को मैं नमस्कार करता हूँ। ये दोनों तीर्थंकर जगत् के गुरु और शान्तिकारक हैं ॥१॥

† ववगय-मंगुल-भावे,
ते हं विउल-तव-निम्मल-सहावे।
निरुवम-मह-प्पभावे,
थोसामि सुदिट्ठ-सब्भावे ॥२॥ (गाहा)

अन्वयार्थ—'ववगयमंगुलभावे' तुच्छ भावों को नष्ट कर देने वाले, 'विउल' महान् 'तव' तप से 'निम्मलसहावे' निर्मल स्वभाव वाले, 'निरुवममहप्पभावे' अतुल और महान् प्रभाव वाले [और] 'सुदिट्ठसब्भावे' सत्य पदार्थों को अच्छी तरह देख लेने वाले [ऐसे] 'ते' उनकी 'हं' मैं 'थोसामि' स्तुति करूँगा ॥ २ ॥

भावार्थ—इस गाथा-नामक छन्द में दोनों तीर्थंकरों का स्तवन करने की प्रतिज्ञा की गई है।

जिनके बुरे परिणाम बिलकुल नष्ट हो चुके हैं, तीव्र तपस्या से जिनका स्वभाव निर्मल हुआ है, जिनका प्रभाव अतुलनीय और महान् है और जिन्होंने यथार्थ तत्त्वों को पूर्णतया जाना है, उन श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ का मैं स्तवन करूँगा ॥२॥

† व्यपगताशोभनभावौ, तावहं विपुलतपोनिर्मलस्वभावौ।
निरुपममहाप्रभावौ, स्तोष्यामि सुदृष्टसद्भावौ ॥ २ ॥

⊛ सव्व-दुक्ख-प्पसंतीणं, सव्व-पाव-प्पसंतिणं।
सया अजिअ-संतीणं नमो अजिअ-संतिणं ॥३॥

(सिलोगो)

अन्वयार्थ— 'सव्वदुक्खप्पसंतीणं' सब दु खों को शान्त किये हुए, 'सव्वपावप्पसंतिणं' सब पापों को शान्त किये हुए [और] 'सया' सदा 'अजिअसंतिणं' अजेय तथा शान्ति धारण करने वाले [ऐसे] 'अजिअसंतिणं' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ को 'नमो' नमस्कार हो ॥३॥

भावार्थ—इस श्लोक-नामक छन्द में दोनों तीर्थंकरों को नमस्कार किया है।

जिनको न तो किसी तरह का दु ख बाकी है और न किसी तरह का पाप और जो हमेशा अजेय नहीं जीते जा सकने वाले—तथा शान्ति धारण करने वाले हैं, ऐसे श्री अजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों को नमस्कार हो ॥ ३ ॥

† अजिअ जिण ! सुह-पवत्तणं,
तव पुरिसुत्तम ! नाम-कित्तणं।
तह य धिइ-मइ-प्पवत्तणं,
तव य जिणुत्तम ! संति ! कित्तणं ॥४॥

(मागहिआ)

अन्वयार्थ—'पुरिसुत्तम' पुरुषों में उत्तम 'अजिअजिण' हे अजितनाथ जिन ! 'तव' तेरा 'नामकित्तणं' नाम कीर्तन 'य' तथा

⊛ सर्वदु खप्रशान्तिभ्यां, सर्वपापप्रशान्तिभ्याम्।
सदाऽजितशान्तिभ्यां, नमोऽजितशान्तिभ्याम् ॥ ३ ॥

† अजितजिन ! सुखप्रवर्तनं, तव पुरुषोत्तम ! नामकीर्त्तनम्।
तथा च धृतिमतिप्रवर्तनं, तव च जिनोत्तम ! शान्ते ! कीर्त्तनम् ॥४॥

'जिणुत्तम संति' हे जिनोत्तम शान्तिनाथ ! 'तव' तेरा 'नामकित्तणं' नाम-कीर्तन 'सुहपवत्तणं' सुख को प्रवर्ताने वाला 'तह य' तथा 'धिइम-इप्पवत्तणं' धीरज और बुद्धि को प्रवर्ताने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम मागधिका है। इसमें दोनों तीर्थंकरों के स्तवन की महिमा का वर्णन है।

हे पुरुषों में उत्तम श्रीअजितनाथ ! तथा जिनों में उत्तम श्रीशान्ति-नाथ ! तुम दोनों के नाम का स्तवन सुख देने वाला तथा धैर्य और बुद्धि प्रकटाने वाला है ॥ ४ ॥

* किरिया-विहि-संचिअ-कम्म-किलेस-विमुक्खयरं,
अजिअं निचिअं च गुणेहिं महा-मुणि-सिद्धि-गयं ।
अजिअस्स य संति-महा-मुणिणो वि अ संतिकरं,
सययं मम निव्वुइ-कारणयं च नमंसणयं ॥ ५॥

(आलिंगणयं)

अन्वयार्थ—'किरिआविहि' क्रियाएँ कर के 'संचिअ' इकट्ठे किये हुये 'कम्मकिलेस' कर्मरूप क्लेश से 'विमुक्खयरं' छुटकारा दिलाने वाला, 'गुणेहिं' गुणों से 'निचिअं' परिपूर्ण 'अजिअं' किसी से नहीं जीता हुआ, 'महामुणिसिद्धिगयं' महायोगी की सिद्धियों से युक्त 'च' और 'संतिकरं' शान्ति करने वाला, (ऐसा) 'अजिअस्स' अजितनाथ को किया हुआ 'य' तथा 'संतिमहामुणिणो वि' शान्तिनाथ महामुनि को भी किया हुआ 'नमंसणयं' नमस्कार 'सययं' हमेशा 'मम' मेरी 'निव्वुइ' शान्ति के 'कारणयं' कारण [हो] ॥ ५ ॥

* क्रियाविधिसंचितकर्मक्लेशविमोक्षकर-
मजितं निचितं च गुणैर्महामुनिसिद्धिगतम् ।
अजितस्य च शान्तिमहामुनेरपि च शान्तिकरं,
सततं मम निर्वृतिकारणकं च नमस्यनम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम आलिङ्गनक है। इसमें श्री-अजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों को किये जाने वाले नमस्कार की महिमा गायी गयी है।

अनेक क्रियाओं के द्वारा संचय किये हुए कर्म-क्लेशों से छुड़ाने वाला, अनेक गुणों से युक्त, अजेय अर्थात् सब से अधिक प्रभाव वाला, बड़े बड़े योगियों के योग्य अणिमा आदि सिद्धियों को दिलाने वाला और शान्तिकारक, इस प्रकार का श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ को किया हुआ जो नमस्कार है सो सदा मुझ को शान्ति देवे ॥ ५ ॥

*पुरिसा जइ दुक्ख-वारणं, जइ य विमग्गह सुक्ख-कारणं।
अजिअं संतिं च भावओ, अभयकरे सरणं पवज्जहा ॥
(मागहिआ)

अन्वयार्थ—'पुरिसा' हे पुरुषो! 'जइ' अगर 'दुक्खवारण' दुःख-निवारण का उपाय 'य' तथा 'सुक्खकारण' सुख का उपाय 'विमग्गह' ढूँढते हो तो 'अभयकरे' अभय करने वाले [ऐसे] 'अजिय संतिं च' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों की 'सरणं' शरण 'भावओ' भावपूर्वक 'पवज्जहा' प्राप्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम मागधिका है। इसमें दोनों भगवान् की शरण लेने का उपदेश है।

हे पुरुषो! अगर तुम दुःख निवारण की और सुख प्राप्त करने की खोज करते हो तो श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथ, दोनों की भक्तिपूर्वक शरण लो, क्योंकि वे अभय करने वाले हैं ॥ ६ ॥

---

* पुरुषा! यदि दुःखवारणं, यदि च विमार्गयथ सौख्यकारणम्।
अजितं शान्तिं च भावतोऽभयकरौ शरणं प्रपद्यध्वम् ॥ ६ ॥

* अरइ-रइ-तिमिर-विरहिअमुवरय-जर-मरणं,
सुर-असुर-गरुल-भुयग-वइ-पयय-पणिवइयं ।
अजिअमहमवि अ सुनय-नय-निउणमभयकरं,
सरणमुवसरिअ भुवि-दिविज-महिअं सययमुवणमे
॥ ७ ॥ [संगययं]

अन्वयार्थ—'अरइ' अरति से 'रइ' रति से और 'तिमिर' अज्ञान से 'विरहिअं' रहित, 'उवरयजरमरणं' जरा और मरण से रहित, 'सुर' देव 'असुर' असुरकुमार 'गरुल' सुपर्णकुमार तथा 'भुयग' नागकुमार के 'वइ' पतियों से 'पयय' आदर-पूर्वक 'पणिवइअं' नमस्कार किये गये; 'सुनयनय' अच्छी नीति और न्याय में 'निउणं' निपुण, 'अभयकरं' भय मिटाने वाले 'अ' और 'भुविदिविजमहिअं' पृथ्वी में तथा स्वर्ग में जन्मे हुए प्राणियों से पूजित [ऐसे] 'अजिअ' अजितनाथ की 'सरणं' शरण 'उवसरिअ' पाकर 'अहमवि' मैं भी 'सययं' सदा 'उवणमे' नमन करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह संगतक नाम का छन्द है। इसमें केवल श्री अजितनाथ का गुण-कीर्तन है।

जो हर्ष, खेद तथा अज्ञान से परे है, जो जरा-मरण से मुक्त है, जिसको देवों के, असुरकुमारों के, सुपर्णकुमारों के और नागकुमारों के स्वामियों ने आदर-पूर्वक प्रणाम किया है, जो सुनीति और न्याय में कुशल है; जो अभय-दाता है और मनुष्य-लोक तथा स्वर्ग-लोक के प्राणियों

---

* अरतिरतितिमिरविरहितमुपरतजरामरणं,
सुरासुरगरुडभुजगपतिप्रयतप्रणिपतितम् ।
अजितमहमपि च सुनयनयनिपुणमभयकरं,
शरणमुपसृत्य भुविदिविजमहितं सततमुपनमामि ॥ ७

ने जिसकी पूजा की है, उस श्रीअजितनाथ की शरण पा कर मैं सदा उसको नमन करता हूँ ॥ ७ ॥

*तं च जिणुत्तममुत्तम-नित्तम-सत्तधरं,
अज्जव-मद्दव-खंति-विमुत्ति-समाहि-निहिं।
संतिकरं पणमामि दमुत्तम-तित्थयरं,
संति-मुणी मम संति समाहि वरं दिसउ ॥ ८ ॥

[सोवाणयं]

अन्वयार्थ—'उत्तम' श्रेष्ठ तथा 'नित्तम' तमोगुण रहित [ऐसे] 'सत्त' यश को या पराक्रम को 'धर' धारण करने वाले, 'अज्जव' सरलता, 'मद्दव' मृदुता, 'खंति' क्षमा, 'विमुत्ति' निर्लोभता और 'समाहि' समाधि के 'निहि' निधि, 'च' और 'दमुत्तमतित्थयरं' दमन में श्रेष्ठ तथा तीर्थङ्कर, [ऐसे] 'संतिकरं' शान्तिकारक 'तं' उस 'जिणोत्तमं' जिनवर को 'पणमामि' (मैं) प्रणाम करता हूँ, 'संतिमुणी' शान्तिनाथ मुनि 'मम' मुझको 'संति' शान्ति तथा 'समाहि' समाधि का 'वरं' वर 'दिसउ' देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम सोपानक है। इसमें केवल श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

जो उत्तम तथा अज्ञान, हिंसा आदि तमोगुण के दोषों से रहित ऐसे शुद्ध ज्ञान यश को धारण करने वाला है, जो सरलता, कोमलता, क्षमा, निर्लोभता और समाधि का भण्डार है, जो विकारों को शान्त

* तं च जिनोत्तममुत्तमनिस्तमसत्त्वधर-
मार्जवमार्दवक्षान्तिविमुक्तिसमाधिनिधिम्।
शान्तिकरं प्रणमामि दमोत्तमतीर्थकरं,
शान्तिमुनिर्मम शान्तिसमाधिवरं दिशतु ॥ ८ ॥

करने में प्रबल तथा तीर्थंकर है, जो शान्ति के कर्ता तथा जनों में श्रेष्ठ है, उस शान्तिनाथ भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वह श्रीशान्तिनाथ मुझको शान्ति तथा समाधि का वर प्रदान करे ॥ ८ ॥

*सावत्थि-पुव्व-पत्थिवं च वर-हत्थि-मत्थय-पसत्थ-वि-
त्थिन्न-संथियं,थिर-सरिच्छ-वच्छं मयगल-लीलायमाण-
वरगंध-हत्थि-पत्थाण-पत्थियं संथवारिहं । हत्थि-हत्थ-
बाहुं धंत-कणग-रुअग-निरुवहय-पिंजरं पवर-लक्खणो-
वचिय-सोम-चारु-रूवं, सुइ-सुह-मणाभिराम-परम-र-
मणिज्ज-वर-देवदुंदुहि-निनाय-महुरयर-सुह-गिरं॥९॥

[वेड्ढओ]

†अजिअं जिआरि-गणं,जिअ-सव्व-भयं भवोह-रिउं।
पणमामि अहं पयओ,पावं पसमेउ मे भयवं ॥१०॥

(रासालुद्धओ)

अन्वयार्थ—'सावत्थिपुव्वपत्थिवं' पहले श्रावस्ती नगरी के राजा, 'वरहत्थि' प्रधान हाथी के 'मत्थय' मस्तक के समान 'पसत्थ' प्रशस्त और 'वित्थिन्न' विस्तीर्ण 'संथियं' संस्थान वाले, 'थिरसरिच्छ-

---

* श्रावस्तीपूर्वपार्थिवं च वरहस्तिमस्तकप्रशस्तविस्तीर्णसंस्थितं.
स्थिरसदृक्षवक्षसं मदकललीलायमानवरगन्धहस्तिप्रस्थानप्रस्थितं संस्तवार्हम् ।
हस्तिहस्तबाहुं ध्मातकनकरुचकनिरुपहतपिञ्जरं प्रवरलक्षणोपचितसौम्यचारुरूपं,
श्रुतिसुखमनोऽभिरामपरमरमणीयवरदेवदुन्दुभिनिनादमधुरतरशुभगिरम् ॥९॥

† अजितं जितारिगणं, जितसर्वभयं भवौघरिपुम् ।
प्रणमाम्यहं प्रयतः, पापं प्रशमयतु मे भगवन् ! ॥ १० ॥

वच्छ' स्थिर और अविषम वक्षःस्थल वाले, 'मयगल' मदोन्मत्त और 'लीलायमाण' लीलायुक्त 'वरगंधहत्थि' प्रधान गन्धहस्ति की 'पत्थाण' चाल से 'पत्थिय' चलने वाले, 'संथवारिहं' स्तवन करने योग्य, 'हत्थिहत्थबाहुं' हाथी की सूँढ के समान बाहु वाले, 'धंत' तपाये हुए 'कणगरुअग' सुवर्ण के आभरण के समान 'निरुवहयपिंजर' स्वच्छ पीले वर्ण वाले, 'पवरलक्खणोवचिय' श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त 'सोम' सौम्य और 'चारुरूव' सुन्दर रूप वाले, 'च' तथा 'सुइसुह' कान को सुखकर 'मणाभिराम' मन को आनन्दकारी और 'परमरमणिज्ज' अतिरमणीय [ऐसे] 'वरदेवदुंदुहिनिनाय' श्रेष्ठ देव-दुन्दुभि के नाद के समान 'महुरयरसुहगिर' अतिमधुर और कल्याण-कारक वाणी वाले, तथा—

'जिआरिगण' वैरियों के समूह को जीते हुए 'जिअसव्वभय' सब भय को जीते हुए 'भवोहरिउ' संसाररूप प्रवाह के वैरी [ऐसे] 'अजिअ' अजितनाथ का 'अहं' मैं 'पयओ' आदर-सहित 'पणमामि' प्रणाम करता हूँ, 'भयव' हे भगवन्! 'मे' मेरे 'पाव' पाप को 'पसमेउ' प्रशान्त कर दीजिये ॥ ६ ॥ १० ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहले का नाम वेष्टक और दूसरे का नाम रासालुब्धक है। दोनों छन्दों में श्रीअजितनाथ की स्तुति है।

जो प्रथम गृहस्थ अवस्था में श्रावस्ती नगरी का नरपति था, जिस का संस्थान (शरीर का आकार) प्रधान हाथी के मस्तक के समान सुन्दर और विशाल था, जिसकी छाती स्थिर और अविषम थी, प्रधान गन्ध-हस्ति की चाल की सी जिसकी चाल थी, जो प्रशंसा करने लायक है, हाथी की सूंढ़ की सी जिसकी भुजाएं थी, तपे हुए सोने के भूषण के समान जिसका अतिस्वच्छ पीत वर्ण था, अच्छे अच्छे लक्षण वाला, सौम्य और सुन्दर जिसका

रूप था,सुनने मे सुखकारी, आह्लादकारी और अनिरमणीय ऐसे श्रेष्ठ देव-दुन्दुभिके नाद के समान अत्यन्त मधुर और कल्याण-कारक जिसकी वाणी थी, जिसने वैरि-गण को और सब भयो को भी जीत लिया और जिसने राग-द्वेषादि विकाररूप संसार-परम्परा का नाश किया, उस श्रीअजितनाथ को मैं बहुमान-पूर्वक प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन् ! आप मेरे पाप को शान्त कीजिये । ६॥ १० ॥

*कुरु-जणवय-हत्थिणाउर-नरीसरो पढमं तओ महा-चक्कवट्टि-भोए मह-प्पभावो,जो बावत्तरि-पुरवर-सहस्स-वर-नगर-निगम-जणवय-वई बत्तीसा-राय-वर-सहस्साणुयाय-मग्गो। चउदस-वर-रयण-नव-महा-निहि-चउ-सट्ठि-सहस्स-पवर-जुवईण सुंदर-वई, चुलसी-हय-गय-रह-सय-सहस्स-सामी छन्नवइ-गाम-कोडि-सामी-आसी जो भारहम्मि भयवं ॥११॥ (वेड्ढओ)

तं संतिं संतिकरं, संतिण्णं सव्व-भया ।
संतिं थुणामि जिणं, संतिं वेहेउ मे ॥१२॥

[रासानंदियं]

---

* कुरुजनपदहास्तिनापुरनरेश्वरः प्रथमं ततो महाचक्रवर्तिभोगान् [प्राप्तः] महाप्रभावः, यो द्विसप्ततिपुरवरसहस्रवरनगरनिगमजनपदपतिर्द्वात्रिंशद्राजवरसहस्रानुयातमार्गः । चतुर्दशवररत्ननवमहानिधिचतुःषष्टिसहस्रप्रवरयुवतीनां सुन्दरपतिः, चतुरशीतिहयगजरथशतसहस्रस्वामी षण्णवतिग्रामकोटीस्वामी आसीत्, यो भारते भगवान् ॥ ११ ॥

तं शान्तिं शान्तिकरं, संतीर्णं सर्वभयात् ।
शान्तिं स्तौमि जिनं, शान्तिं विदधातु मे ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'पढम' पहले 'कुरुजणवय' कुरु देश के 'हत्थिणाउर' हस्तिनापुर नगर का 'नरीसरो' नरेश्वर, 'तओ' इसके बाद 'महाचक्कवट्टिभोए' चक्रवर्ती के महान् भोगों को भोगने वाला [जैसे]—'बावत्तरिपुरवरसहस्स' बहत्तर हजार, प्रधान प्रधान पुर वाले 'वरनगरनिगम' श्रेष्ठ नगरों तथा निगमों से युक्त ऐसे 'जणवयवई' देश का स्वामी, 'बत्तीसारायवरसहस्स' बत्तीस हजार प्रधान राजाओं से 'अणुयायमग्गो' अनुगत मार्ग वाला अर्थात् सेवित, 'चउदसवर-रयण' चौदह प्रधान रत्नों, 'नवमहानिहि' नव महानिधियों और 'चउसट्ठिसहस्सपवरजुवईण' चौंसठ हजार प्रधान युवतियों का 'सुंदर-वई' सुन्दर पति, 'चुलसीहयगयरहसयसहस्स' चौरासी लाख घोड़े, हाथी और रथों का 'सामी' स्वामी, 'छन्नवइगामकोडिसामी' छ्यानवे करोड़ गाँवों का स्वामी [इस प्रकार] 'जो' जो 'महप्पभावो' महाप्रभाव वाला [एवं] 'भारहम्मि' भरत क्षेत्र का 'भयव' नाथ 'आसी' हुआ ॥ ११ ॥

'त' उस 'संतिकरं' शान्तिकारक, 'सव्वभया' सब भयों से 'संति-ण्ण' मुक्त [तथा] 'संति' शान्ति वाले [ऐसे] 'संतिजिण' शान्तिनाथ जिनवर की 'थुणामि' मैं स्तुति करता हूँ, 'मे' मेरे लिये 'संति' शान्ति 'विहेउ' कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहले का नाम वेड्ढक और दूसरे का नाम रासानन्दितक है। दोनों में सिर्फ श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

जो पहले तो कुरु देश की राजधानी हस्तिनापुर नगर का साधारण नरेश था, पर पीछे से जिसको चक्रवर्ती की महासमृद्धि प्राप्त हुई, अर्थात् जिसके अधिकार में बहत्तर हजार अच्छे अच्छे पुरा वाले नगरों तथा निगमों (व्यापार के अड्डों) वाला देश आया बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा जिसके अनुगामी हुए, चौदह श्रेष्ठ रत्न, नव महानिधि, चौंसठ हजार प्रधान युवतियाँ, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी

लाख हाथी, चौरासी लाख रथ और छ्यानवे करोड़ गाँव, इतना वैभव जिसे प्राप्त हुआ। इस प्रकार भरत क्षेत्र का जो महाप्रभावशाली सम्राट् हुआ, उस स्वयं शान्ति वाले, दूसरों को शान्ति पहुँचाने वाले और सब भयों से मुक्त—सारांश यह कि पहले साधारण राजा, पीछे चक्रवर्ती और अन्त में महान् त्यागी. ऐसे श्रीशान्तिनाथ जिनवर की मैं स्तुति करता हूँ, वह श्रीशान्तिनाथ भगवान् मुझको शान्ति देवे ॥ ११ ॥ १२ ॥

*इक्खाग विदेह-नरीसर नर-वसहा मुणि-वसहा,
नव-सारय-ससि-सकलाणण विगय-तमा विहुअ-रया।
अजिउत्तम तेअ-गुणेहिं महा-मुणि-अमिअ-बला वि-
उल-कुला, पणमामि ते भव-भय-मूरण जग-सरणा
मम सरणं ॥ १३ ॥ (चित्तलेहा)

अन्वयार्थ—'इक्खाग' इक्ष्वाकुवंश में जन्म लेने वाले, 'विदेह-नरीसर' विदेह देश के नरपति, 'नरवसहा' नर-श्रेष्ठ, 'मुणिवसहा' मुनि-श्रेष्ठ, 'नवसारयससिसकलाणण' शरद् ऋतु के नवीन चन्द्र के समान कलापूर्ण मुख वाले, 'विगयतमा' अज्ञानरूप अन्धकार से रहित, 'विहुअरया' कर्मरूप रज से रहित, 'तेअगुणेहिं' तेजरूप गुणों से 'उत्तम' श्रेष्ठ, 'महामुणिअमिअबला' महामुनियों के द्वारा भी नापा न जा सके ऐसे बल वाले, 'विउलकुला' विशाल कुल वाले, 'भवभयमूरण' सांसारिक भयों को तोड़ने वाले 'जगसरणा' जगत् के लिये शरणरूप, [ऐसे-]

* ऐक्ष्वाक ! विदेहनरेश्वर ! नरवृषभ ! मुनिवृषभ !,
नवशारदशशिसकलानन ! विगततमः ! विधूतरजः ! ।
अजित ! उत्तम ! तेजोगुणैर्महामुन्यमितबल ! विपुलकुल !,
प्रणमामि तुभ्यं भवभयभञ्जन ! जगच्छरण ! मम शरणम् ॥ १३ ॥

अजिय' हे अजितनाथ ! 'ते' तुझको 'पणमामि' [मैं] प्रणाम करता हूँ, [तू] 'मम सरणं' मेरे लिये शरण रूप है ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस चित्रलेखा-नामक छन्द में श्रीअजितनाथ प्रभु की स्तुति है।

हे इक्ष्वाकु वंश में जन्म लेने वाले ! विदेह देश के स्वामी ! मनुष्यों में प्रधान ! शरत्काल के नवीन चन्द्र की तरह शोभमान मुख वाले ! तमोगुण और कर्म रज से मुक्त ! तेजस्वी गुण वाले बड़े बड़े मुनि भी जिसका अन्दाज नहीं लगा सकने ऐसे बल वाले ! विशाल कुल वाले ! दुनियाँ के भयों को मेटने वाले और जगत् को शरण देने वाले ऐसे हे अजितनाथ भगवन् ! मैं तुझको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि तू मेरा आधार है ॥ १३ ॥

* देव-दाणविंद चंद-सूर-वंद हट्ठ तुट्ठ-जिट्ठ-परम-
लट्ठ-रूव धंत-रुप्प-पट्ट सेय-सुद्ध-निद्ध-धवल--
दंतपं-ति संति सत्ति-कित्ति-मुत्ति-जुत्ति गुत्ति पवर,
दित्त-तेअ-वंद धेअ सव्व-लोअ-भाविअ-प्पभाव णेअ
पइस मे समाहि ॥ १४ ॥ (नारायओ)

अन्वयार्थ—'देवदाणविंद' देवेन्द्र और दानवेन्द्र के तथा 'चंदसूर' चन्द्र और सूर्य के 'वंद' वन्दनीय ! 'हट्ठ' हर्षयुक्त, 'तुट्ठ' सन्तोषयुक्त, 'जिट्ठ' अत्यन्त प्रशंसा-योग्य, 'परमलट्ठरूव' उत्कृष्ट और पुष्ट स्वरूप वाले ! 'धंत' तपायी हुई 'रुप्प' चाँदी की 'पट्ट' पाट के

---

* देवदानवेन्द्रचन्द्रसूरवन्द्य ! हृष्टतुष्टज्येष्ठपरम
लष्टरूप ! ध्मातरूप्यपट्टश्वेतशुद्धस्निग्धधवल—
दन्तपङ्क्ते ! शान्ते ! शक्तिकीर्तिमुक्तियुक्तिगुप्तिप्रवर !,
दीप्ततेजोवृन्द ध्येय ! सर्वलोकभावितप्रभाव ! ज्ञेय ! प्रदिश मे समाधिम्॥१४

समान 'सेय' सफेद, 'सुद्ध' शुद्ध, 'निद्ध' चिकनी और 'धवलदंत-पंति' कान्ति वाली ऐसी दांत की पङ्क्ति वाले ! 'सत्ति' शक्ति, 'कित्ति' कार्त्ति, 'मुत्ति' निर्लोभता, 'जुत्ति' युक्ति और 'गुत्ति' गुप्ति में 'पवर' प्रधान ! 'दित्त' दीप्ति वाले 'तेअ' तेज के 'वंद' पुञ्ज ! 'धेअ' ध्यान करने योग्य ! 'सव्वलोअ' सब लोक में 'भाविअप्पभाव' फैले हुए प्रभाव वाले ! [और] 'णेअ' जानने योग्य ! [ऐसे] 'संति' हे शान्तिनाथ भगवन् ! 'मे' मुझको 'समाहिं' समाधि 'पइस' दे ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह नाराचक छन्द है। इसमें श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

हे देवेन्द्र, चन्द्र और सूर्य को वन्दन करने योग्य ! हर्ष-पूर्ण, प्रसन्न, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट और लष्ट-पुष्ट स्वरूप वाले ! तपाकर शोधी हुई चाँदी की पाट के समान सफेद, निर्मल चिकनी और उज्वल ऐसी दाँत की पङ्क्ति धारण करने वाले ! शक्ति, यश, निर्ममता, युक्ति और गुप्ति में सर्व-श्रेष्ठ ! देदीप्यमान तेज के पुञ्ज ! ध्यान करने योग्य ! सब लोगों में विख्यात महिमा वाले ! और जानने योग्य ! ऐसे हे श्रीशान्तिनाथ भगवन् ! मुझको शान्ति दीजिए ॥ १४ ॥

† विमल-ससि-कलाइरेअ-सोमं,
वितिमिर-सूर-कराइरेअ-तेअं ।
तिअस-वइ-गणाइरेअ-रूवं,
धरणिधर-प्पवराइरेअ-सारं ॥१५॥

[कुसुमलया]

---

† विमलशशिकलातिरेकसौम्यं, वितिमिरसूरकरातिरेकतेजसम् ।
त्रिदशपतिगणातिरेकरूपं, धरणिधरप्रवरातिरेकसारम् ॥१५॥

* सत्ते अ सया अजिअं, सारीरे अ बले अजिअं ।
तव-संजमे अ अजिअं,एस थुणामि जिणं अजिअं॥१६॥
[भुअगपरिरिंगिअं] ।

अन्वयार्थ—'विमलससि' निर्मल चन्द्र की 'कला' कलाओं से 'अइरेअसोमं' अधिक शीतल 'वितिमिर' आवरण-रहित 'सूर' सूर्य की 'कर' किरणों से 'अइरेअतेअं' अधिक तेजस्वी, 'तिअसवइ' इन्द्रों के 'गण' गण से 'अइरेअरूवं' अधिक रूप वाले [और] 'धरणिधरप्पवरं' पर्वतों में मुख्य अर्थात् सुमेरु से 'अइरेअसारं' अधिक दृढता वाले [ऐसे, तथा—]

'सत्ते' आत्म-बल में 'सया अजिअं' सदा अजेय 'अ' और 'सारीरे बले' शरीर के बल में 'अजिअं' अजेय 'अ' तथा 'तवसंजमे' तपस्या और सयम में 'अजिअं' अजेय [ऐसे] 'अजिअं जिणं' अजितनाथ जिन को 'एस' यह अर्थात् मै 'थुणामि' स्तुति करता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहला कुसुमलता और दूसरा भुजगपरिरिङ्गित है। इनमें श्रीअजितनाथ की स्तुति है।

विशुद्ध चन्द्र की कलाओं से भी ज्यादा शीतल, बादलों से नहीं घिरे हुए सूर्य की किरणों से भी विशेष तेज वाले, इन्द्रों से भी अधिक सुन्दरता वाले और सुमेरु से भी विशेष स्थिरता वाले तथा आत्मिक बल में, शारीरिक बल में और तपस्या तथा सयम में सदा अजेय, ऐसे श्रीअजितनाथ जिनेश्वर का मैं स्तवन करता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

* सत्त्वे च सदाऽजित, शरीरे च बलेऽजितम् ।
तप सयमे चाऽजितमेष स्तौमि जिनमजितम् ॥१६॥

* सोम-गुणेहिं पावइ न तं नव-सरय-ससी,
तेअ-गुणेहिं पावइ न तं नव-सरय-रवी ।
रूव-गुणेहिं पावइ न तं तिअस-गण-वई,
सार-गुणेहिं पावइ न तं धरणिधर-वई ॥१७॥
[खिज्जिअयं] ।

तित्थ-वर-पवत्तयं तम-रय-हरियं,
धीर-जण-थुअ-च्चिअं चुअ-कलि-कलुसं ।
संति-सुह-पवत्तयं ति-गरण-पयओ,
संतिमहं महामुणिं सरणमुवणमे ॥१८॥
[ललिअयं] ।

अन्वयार्थ—'नव' नवीन 'सरयससी' शरद् ऋतु का चन्द्र 'सोमगुणेहिं' शीतलता के गुणों में 'तं' उसको 'न पावइ' नहीं पाता है, 'नव' नवीन 'सरयरवी' शरत्काल का सूर्य 'तेअगुणेहिं' तेज के गुणों में 'तं' उसको 'न पावइ' नहीं पाता है, 'तिअसगणवई' देव-गणों का पति 'रूवगुणेहिं' रूप के गुणों में 'तं' उसको 'न पावइ' नहीं पाता है [और] 'धरणिधरवई' पर्वतराज 'सारगुणेहिं' दृढ़ता के गुणों में 'तं' उसको 'न पावइ' नहीं पाता है ॥

'तित्थवरपवत्तयं' श्रेष्ठ तीर्थ के प्रवर्तक, 'तमरयरहियं' अज्ञान-

* सौम्यगुणैः प्राप्नोति न तं नवशरच्छशी,
तेजोगुणैः प्राप्नोति न तं नवशरद्रविः ।
रूपगुणैः प्राप्नोति न तं त्रिदशगणपतिः,
सारगुणैः प्राप्नोति न तं धरणिधरपतिः ॥१७॥

तीर्थवरप्रवर्तकं तमोरजोरहितं, धीरजनस्तुतार्चितं च्युतकलिकालुष्यम् ।
शान्तिसुखप्रवर्तकं त्रिकरणप्रयतः, शान्तिमहं महामुनिं शरणमुपनमामि ॥१८॥

अन्धकार और कर्म-रज से रहित, 'धीरजण' पण्डित लोगों के द्वारा 'थुअच्चिअ' स्तवन और पूजन किये गये, 'चुअकलिकलुसं' कलह और कलुष भाव से मुक्त, 'संतिसुहपवत्तय' शान्ति और सुख के प्रवर्तक [और] 'महामुणि' महान् मुनि [ऐसे] 'संतिम्' श्रीशान्तिनाथ की 'सरणम्' शरण को 'तिगरणपयओ' त्रिकरण से सावधान हो कर 'अहं' मैं 'उवणमे' प्राप्त करता हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

भावार्थ—खिद्यतक और ललितक नामक इन दो छन्दों में श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

शीतलता के गुणों में शरत्काल का पूर्ण चन्द्र, तेज के गुणों में शरत्काल का प्रखर सूर्य, सौन्दर्य के गुणों में इन्द्र और दृढता के गुणों में सुमेरु श्रीशान्तिनाथ की बराबरी नहीं कर सकते। साराश, श्री शान्तिनाथ भगवान् उक्त गुणों में इन्द्रादि से बढ कर है। उत्तम धर्म-तीर्थ को चलाने वाले, अज्ञान और कर्म-मल से परे, विद्वज्जनों के द्वारा स्तवन और पूजन को प्राप्त, क्लेश और मलिनता से रहित, शान्ति व सुख के प्रचारक और महामुनि, ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान् की मैं मन, वचन, काया से शरण लेता हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

*विणओणय-सिर-रइअंजलि-रिसि-गण-संथुअं थिमिअं,
विवुहाहिव-धणवइ-नरवइ-थुअ-महिअच्चिअं बहुसो।
अइरुग्गय-सरय-दिवायर समहिअ-सप्पभं तवसा,
गयणंगण-वियरण-समुइअ-चारण-वंदिअं सिरसा।१९।
[किसलयमाला]।

* विनयावनतशिरोरचिताञ्जलिऋषिगणसंस्तुतं स्तिमितं,
विबुधाधिपधनपतिनरपतिस्तुतमहितार्चितं बहुशः।
अचिरोद्गतशरद्दिवाकरसमधिकसत्प्रभं तपसा,
गगनाङ्गणवियरणसमुदितचारणवन्दितं शिरसा ॥१९॥

*असुर-गरुल-परिवंदिअं, किन्नरोरग-नमंसिअं ।
देव-कोडि-सय-संथुअं, समण-संघ-परिवंदिअं ॥२०॥
(सुमुहं] ।

अभयं अणहं, अरयं अरुयं ।
अजिअं अजिअं, पयओ पणमे॥२१॥
(विज्जुविलसिअं) ।

अन्वयार्थ— विणओणय' विनय से नमे हुए 'सिर' मस्तक पर 'रइअंजलि' रची हुई अञ्जलि वाले 'रिसिगण' ऋषि-गण के द्वारा 'संथुअं' भले प्रकार स्तवन किये गये, 'थिमिअं' निश्चल 'वहुसो' अनेक वार 'विबुहाहिव' देवपति के द्वारा 'धणवइ' धनपति के द्वारा 'नरवइ' नरपति के द्वारा 'थुअ' स्तवन किये गये 'महिअ' नमस्कार किये गये और 'अच्चिअं' पूजन किये गये, 'तवसा' तप से 'अइरुग्गय' तत्काल उगे हुए 'सरयदिवायर' शरत्काल के सूर्य से 'समहिअ' अधिक 'सप्पभं' प्रभा वाले [और] 'सिरसा' मस्तक नमाकर 'गयणंगण' आकाश-मण्डल में 'वियरण' विचरण करके 'समुइअ' इकट्ठे हुए 'चारण' चारण मुनियों के द्वारा 'वंदिअं' वन्दन किये गये [ऐसे, तथा-]

'असुर' असुरकुमारों से और 'गरुल' सुपर्णकुमारों से 'परिवंदिअं' अच्छी तरह वन्दन किये गये 'किन्नर' किन्नरों से और 'उरग' नाग-कुमारों से 'नमंसिअं' नमस्कार किये गये 'कोडिसय' सैकड़ों करोड़ 'देव' देवों से 'संथुअं' स्तवन किये गये [और] 'समणसंघ' श्रमण-

* असुरगरुडपरिवन्दितं, किन्नरोरगनमस्यितम् ।
देवकोटीशतसंस्तुतं, श्रवणसंघपरिवन्दितम् ॥२०॥
अभयमनवमरतमरुजम् । अजितमजितं, प्रयतः प्रणमामि ॥२१॥

संघ के द्वारा 'परिवंदिअं' पूरे तौर से वन्दन किये गये [ऐसे, तथा—]

'अभयं' निर्भय, 'अणहं' निष्पाप, 'अरयं' अनासक्त, 'अरुयं' नीरोग [और] 'अजिअं' अजेय [ऐसे] 'अजिअं' श्रीअजितनाथ को 'पयओ' सावधान हो कर 'पणमे' [मैं] प्रणाम करता हूँ ॥ १६—२१ ॥

भावार्थ—किसलयमाला, सुमुख और विद्युद्विलसित नामक इन तीनों छन्दों में श्रीअजितनाथ की स्तुति की गई है।

ऋषियों ने विनय से सिर झुका कर और अञ्जलि बाँध कर जिसकी अच्छी तरह स्तुति की है जो निश्चल है, इन्द्र, कुबेर और चक्रवर्ती तक ने जिसकी बार बार स्तुति, वन्दना और पूजा की है, तपस्या के कारण जिसका तेज शरत्काल के प्रखर सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है और आकाश-मार्ग से घूमते घूमते इकट्ठे ऐसे जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि मुनियों ने सिर झुका कर जिसको वन्दन किया है, असुरकुमार, सुपर्णकुमार, किन्नर और नागकुमारों ने जिसको अच्छी तरह नमस्कार किया है, करोड़ों देवों ने जिसको स्तुति की है, साधु-गण ने जिसको विधि पूर्वक वन्दन किया है, जिसके न कोई भय है, न कोई दोष है, न किसी तरह का राग तथा रोग है और जो अजेय है, उस श्रीअजितनाथ को मैं आदर पूर्वक प्रणाम करता हूँ। ॥ १६—२१ ॥

***आगया वर-विमाण-दिव्व-कणग-रह-तुरय-पहकर-सएहि हुलिअं। ससंभमोअरण-खुभिय-लुलिय-चल-कुंडलंगय-तिरीड-सोहंत-मउलि-माला ॥२२॥**

(वेड्ढओ)।

* आगता वरविमानदिव्यकनकरथतुरगसघातशतैः शीघ्रम्।
ससंभ्रमावतरणक्षुभितलुलितचलकुण्डलाङ्गदकिरीटशोभमानमौलिमालाः॥२०॥

*जं सुर-संघा सासुर-संघा वेर-विउत्ता भत्ति-सुजुत्ता, आयर-भूसिअ-संभम-पिंडिअ-सुट्ठु-सुविम्हिय-सव्व-बलोघा। उत्तम-कंचण-रयण-परूविय-भासुर-भूसण-भासुरिअंगा, गाय-समोणय-भत्तिवसागय पंजलि-पेसिय-सीस-पणामा ॥ २३ ॥ [रयणमाला]।

† वंदिऊण थोऊण तो जिणं, तिगुणमेव य पुणो पयाहिणं। पणमिऊण य जिणं सुरासुरा, पमुइआ स-भवणाइँ तो गया ॥२५॥ (खित्तियं)।

तं महा-मुणिमहं पि पंजली,
राग-दोस-भय-मोह-वज्जियं।
देव-दाणव-नरिंद-वंदिअं,
संतिमुत्तम-महा-त नमे ॥२५॥
[खित्तियं]।

अन्वयार्थ—'वरविमाण' उत्तम विमान, 'दिव्वकणगरह-

---

* यं सुरसंघाः सासुरसंघाः वैरावियुक्ताः भक्तिसुयुक्ताः,
आदरभूषितसंभ्रमपिण्डितसुष्ठुसुविस्मितसर्वबलौघाः।
उत्तमकाञ्चनरत्नप्ररूपितभासुरभूषणभासुरिताङ्गाः,
गात्रसमवनताः भक्तिवशागताः प्राञ्जलिप्रेषितशीर्षप्रणामाः ॥२३॥

† वन्दित्वा स्तुत्वा ततो जिनं, त्रिगुणमेव च पुनः प्रदक्षिणम्।
प्रणम्य च जिनं सुरासुराः, प्रमुदिताः स्वभवनानि ततो गताः ॥२४॥
तं महामुनिमहमपि प्राञ्जलिः, रागद्वेषभयमोहवर्जितम्।
देवदानवनरेन्द्रवन्दितं, शान्तिमुत्तममहातपसं नमामि ॥२५॥

दिव्य सुवर्णमय रथ और 'तुरय' अश्वों के 'पहकरसएहिं' सैकड़ों समूहों से 'हुलिअ' शीघ्र 'आगया' आये हुए, 'ससंभमोअरण' जल्दी उतरने के कारण 'खुभिय' व्यग्र, 'लुलिय' हिलने वाले और 'चल' चञ्चल [ऐसे] 'कुण्डल' कुण्डलों, 'अंगय' बाजूबन्धों तथा 'तिरीड' मुकुटों से 'सोहंतमउलिमाला' शोभमान [ऐसी] मस्तक माला वाले, [ऐसे, तथा—]

'आयरभूसिअ' इच्छा पूर्वक भूषण पहिने हुए, 'संभमपिंडिअ' त्वरा से इकट्ठे हुए और 'सुट्ठुसुविम्हिय' अत्यन्त विस्मित [ऐसे] 'सव्वबलोघा' संपूर्ण परिवार-वर्ग को लिये हुए, 'उत्तमकंचणरयण' उत्तम सुवर्ण और रत्नों से 'परूविय' प्रकाशित तथा 'भासुरभूसण' देदीप्यमान भूषणों से 'भासुरिअंगा' शोभमान अङ्ग वाले, 'गायसमोणय' नमे हुए शरीर वाले, 'भत्तिवसागय' भक्ति-वश आये हुए, 'पंजलिपेसियसीसपणामा' अञ्जलि युक्त मस्तक से प्रणाम करने वाले, 'वेरविउत्ता' शत्रुता-रहित [और] 'भत्तिसुजुत्ता' भक्ति में तत्पर [ऐसे] 'सासुरसंघा' असुर-गण सहित 'सुरसंघा' सुर गण [अर्थात्] 'सुरासुरा' सुर और असुर 'जं' जिस—

'जिणं' जिनेश्वर को 'वंदिऊण' वन्दन करके 'थोऊण' स्तवन करके 'य' तथा 'तो' इसके बाद 'तिगुणमेव' तीन बार 'पयाहिणं' प्रदक्षिणा-पूर्वक 'पणमिऊण' प्रणाम करके 'तो' पीछे 'पमुइआ' प्रमुदित होकर 'सभवणाइं' अपने भवनों में 'गया' चले गये—

'तं' उस 'रागद्दोसभयमोहवज्जियं' राग, द्वेष, भय और मोह से वर्जित, 'देवदाणवनरिंदवंदियं' देवों, दानवों और नरेन्द्रों के द्वारा वंदित, 'उत्तममहातवं' उत्तम और महान् तप वाले [ऐसे] 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ 'महामुणिम्' महामुनि को 'अहं पि' मैं भी 'पंजली' अञ्जलि किये हुए 'नमे' नमन करता हूँ ॥ २२—२५ ॥

भावार्थ—इन चार छन्दों में से पहले का नाम वेड्ढ, दूसरे

का रत्नमाला और तीसरे और चौथे का क्षितक है। चारों में श्री-शान्तिनाथ की स्तुति है। इसमें कवि ने पहले यह दिखाया है कि जब भगवान् को वन्दन करने के लिये देव-दानव आते हैं, तब वे किस किस प्रकार के वाहन ले कर, कैसा वेश पहन कर, किस प्रकार के परिवार को ले कर और कैसे भाव वाले हो कर आते हैं। इसके बाद यह वर्णन किया हैं कि वे सभी देव-दानव वन्दन, स्तवन आदि करके बहुत प्रसन्न हो कर वापस जाते हैं और अन्त में कवि ने भगवान् को नमस्कार किया है।

जल्दी जल्दी आकाश से उतरने के कारण इधर उधर खिसके हुए हिलायमान और चञ्चल ऐसे कुण्डल, बाजूबन्ध तथा मुकुटों से जिनके मस्तक शोभमान हो रहे हैं, जिनका सारा परिवार खुशी से अलंकारों को पहन कर और अत्यन्त अचरज-सहित जल्दी एकत्र हो कर साथ आया है, जिनके शरीर उत्तम सुवर्ण तथा रत्नों से बने हुए प्रकाशमान आभरणों से सुशोभित हैं, जिन्होंने भक्ति-वश शरीर नमा कर और सिर पर अञ्जलि रख कर प्रणाम किया है, जिन्होंने शत्रुभाव छोड़ दिया है और जो भक्ति-परायण हैं, ऐसे देव तथा असुर के समूह अपने अपने प्रधान विमान, सुवर्ण के रथ और अश्वों के समूहों को ले कर जिस भगवान् को वन्दन करने के लिये शीघ्र आये और पीछे वन्दन, स्तवन तथा तीन वार प्रदक्षिणा-पूर्वक प्रणाम करके प्रसन्न हो अपने अपने स्थान को लौट गए; उस वीतराग और महान् तपस्वी श्रीशान्तिनाथ भगवान् को मैं भी हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ। ॥ २२—२५ ॥

❀ अंबरंतर-विआरिणिआहिं,
ललिअ-हंस-वहु-गामिणिआहिं।

❀ अम्बरान्तरविचारिणीभिः, ललितहंसवधूगामिनीभिः।
पीनश्रोणीस्तनशालिनीभिः, सकलकमलदललोचनिकाभिः ॥ २६ ॥

पीण-सोणि-थण-सालिणिआहिं,
सकल-कमल दल-लोअणिआहिं ॥२६॥
[दीवयं]।

†पीण-निरंतर-थण-भर-विणमिअ-गाय-लयाहिं,
मणि-कंचण-पसिढिल-मेहल-सोहिअ-सोणि-तडाहिं ।
वर-खिंखिणि-नेउर-सतिलय-वलय-विभूसणिआहिं,
रइकर-चउर-मणोहर-सुंदर-दंसणिआहिं ॥२७॥
(चित्तखरा) ।

देव-सुंदरीहिं पाय-वंदिआहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा, अप्पणो निडालएहिं मंडणोड्डण-प्पगारएहिं केहिं केहिं वि । अवंग-तिलय-पत्त-लेह-नामएहिं चिल्लएहिं संगयंगयाहिं, भत्ति-संनिविट्ठ-वंदणागयाहिं हुंति ते वंदिआ पुणो पुणो ॥२८॥
(नारायओ) ।

---

† पीननिरन्तरस्तनभरविनमितगात्रलताभिः,
मणिकाञ्चनप्रशिथिलमेखलाशोभितश्रोणितटाभिः ।
वरकिङ्किणीनूपुरसतिलकवलयविभूषणिकाभिः,
रतिकरचतुरमनोहरसुन्दरदर्शनिकाभिः ॥ २७ ॥
देवसुन्दरीभिः पादवन्दिकाभिर्वन्दितौ च यस्य तौ सुविक्रमौ क्रमौ,
आत्मनो ललाटकैर्मण्डनरचनाप्रकारकैः कैः कैरपि ।
अपाङ्गतिलकपत्रलेखानामकैर्दीप्यमानैः सङ्गताङ्गकाभिः,
भक्तिसंनिविष्टवन्दनागताभिर्भवतो वन्दितौ तौ पुनः पुनः ॥२८॥

* तमहं जिण-चंदं, अजिअं जिय-मोहं ।
धुय-सव्व-किलेसं, पयओ पणमामि ॥२६॥

(नंदिअयं) ।

अन्वयार्थ—'अंवरंतर' आकाश के बीच 'विआरिणिआहिं' विचरने वाली, 'ललिअ' ललित 'हंसवहु' हंसनी की तरह 'गामिणिआहिं' गमन करने वाली, 'पीण' पुष्ट ऐसे 'सोणि' नितम्ब तथा 'थण' स्तनों से 'सालिणिआहिं' शोभने वाली, 'सकल' अखण्डित 'कमलदल' कमल-पत्रों के समान 'लोअणिआहिं' लोचन वाली [ऐसी, तथा]

'पीण' पुष्ट और 'निरंतर' अन्तर-रहित [ऐसे] 'थण' स्तनों के 'भर' भार से 'विणमिअगायलआहिं' नमे हुए शरीर रूप लता वाली, 'मणिकंचण' रत्न और सुवर्ण की 'पसिढिल' शिथिल 'मेहल' करधनी से 'सोहिअसोणितडाहिं' सुशोभित कटी-तट वाली, 'वरखिंखिणिनेउर' उत्तम घुँघरू वाले झाँझर, 'सतिलय' सुन्दर तिलक और 'वलय' कंकणरूप 'विभूसणिआहिं' भूषणों को धारण करने वाली, 'रइकर' प्रीति-कारक और 'चउरमणोहर' चतुर मनुष्य के मन को हरने वाले [ऐसे] 'सुंदरदंसणिआहिं' सुन्दर रूप वाली [ऐसी, तथा—]

'पायवंदिआहिं' किरणों के समूह वाली, [तथा] 'चिल्लएहिं' देदीप्यमान [ऐसे] 'अवंग' नेत्र-प्रान्त अर्थात् उसमें लगा हुआ काजल, 'तिलय' तिलक तथा 'पत्तलेहनामएहिं' पत्रलेखा-नामक 'केहिं केहिं वि' किन्हीं किन्हीं 'मंडणोड्डणप्पगारएहिं' आभूषण-रचना के प्रकारों से 'संगयंगयाहिं' युक्त अङ्ग वाली, (और) 'भत्तिसंनिविट्ठ' भक्ति-युक्त होकर 'वंदणागयाहिं' वन्दन के लिये आई हुई [ऐसी] 'देवसुंदरीहिं' देवाङ्गनाओं के द्वारा 'अप्पणो' अपने 'निडालएहिं' ललाटों से 'जस्स' जिसके 'ते' प्रसिद्ध [और] 'सुविक्कमा'

---

* तमहं जिनचन्द्रमजितं जितमोहम् । धुतसर्वक्लेशं, प्रयतः प्रणमामि ॥२६॥

सुन्दर गति वाले 'कमा' चरण 'वंदिआ' वन्दन किये गये [और] 'पुणो पुणो' बार बार 'वंदिआ' वन्दन किये गये 'हुंति' हैं,—

'तम्' उस 'जिअमोहं' मोह को जीते हुए [और] 'धुअसव्वकिलेसं' सब क्लेशों को नष्ट किये हुए [ऐसे] 'अजिअं' अजितनाथ 'जिणचंदं' जिनेश्वर को 'अहं' मैं 'पयओ' सावधान हो कर 'पणमामि' प्रणाम करता हूँ ॥ २६-२९ ॥

भावार्थ—दीपक, चित्राक्षरा, नाराचक और नन्दितक-नामक इन चार छन्दों में श्रीअजितनाथ को स्तुति है। इसमें भगवान् को वन्दन करने के लिये आने वाली देवाङ्गनाओं का वर्णन है।

जो आकाश के बीच में विचरने वाली हैं, जिनकी चाल सुन्दर हंसनी की सी है, जो पुष्ट अङ्गों से शोभमान हैं, अखण्डित कमल-पत्र के समान जिनके नेत्र हैं, छाती के बोझ से जिनकी देह नमी हुई है, मणि और सुवर्ण की बनी हुई कुछ ढीली मेखला से जिनकी कमर सुशोभित है, जिन्होंने अच्छे अच्छे घुँघरू वाले झाँझर, सुन्दर तिलक और कंकण से सिंगार किया है, जिनका सुन्दर रूप प्रीति-कारक होनेसे चतुर लोगों के मनको खींचने वाला है, जिनके शरीर से तेज प्रकट होता है, जिन्होंने नेत्रों में काजल, ललाट में तिलक और गाल पर चित्रलेखा (कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की चित्र रचना) इत्यादि प्रकार के सुन्दर शृङ्गारों की विधि—रचना करके शरीर को अलङ्कृत किया है, ऐसी देवाङ्गनाओं ने भक्ति से सिर झुका कर जिस भगवान् के चरणों को सामान्य तथा विशेष रूप से बार बार वन्दन किया, उस मोह-विजयी और सब क्लेशों को दूर करने वाले अजितनाथ जिनेन्द्र को मैं बहुमान-पूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥ २६—२९ ॥

† थुअ-वंदिअस्सा रिसि गण-देव-गणेहिं,
तो देव-वहूहिं पयओ पणमिअस्सा ।

---

† स्तुतवन्दितस्य ऋषिगणदेवगणैः,
ततो देववधूभिः प्रयतं प्रणतस्य ।

† जस्स जगुत्तम-सासणअस्सा,
भत्ति-वसागय-पिंडिअयाहिं ।
देव-वरच्छरसा-बहुआहिं,
सुर-वर-रइ-गुण-पंडिअयाहिं ॥ ३० ॥
[भासुरयं]।

वंस-सद्द-तंति-ताल-मेलिए तिउक्खराभिराम-सद्द-मीसए कए अ, सुइ-समाणणे अ सुद्ध-सज्ज-गीय-पायजाल-घंटिआहिं । वलय-मेहला-कलाव-नेउराभिराम-सद्द-मीसए कए अ, देव-नट्टिआहिं हाव-भाव-विब्भम-प्पगारएहिं नच्चिऊण अंगहारएहिं । वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा तयं ति-लोय-सव्व-सत्त-संति-कारयं,पसंत-सव्व-पाव-दोसमेस हं नमामि संतिमुत्तमं जिणं ॥ ३१ ॥ (नारायओ)।

अन्वयार्थ—'भत्तिवसागय' भक्ति-वश आई हुई और पिंडि-

---

† यस्य जगदुत्तमशासनस्य भक्तिवशागतपिण्डितकाभिः,
देववराप्सरोबहुकाभिः सुरवररतिगुणपण्डितकाभिः ॥ ३० ॥
वंशशब्दतन्त्रीतालमिलिते त्रिपुष्कराभिरामशब्दमिश्रके कृते च,
श्रुतिसमानने च शुद्धषड्जगीतपादजालघण्टिकाभिः ।
वलयमेखलाकलापनूपुराभिरामशब्दमिश्रके कृते च,
देवनर्तकीभिः हावभावविभ्रमप्रकारकैः नर्तित्वाऽङ्गहारकैः ।
वन्दितौ च यस्य तौ सुविक्रमौ क्रमौ तकं त्रिलोकसर्वसत्त्वशान्तिकारकं,
प्रशान्तसर्वपापदोषमेष अहं नमामि शान्तिमुत्तमं जिनम् ॥ ३१ ॥

अयाहि' मिली हुई [तथा] 'सुर' देवों को 'वररइगुण' उच्च प्रकार का विनोद कराने में 'पडिअयाहि'' दक्ष [ऐसी] 'देव' देवों की 'वरच्छर-सारहुआहि' अनेक अनेक प्रधान अप्सराओं के द्वारा 'वससद' वसी के शब्द 'तंति' वीणा और 'ताल' तालों के 'मेलिए' मिलान वाला, [तथा] 'तिउक्खर' त्रिपुष्कर नामक वाद्य के 'अभिरामसद्द' मनोहर शब्दों से 'मीसए' मिश्रित 'कए' किया गया 'अ' तथा 'सुद्धसज्जगीय' शुद्ध षड्ज स्वर के गीत और 'पायजालघंटिआहि' पैर के आभूषणों के घुँघरुओं से 'सुइसमाणणे' कर्णको सुख देने वाला 'अ' और 'वलयमेहला-कलाव' कङ्कण तथा मेखला के समूह के और 'नेउर' झाँझर के 'अभि-रामसद्द' मनोहर शब्दों से 'मीसए कए' मिश्रित किया गया [ऐसा संगीत प्रवृत्त किये जाने पर] 'रिसिगण' ऋषि गण और 'देवगणेहि' देव-गणों से 'थुअवंदिअस्सा' स्तवन किये गये तथा वन्दन किये गये, 'तो' इस के बाद 'देववहूहिं' देवाङ्गनाओं से 'पयओ' आदर पूर्वक 'पण-मिअस्सा' प्रणाम किये गये [और] 'जस्स' मोक्ष के योग्य तथा 'ज-गुत्तमसासणअस्सा' लोक में उत्तम ऐसे शासन वाले 'जस्स' जिस भगवान् के 'सुविक्कमा' सुन्दर गति वाले 'ते' प्रसिद्ध 'कमा' चरणों को 'देवनट्टिआहिं' देव नर्तकिओं ने 'हावभावविब्भमप्पगारएहिं' हाव, भाव और विभ्रम के प्रकार वाले 'अगहारएहिं' अङ्ग विक्षेपों से 'नच्चि ऊण' नाच करके 'वंदिआ' वन्दन किया 'तयं' उस 'तिलोयसव्वसत्त-संतिकारयं' तीन लोक के सब प्राणियों को शान्ति पहुँचाने वाले [और] 'पसंतसव्वपावदोसमु' सब पाप-दोषों को शान्त किये हुए [ऐसे] 'उत्तम' श्रेष्ठ 'संति जिणं' शान्तिनाथ जिनवर को 'एसहं' यह मैं 'नमामि' नमन करता हूँ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

भावार्थ—इन भासुरक और नाराचक नामक छन्दों में श्री-शान्तिनाथ की स्तुति है। इसमें देवाङ्गनाएँ संगीत तथा नाच पूर्वक भगवान् का वन्दन करती हैं, इस बात का वर्णन है।

देवों को विनोद कराने में दक्ष ऐसी अनेक प्रधान अप्सराएँ भक्ति-वश आ कर आपस में मिलीं। मिल कर उन्हों ने शुद्ध षड्ज स्वर का गीत गाना शुरू किया, जो वंसी तथा वीना के स्वर और ताल के मिलाने वाला त्रिपुष्कर नामक वाद्य के मनोहर शब्दों से युक्त, कङ्कणों, मेखलाओं और झाँझरों के अभिराम शब्दों से मिश्रित तथा पैर के जालीवन्ध घुँघरुओं से कर्ण-प्रिय था। इस प्रकार का संगीत चल ही रहा था कि नाच करने वाली देवाङ्गनाओं ने अनेक प्रकार के हाव, भाव और विभ्रम वाले अभिनय से नाचना आरम्भ किया और नाच कर उन्होंने ऋषियों, देवों और देवाङ्गनाओं के द्वारा सादर स्तुत, वन्दित तथा प्रणत और सर्वोत्तम शासन के प्रवर्तक, ऐसे जिस भगवान् के चरणों को वन्दन किया, उस तीन लोक के शान्तिकारक तथा सकल पाप-दोष-रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर को मैं नमन करता हूँ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

† छत्त-चामर-पडाग-जूअ-जव-मंडिआ,
झय-वर-मगर-तुरय-सिरिवच्छ-सुलंछणा।
दीव-समुद्द-मंदर-दिसागय-सोहिआ,
सत्थिअ-वसह-सीह-रह-चक्क-वरंकिया ॥३२॥
(ललिअयं)।

सहाव-लट्ठा सम-प्पइट्ठा,
अदोस-दुट्ठा गुणेहिं जिट्ठा।

† छत्रचामरपताकायूपयवमण्डिताः,
ध्वजवरमकरतुरगश्रीवत्ससुलाञ्छनाः।
द्वीपसमुद्रमन्दरदिग्गजशोभिताः,
स्वस्तिकवृषभसिंहरथचक्रवराङ्किताः ॥३२॥
स्वभावरम्याः समप्रतिष्ठाः, अदोषदुष्टा गुणैर्ज्येष्ठाः।
प्रसादश्रेष्ठास्तपसा पुष्टाः, श्रीभिरिष्टा ऋषिभिर्जुष्टाः ॥ ३३ ॥

पसाय-सिट्ठा तवेण पुट्ठा,
सिरीहिं इट्ठा रिसीहिं जुट्ठा ॥ ३३ ॥
(वाणवासिआ) ।

* ते तवेण धूअ-सव्व-पावया,
सव्व-लोअ-हिअ-मूल पावया ।
संथुआ अजिअ-संति-पायया,
हुंतु मे सिव-सुहाण दायया ॥३४॥
(अपरतिका) ।

अन्वयार्थ—'छत्त' छत्र, 'चामर' चामर' 'पडाग' पताका, 'जूअ' यज्ञ-स्तम्भ और 'जव' यव से 'मंडिआ' अलंकृत, 'झयवर' श्रेष्ठ ध्वज-दण्ड, 'मगर' मगर, 'तुरय' अश्व और 'सिरिवच्छ' श्रीवत्सरूप 'सुलछणा' श्रेष्ठ लाञ्छन वाले, 'दीव' द्वीप, 'समुद्द' समुद्र, 'मंदर' मेरु पर्वत और 'दिसागय' दिग्गजों से 'सोहिआ' शोभमान, 'सत्थिअ' स्वस्तिक, 'वसह' वृषभ, 'सीह' सिंह, 'रह' रथ और 'चक्कवर' प्रधान चक्र से 'अंकिया' अङ्कित [ऐसे, तथा—]

'सहावलट्ठा' स्वभाव से सुन्दर, 'समप्पइट्ठा' समभाव में स्थिर, 'अदोसदुट्ठा' दोष रहित, 'गुणेहिं जिट्ठा' गुणों से बड़े, 'पसायसिट्ठा' प्रसाद-गुण से श्रेष्ठ, 'तवेण पुट्ठा' तप से पुष्ट, 'सिरीहिं इट्ठा' लक्ष्मी से पूजित, 'रिसीहिं जुट्ठा' ऋषियों से सेवित [ऐसे, तथा—]

'तवेण' तप से 'धूअसव्वपावया' सब पापों को धोये हुए, 'सव्व-लोअ' सब लोगों को 'हियमूलपावया' हित का असली रास्ता दिखाने वाले, [और] संथुआ' अच्छी तरह स्तुति किये गये [ऐसे] 'ते' वे 'अ-

* ते तपसा धूतसर्वपापकाः, सर्वलोकहितमूलप्रापकाः ।
संस्तुता अजितशान्तिपादाः, भवन्तु मे शिवसुखानां दायकाः ॥३४॥

जिअसंतिपायया' पूज्य अजितनाथ तथा शान्तिनाथ 'मे' मुझको 'सिव-सुहाण' मोक्ष-सुख के 'दायया' देने वाले 'हुंतु' हों ॥ ३२—३४ ॥

भावार्थ—इन ललितक, वानवासिका तथा अपरान्तिका नामक तीन छन्दों में श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों की स्तुति है। पहले छन्द में उनके छत्र, चामर आदि शारीरिक लक्षणों का वर्णन है, दूसरे में स्वभाव-सौन्दर्य आदि आन्तरिक गुणों का व विभूतियों का वर्णन है और तीसरे में उनके निर्दोषत्व गुण की तथा हित-मार्ग दरसाने के गुण की प्रशंसा करके कवि ने उनसे सुख के लिये प्रार्थना की है।

जिनके अङ्गों में छत्र, चामर, ध्वजा, यज्ञस्तम्भ, जौ, ध्वजदण्ड, मकर, अश्व, श्रीवत्स, द्वीप, समुद्र, सुमेरु पर्वत, दिग्गज, स्वस्तिक, बैल, सिंह, रथ और चक्र के उत्तम चिह्न व लक्षण हैं, स्वभाव जिनका उत्तम है, समभाव में जिनकी स्थिरता है, दोष जिनसे दूर हो गये हैं, गुणों से जिन्हों ने महत्ता प्राप्त की है, जिनकी प्रसन्नता सर्वोत्तम है, जिनको तपस्या में ही सन्तोष है, लक्ष्मी ने जिनका आदर किया है, मुनियों ने जिनकी सेवा की है, जिन्होंने तप के बल से सब पाप-मल को धो डाला है, जिन्हों ने सब भव्य लोगों को हित का रास्ता दिखाया है और जिनको सब लोगों ने अच्छी तरह स्तुति की है, वे पूज्य अजितनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभु मुझको मोक्ष सुख देवें ॥ ३२—३४ ॥

* एवं तव-बल-विउलं,
थुअं मए अजिअ-संति-जिण-जुअलं।

---

* एवं तपोबलविपुलं, स्तुतं मयाऽजितशान्तिजिनयुगलम्।
व्यपगतकर्मरजोमलं, गतिं गतं शाश्वतीं विपुलाम् ॥ ३५ ॥

ववगय-कम्म-रय-मलं,
गइं गयं सासयं विउलं ॥३५॥
[गाहा] ।

अन्वयार्थ—'तववलविउल' तप के बल से महान 'ववगय-कम्मरयमल' कर्म-रज के मल से रहित, [और] 'सासय' शाश्वती (तथा) 'विउल' विशाल (ऐसी) 'गइ' गति को 'गय' प्राप्त (ऐसे) 'अजिअसंतिजिणजुअलं' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ जिन-युगल का 'मए' मैंने 'एव' इस प्रकार 'थुअ' स्तवन किया ॥ ३५ ॥

भावार्थ—इस गाथा-नामक छन्द में स्तवन का उपसंहार है। जिनका तपोबल अपरिमित है, जिनके सब कर्म नष्ट हुए हैं और जो शाश्वती तथा विशाल मोक्ष-गति को पाये हुए हैं, ऐसे श्रीअजित-नाथ तथा शान्तिनाथ जिनेश्वर का मैंने इस प्रकार स्तवन किया ॥ ३५ ॥

† तं बहु-गुण-प्पसायं,
मुक्ख-सुहेण परमेण अ विसायं।
नासेउ मे विसायं,
कुणउ अ परिसा वि अ पसायं ॥३६॥
[गाहा] ।

अन्वयार्थ—'बहुगुणप्पसाय' बहुत गुणों के प्रसाद से युक्त, 'परमेण' उत्कृष्ट 'मुक्खसुहेण' मोक्ष सुख के निमित्त से 'अविसाय' खेद-रहित [ऐसा] 'तं' वह अर्थात् श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथ का युगल 'मे' मेरे 'विसाय' खेद को 'नासेउ' नष्ट करे, 'अ' तथा 'परिसा

† तद् बहुगुणप्रसादं, मोक्षसुखेन परमेणाऽविषादम् ।
नाशयतु मे विषादं, करोतु च परिषदपि च प्रसादम् ॥ ३६ ॥

वि' सभा के ऊपर भी 'पसायं' प्रसाद 'कुणउ' करे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—इस छन्द का और आगे के छन्दों का नाम गाथा है, दोनों छन्दों में प्रार्थना है ।

जिनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनेक गुण परिपूर्ण विकसित हैं, जिन्हें सर्वोत्तम मोक्ष-सुख प्राप्त होने के कारण शोक नहीं है, वे श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों मेरे विषाद को हरें और सभा के ऊपर भी अनुग्रह करें ॥ ३६ ॥

* तं मोएउ अ नंदिं, पावेउ अ नंदिसेणमभिनंदिं ।
परिसा वि अ सुह-नंदिं, मम य दिसउ संजमे नंदिं ३७
(गाहा) ।

अन्वयार्थ—'तं' वह युगल 'मोएउ' हर्ष उत्पन्न करे, 'नंदिं' समृद्धि 'पावेउ' प्राप्त करावे, 'नंदिसेणं' नन्दिषेण को 'अभिनंदिं' विशेष समृद्धि, 'परिसा वि' परिषद् को भी 'सुहनंदिं' सुख-समृद्धि 'अ' तथा 'मम' मुझको 'संजमे नंदिं' संयम की वृद्धि 'दिसउ' देवे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों भगवान् प्रमोद बढ़ावें, समृद्धि प्राप्त करावें और नन्दिषेण को विशेष समृद्धि, सभा को सुख-संपत्ति तथा मुझको संयम में पुष्टि देवें ॥ ३७ ॥

† पक्खिअ चाउम्मासिअ.
संवच्छरिए अवस्स-भणिअव्वो ।
सोअव्वो सव्वेहिं,
उवसग्ग-निवारणो एसो ॥३८॥

---

* तद् मोदयतु च नन्दिं प्रापयतु नन्दिषेणमभिनन्दिम् ।
पर्षदोऽपि च सुखनन्दिं, मम च दिशतु संयमे नन्दिम् ॥ ३७ ॥

† पाक्षिके चातुर्मासिके, सांवत्सरिकेऽवश्यभणितव्यः ।
श्रोतव्यः सर्वैः, उपसर्गनिवारण एषः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—'उवसग्गनिवारणो' उपसर्ग निवारण करने वाला 'एसो' यह [स्तवन] 'पक्खिय' पाक्षिक, 'चाउम्मासिअ' चातुर्मासिक [और] 'संवच्छरिए' सांवत्सरिक [प्रतिक्रमण में] 'सव्वेहिं' सब को 'अवस्स' अवश्य 'भणिअव्वो' पढने योग्य [तथा] 'सोअव्वो' सुनने योग्य है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—इसमें तथा आगे की दोनों गाथाओं में स्तवन की महिमा है।

यह स्तवन उपसर्गों को हरण करने वाला है, इस लिये इसे पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अवश्य पढना चाहिये और सुनना चाहिये ॥ ३८ ॥

† जो पढइ जो अ निसुणइ,
उभओकालं पि अजिअ-संति-थयं ।
न हु हुंति तस्स रोगा,
पुव्वुप्पन्ना वि नासंति ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—'अजिअसंतिथयं' इस अजित-शान्ति-स्तवन को 'उभओकालं पि' दोनों वक्त 'जो पढइ' जो पढता है 'अ' और 'जो निसुणइ' जो सुनता है, 'तस्स' उसको 'रोगा' रोग 'हु' कभी 'न हुंति' नहीं होते, [और] 'पुव्वुप्पन्ना' पहले के उत्पन्न हुए 'वि' भी 'नासंति' नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस अजित शान्ति स्तवन को सुबह शाम दोनों वक्त पढता या सुनता है, उसको नये रोग नहीं होते हैं और पहले के भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

† यः पठति यश्च शृणोति, उभयकालमप्यजितशान्तिस्तवम् ।
नैव भवन्ति तस्य रोगाः, पूर्वोत्पन्ना अपि नश्यन्ति ॥ ३९ ॥

† चरम-जलहि-नीरं जो मिणिज्जंजलीहिं,
खय-समय-समीरं जो जिणिज्जा गईए।
सयल-नह-यलं वा लंघए जो पएहिं,
अजियमहव संतिं सो समत्थो थुणेउं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'अंजलीहिं' हाथ के संपुटों से 'चरम-जलहिं' अन्तिम समुद्र के 'नीरं' पानी को 'मिणिज्ज' माप सके, 'जो' जो 'गईए' गति से 'खयसमय' प्रलय-काल के 'समीरं' वायु को 'जिणिज्ज' जीत सके, 'वा' अथवा 'जो' जो 'पएहिं' पैरों से 'सयल' संपूर्ण 'नहयलं' आकाश का 'लंघए' उल्लंघन कर सके 'सो' वही 'अजियं' श्री अजितनाथजी को 'अहव' या 'संतिं' श्रीशान्तिनाथजी की 'थुणेउं' स्तुति करने में 'समत्थो' समर्थ हो सकता है ॥२॥

भावार्थ— भगवान् श्रीअजितनाथजी तथा शान्तिनाथजी की स्तुति करना उतना ही मुशकिल है जितना स्वयंभूरमण समुद्र को अंजलियों से नापना, गति से प्रलयकाल के पवन को मात करना या पैरों से संपूर्ण आकाश का उल्लंघन करना। ये तीनों कार्य जैसे असंभव हैं वैसे ही उक्त दोनों भगवान भी अनन्तगुनी होनेसे उनकी यथार्थ रूप से स्तुति करना भी अशक्य ही है ॥२॥

* तहवि हु बहु-माणुल्लासि-भत्ति-ब्भरेण,
गुण-कणमवि कित्तेहामि चिंतामणिव्व।

---

† चरमजलधिनीरं यो मिमीताञ्जलिभिः
क्षयसमयसमीरं यो जयेद् गत्या।
सकलनभस्तलं वा लंघयेद् यः पद्भ्या-
मजितमथवा शान्तिं स समर्थः स्तोतुम् ॥ २ ॥

* तथापि खलु बहुमानोल्लासिभक्तिभरेण,
गुणकणमपि कीर्तयिष्यामि चिन्तामणिमिव।

* अलमहव, अचिंताणंत-सामत्थओ सि,
फलिहिइ लहु सव्वं वंछिअं णिच्छिअं मे॥३॥

अन्वयार्थ—'तहवि हु' तो भी 'चिंतामणिअ' चिंतामणि-तुल्य उनके 'गुणकणमवि' गुण लेश का भी 'बहुमाणुल्लासभत्ति-भरेण' बहुमान से बढ़ी हुई भक्ति के अतिशय से 'कित्तेहामि' मैं कीर्तन करूँगा । 'अहव' अथवा 'अल' (इस विचार की कोई) जरूरत नहीं है, (क्योंकि) 'सिं' इन भगवानों की 'अचिंत' अचिन्तनीय 'अणत' अनन्त 'सामत्थओ' सामर्थ्य से 'मे' मेरा 'सव्व' सब 'वंछिअ' वाञ्छित 'लहु' शीघ्र 'णिच्छिय' जरूर 'फलिहिइ' फलेगा ॥ ३ ॥

भावार्थ—इन भगवानों के वास्तविक एक गुण की भी स्तुति करने में मैं असमर्थ होता हुआ भी उनके चिन्तामणि-सदृश वाञ्छित फल को देने वाले गुणलेश—गुण के अंश—की ही बहुमान और भक्ति पूर्वक स्तुति करूँगा । अथवा स्तुति करने में सामर्थ्य-विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि इन भगवानों के अचिन्त्य अनन्त सामर्थ्य से मेरी अभिलाषा अवश्य ही फलीभूत होगी ॥ ३ ॥

† सयल-जय-हिआण नाम-मित्तेण जाणं,
विहडइ लहु दुट्ठानिट्ठ दोघट्ट-घट्ट ।
नमिर-सुर-किरीडुग्घिट्ठ-पायारविंदे,
सययमजिअ-संती ते जिणंदेऽभिवंदे ॥ ४ ॥

* अलमथवाऽचिन्त्यानन्तसामर्थ्यतोऽनयो
फलिष्यति लघु मम वाञ्छितं निश्चितं मे ॥ ३ ॥

† सकलजगद्धितानांनाममात्रेण ययो–
विघटते लघु दुष्टानिष्टदोषघट्टः ।
नम्रसुरकिरीटोद्घृष्टपादारविन्दौ
सततमजितशान्ती तौ जिनावभिवन्दे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'जाणं' जिन 'सयल' सकल 'जए' जगत् के 'हिआणं' हित-कारकों के 'नाममित्तेण' नाम-मात्र से 'दुट्ठानिट्ठ' दुष्ट अनिष्टरूप 'दोघट्ट' हाथियों के 'थट्ट' समूह 'लहु' शीघ्र 'विहडइ' दूर होता है, 'ते' उन 'नमिर' नम्र 'सुर' देवताओं के 'किरीडुग्घिट्ठपायारविंदे' मुकुटों से उत्तेजित किये गए चरण-कमल वाले 'अजियसंती' श्रीअजितनाथ जी तथा श्रीशान्तिनाथजी 'जिणिन्दे' जिन-भगवानों को 'सययं' निरंतर 'अभिवंदे' मैं वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन हित-कारक भगवानों के नाम-मन्त्र लेने से ही दुष्ट अनिष्ट रूप हस्ति-यूथ का शीघ्र नाश होता है उन नम्र देवों के मुकुटों से उद्घृष्ट चरण कमल वाले जिनेन्द्र श्रीअजितनाथजी और श्रीशान्तिनाथजी को मैं निरंतर वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

* पसरइ वर-कित्ती वड्ढए देह-दित्ती,
विलसइ भुवि मित्ती जायए सु-प्पवित्ती ।
फुरइ परम-तित्ती होइ संसार-छित्ती,
जिण-जुअ-पय-भत्ती ही अचिंतोरु-सत्ती ॥५॥

अन्वयार्थ—'जिणजुअ' जिन-युगल के 'पय' चरणों की 'भत्ती' सेवा 'ही' आश्चर्य-कारक 'अचिंतोरुसत्ती' अचिन्त्य और भारी शक्ति वाली है (जिसके प्रभाव से) 'वरकित्ती' श्रेष्ठ कीर्त्ति 'पसरइ' फैलती है, 'देहदित्ती' शरीर की कान्ति 'वड्ढए' बढ़ती है, 'भुवि' जगत् में 'मित्ती' मित्रता 'विलसइ' होती है, 'सुप्पवित्ती' शुभ प्रवृत्ति 'जायए' होती है, 'परमतित्ती' उत्कृष्ट तृप्ति 'फुरइ' होती है (और) 'संसार' संसार का 'छित्ती' नाश होता है ॥ ५ ॥

* प्रसरति वरकीर्त्तिर्वर्धते देहदीप्ति-
विलसति भुवि मैत्री जायते सुप्रवृत्तिः ।
स्फुरति परमतृप्तिर्भवति संसारच्छित्ति-
जिनयुगपदभक्तिर्ही अचिन्त्योरुशक्तिः ॥ ५ ॥

भावार्थ—श्रीअजितनाथजी और श्रीशान्तिनाथजी इन दो जिन भगवानों के चरणों की सेवा अचिन्त्य और महान् शक्ति वाली है, जिसके प्रभाव से सेवा करने वाले का श्रेष्ठ यश फैलता है, शरीर-तेज बढ़ता है, जगत् में मैत्री, शुभ प्रवृत्ति, परम संतोष और अन्त में संसार-क्षय—मोक्ष होता है ॥ ५ ॥

† ललिअ-पय-पयारं भूरि-दिव्वंग-हारं,
फुड-घण-रस-भावोदार-सिंगार-सारं।
अणिमिस-रमणी जइंसण-च्छेअ-भीआ,
इव पणमण-मंदा कासि नट्टोवयारं ॥६॥

अन्वयार्थ—'जइंसण' जिनके दर्शनों के 'च्छेअ' अन्तराय से 'भीआ इव' भीत सी (और) 'पणमणमंदा' शिर नवाँने में मन्द [ऐसी] 'अणिमिसरमणी' देवाङ्गनाएँ 'ललिअपयपयारं' ललित पद-विन्यास वाली, 'भूरिदिव्वंगहारं' प्रभूत दिव्य अंग-विक्षेप वाली, 'फुडघणरसभावोदारसिंगारसारं' - स्पष्ट और निरन्तर रस-भाव से उदार शृङ्गार प्रधान 'नट्टोवयारं' नाट्य पूजा 'कासि' करती थीं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन दोनों जिनेन्द्र के दर्शन में अन्तराय से भीत सी और सिर झुकाने में अलस देवांगनाएँ, उक्त जिन-देवों की ललित पद-विन्यास वाली, प्रभूत दिव्य अंग-विक्षेप वाली और स्पष्ट तथा निरन्तर रस भाव से पूर्ण शृङ्गार-प्रधान नाट्य पूजा करती थीं ॥ ६ ॥

---

† ललितपदप्रचारं भूरिदिव्याङ्गहारं,
स्फुटघनरसभावोदारशृङ्गारसारम्।
अनिमिषरमण्यो यद्दर्शनच्छेदभीता
इव प्रणमनमन्दा अकार्षुर्नाट्योपचारम् ॥ ६ ॥

* थुणह अजिअ-संती ते कयासेस-संती,
कणय-रय-पिसंगा छज्जए जाण मुत्ती।
सरभस-परिरंभारंभि-निव्वाण-लच्छी-
घण-थण-घुसिणंक-प्पंक-पिंगीकयव्व ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[हे भव्यो ! तुम) 'कयासेससंती' जिन्होंने सर्व प्रकारकी शान्ति की है ऐसे 'ते' उन 'अजिअसंती' श्रीअजितनाथ जी और श्रीशान्तिनाथ जी की स्तुति करो, 'जाण' जिनकी 'मुत्ती' मूर्ति, 'व्व' मानो 'सरभस' वेग-युक्त 'परिरंभारंभि' आलिङ्गन का आरम्भ करने वाली 'निव्वा- णलच्छी' मुक्ति-लक्ष्मी के 'घण' निविड 'थण' स्तनों के 'घुसिणंक' कुङ्कुम के 'प्पंक' पङ्क से 'पिंगीकय' पीली की हुई हो ऐसी 'कणय' सोने के 'रय' रज के समान 'पिसंग' पीत वर्ण वाली 'छज्जए' शोभती है ॥७॥

भावार्थ—हे भव्यो ! जिनकी मूर्त्ति वेग से आलिङ्गन करने वाली मुक्ति-लक्ष्मी के निबिड स्तनों पर लगे हुए कुङ्कुम-पङ्क से जाने पीले न की हो ऐसी, सुवर्ण-रज के तुल्य पीत वर्ण वाली शोभती है और जिन्होंने जगत् में संपूर्ण शान्ति स्थापित की है ऐसे उन अजित-नाथजी और शान्तिनाथजी की तुम स्तुति करो ॥ ७॥

† बहुविह-णय-भंगं वत्थु णिच्चं अणिच्चं,
सदसदणभिलप्पालप्पमेगं अणेगं ।

---

* स्तुत अजितशान्ती तौ कृताशेषशान्ती
कनकरजःपिशङ्गा राजते ययोर्मूर्त्तिः ।
सरभसपरिरम्भारम्भिनिर्वाणलक्ष्मी-
घनस्तनघुसृणाङ्कपङ्कपिङ्गीकृतेव ॥ ७ ॥

† बहुविधनयभङ्गं वस्तु नित्यमनित्यं
सदसदनभिलाप्यालप्यमेकमनेकम् ।

† इय कुनय-विरुद्धं सुप्पसिद्धं च जेसिं,
वयणमवयणिज्जं ते जिणे संभरामि ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—'ते जिणे' उन दो जिनेन्द्रों का 'संभरामि' मैं स्मरण करता हूँ, 'जेसिं' जिनका 'वयण' वचन 'इय' इस प्रकार 'बहु-विहनयभंग' अनेक प्रकार के नयों के भेद वाला, 'कुनयविरुद्ध' दुर्नयों से विरुद्ध, 'सुप्पसिद्धं' सुप्रसिद्ध 'च' और 'अवयणिज्जं' अवचनीय है जैसे कि 'वत्थु' वस्तु 'णिच्च' नित्य [और] 'अणिच्च' अनित्य है, 'सदस-दणभिलप्पाभिलप्प' सत् और असत् हैं, वाच्य और अवाच्य है, 'एग' एक [और] 'अणेग' अनेक है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मैं उन दोनों जिन भगवानों का स्मरण करता हूँ जिनका वचन अनेक नयों की रचना वाला, दुर्नयों से विरुद्ध, सुप्रसिद्ध और अवचनीय है, जैसे कि वस्तुमात्र द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से नित्य और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य है, स्वद्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा से विद्यमान और परकीय द्रव्यादि की अपेक्षा से असत् है क्रम से बोलने योग्य और युगपत् अवाच्य है तथा सदृश और विलक्षण है ॥ ८ ॥

९ पसरइ तिअ-लोए ताव मोहंधयारं,
भमइ जयमसण्णं ताव मिच्छत्त-छण्णं।
फुरइ फुड-फलताणंत-णाणंसु-पूरो,
पयडमजिअ-संती-झाण-सूरो न जाव ॥ ९ ॥

---

† इति कुनयविरुद्धं सुप्रसिद्धं च ययो-
वचनमवचनीयं तौ जिनौ संस्मरामि ॥ ८ ॥

९ प्रसरति त्रिलोक्यां तावन् मोहान्धकारं
भ्रमति जगदसंज्ञं तावद् मिथ्यात्वच्छन्नम्।
स्फुरति स्फुटफलदानन्तज्ञानांशुपूरः
प्रकटमजितशान्तिध्यानसूर्यो न यावत् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—'तिअलोए' तीनों जगत् में 'मोहंधयारं' मोह-रूप अन्धकार 'तांव' तबतक ही 'पसरइ' फैलता है (और) 'तांव' तब तक ही 'मिच्छत्तछण्णं' मिथ्यात्व से आच्छादित (इसीसे) 'असण्णं' संज्ञा-रहित 'जयं' जगत् 'भमइ' विपरीत प्रवृत्ति करता है 'जाव' जब तक 'फुडफलंत' स्पष्ट उल्लास को प्राप्त 'अणंतणाणंसुपूरो' अनन्त-ज्ञान-रूप किरण-समूह वाला 'अजिअसंती' श्रीअजितनाथजी और श्री-शान्तिनाथजी का 'झाणसूरो' ध्यान-रूप सूर्य 'पयडं' प्रकट रूप से 'न फुरइ' उदित नहीं होता ॥ ९ ॥

भावार्थ—तबतक ही तीन-लोक में मोह-रूप अन्धकार की प्रबलता रहती है और तबतक ही मिथ्यात्व से व्याप्त असंज्ञ जगत् विपरीत प्रवृत्ति वाला रहता है जब-तक इन दो भगवानों का स्पष्ट और उल्लास-प्राप्त अनन्त ध्यान-रूप किरण-समूह वाला ध्यान-रूप सूर्य उदय को प्राप्त नहीं करता। अर्थात् सूर्य के उदय से जैसे अंधकार और निद्रा नष्ट हो जाती हैं ऐसे ही इन भगवानों के ध्यान से मोह और मिथ्यात्व का नाश हो जाता है ॥ ९ ॥

* अरि-करि-हरि-तिराहुराहंबु-चोराहि-वाही-
समर-डमर-मारी-रुद्द-खुद्दोवसग्गा।
पलयमजिअ-संती-कित्तणे झत्ति जंती,
निबिडतर-तमोहा भक्खरालुंखियव्व ॥ १० ॥

अन्वयार्थ— 'अजिअसंतीकित्तणे' श्रीअजितनाथजी तथा शान्तिनाथजी के गुण-कीर्तन से 'अरि' शत्रु, 'करि' हाथी, 'हरि' सिंह 'तिण्हुण्हंबु' तृष्णा, आतप, पानी, 'चोराहिवाही' चोर, मनोव्यथा,

---

* अरिकरिहरितृष्णोष्णाम्बुचौराधिव्याधि-
समरडमरमारीरौद्रक्षुद्रोपसर्गाः।
प्रलयमजितशान्तिकीर्तने झटिति यान्ति,
निबिडतरतमओघा भास्करस्पृष्टा इव ॥ १० ॥

रोग, 'समर' युद्ध, 'डमर' राजकीय उपद्रव,-'मारी' महामारी, तथा 'रुद्दुट्ठोवसग्गा' भयकर व्यन्तरादि के उपसर्ग—,उपद्रव, 'सूरकराउंखिय' सूर्य से स्पृष्ट 'निविडतमसमोहा' अति निविड, अन्धकार समूह की 'व्व' तरह, 'खत्ति' शीघ्र 'पलय' नाश को 'जती' प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के स्पर्श-मात्र से अति निविड अन्धकार-समूह शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे श्रीअजितनाथजी तथा शान्तिनाथजी के गुण कीर्तन—स्तुति—से दुश्मन, हाथी सिंह, प्यास, गरमी, पानी, चोर, आधि, व्याधि संग्राम, डमर, मारी और व्यन्तरादि के भयकर उपद्रवों का ध्वंस होता है ॥ १० ॥

† निचिअ-दुरिअ-दारुद्दित्त-झाणग्गि-जाला-
परिगयमिव गोरं चिंतिअं जाण रूवं ।
कणय-निहस-रेहा-कंति-चोरं करिज्जा,
चिर-थिरमिह लच्छिं गाढ-संथंभिअव्व ॥११॥

अन्वयार्थ— 'जाण' जिन भगवानों का 'चिंतिअ' चिन्तन किया गया 'निचिअ' निबिड 'दुरिअदारु' पाप काष्ठों से 'उद्दित्त' उत्तेजित 'झाणग्गिजालापरिगयमिव' ध्यानाग्नि की ज्वालाओं से मानो व्याप्त हो ऐसा 'गोरं' उज्ज्वल [तथा] 'कणयनिहस' कसौटी की 'रेहा' रेखा की 'कंतिचोरं' कान्ति को चुराने वाला 'रूव' रूप, 'लच्छि' लक्ष्मी को 'इह' इस जगत् में 'गाढसंथंभिअव्व' अत्यन्त नियन्त्रितसी 'चिर-थिरं' निश्चल 'करिज्जा' करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— निबिड पाप-रूप काष्ठों से उद्दीप्त ध्यानाग्नि की

---

† निचितदुरितदारुदीप्तध्यानाग्निज्वाला-
परिगतमिव गौरं चिन्तितं ययो रूपम् ।
कनकनिकषरेखाकान्तिचौरं कुर्या-
च्चिरस्थिरामिह लक्ष्मीं गाढसंस्तम्भितामिव ॥ ११ ॥

ज्वालाओं से व्याप्त से और कसौटी के पत्थर की रेखा के तुल्य कान्ति वाले उक्त दोनों जिन भगवानों के उज्ज्वल रूप का चिन्तन करने पर लक्ष्मी गाढ-नियन्त्रित की तरह चिरकाल तक स्थिर होती है॥११॥

* अडवि-निवडिआणं पत्थिवुत्तासिआणं,
जलहि-लहरि-हीरंताण गुत्ति-ट्ठिआणं ।
जलिअ-जलण-जालालिंगिआणं च झाणं,
जणयइ लहु संतिं संतिनाहाजिआणं ॥१२॥

अन्वयार्थ—'संतिनाहअजिआणं' श्री शान्तिनाथजी तथा अजितनाथजी का 'झाण' ध्यान 'अडविनिवडिआणं' जंगल में भूले पड़े लोगों को, 'पत्थिवुत्तासिआणं' राजा से उत्पीडितों को, 'जलहि' समुद्र के 'लहरि' तरंगों से 'हीरंताणं' खींचे जाते जनों को, 'गुत्तिट्ठिआणं' कैद में पड़े हुए लोगों को 'च' और 'जलिय' सुलगी हुई 'जलण' आग की 'जाला' ज्वालाओं से 'आलिंगिआणं' आश्लिष्टों को 'लहु' शीघ्र 'संतिं' शान्ति को 'जणयइ' पैदा करता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—भगवान् श्रीशान्तिनाथजी तथा श्रीअजितनाथजी का ध्यान, अटवी में भूले पड़े हुए, राजा से उत्पीड़ित किये गये, समुद्रमें डूबे हुए, कैद में डाले हुए, और प्रदीप्त आग की ज्वालाओं में गिरे हुए लोगों को शीघ्र ही उन दुःखों से मुक्त करता है ॥ १२ ॥

† हरि-करि-परिकिराणं पक्क-पाइक्क-पुराणं,
सयल-पुहवि-रज्जं छड्डिउं आण-सज्जं ।

* अटव्यां निपतितानां पार्थिवोत्त्रासितानां,
जलधिलहरिह्रियमाणानां गुप्तिस्थितानाम् ।
ज्वलितज्वलनज्वालालिङ्गितानां च ध्यानं
जनयति लघु शान्तिं शान्तिनाथाजितयोः ॥ १२ ॥

† हरिकरिपरिकीर्णां समर्थपदातिपूर्णां
सकलपृथिवीराज्यं छर्दित्वाऽऽज्ञासज्जम् ।

† तणमिव पड-लग्गं जे जिणा मुत्ति-मग्गं
चरणमणुपवण्णा हुंतु ते मे पसण्णा ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—'जे जिणा' जिन जिनदेवोंने 'हरिकरिपरिकिण्ण' घोड़े और हाथियों से व्याप्त, 'पक्क' समर्थ 'पाइक' पदाति सैन्य से' 'पुण्ण' पूर्ण, [तथा] 'आणसज्जं' आज्ञा-पालक [ऐसे] 'सयलपुहविरज्ज' सपूर्ण पृथिवी कि राज्य का 'पडलग्गं' कपड़े में लगे हुए 'तणमिव' तृण की तरह 'छड्डिउ' परित्याग कर 'मुत्तिमग्गं' मोक्ष के मार्ग-भूत 'चरणं' चारित्र को 'अणुपवण्णा' स्वीकार किया 'ते' वे (दोनों भगवान्) 'मे' मेरे पर 'पसण्णा' प्रसन्न 'हुंतु' हों ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिन जिनेन्द्रोंने सकल पृथिवी के ऐसे राज्य को, जो अश्वों, हाथिओं और समर्थ प्यादों से व्याप्त, और आज्ञा का पालन करने वाला था, वस्त्र में लगे हुए तृण की तरह छोड़ कर मुक्ति मार्ग को ग्रहण किया वे मेरे पर प्रसन्न हों ॥ १३ ॥

❀ छण-ससि वयणाहिं फुल्ल-नेत्तुप्पलाहिं,
थण-भर-नमिरीहि मुट्ठि गिज्झोदरीहिं ।
ललिअ-भुअ-लयाहिं पीण-सोणि-त्थलाहिं,
सइ सुर रमणीहि वंदिया जेसि पाया ॥ १४ ॥
~~अरिस-किडिभ-कुट्ठ-गंठि-कासाइसार-~~
खय-जर-वण-लूआ-सास-सोसोदराणि ।

† तृणमिव पटलग्नं यौ जिनौ मुक्तिमार्गं,
चरणमनुप्रपन्नौ भवता तौ मयि प्रसन्नौ ॥ १३ ॥

❀ नयनाभिरम्नाभि फुल्लनेत्रोत्पलाभि
स्तनभर ।
ललितभुजलताभि
सदा सु

† नह-मुह-दसणच्छी-कुच्छि-कण्णाइरोगे,

मह जिण-जुअ-पाया स-प्पसाया हरंतु ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—'जेसि' जिन्हों के 'पाया' चरणों को 'छणससि-वयणाहिं' पूर्णिमा के चन्द्र के तुल्य मुख वाली, 'फुल्लनेत्तुप्पलाहिं' विकस्वर नेत्र रूप कमल वाली, 'थणभरनमिरीहिं' स्तनों के बोझ से झुकती हुई, 'मुट्ठिगिज्झोदरीहिं' मुट्ठी से ग्रहण करने योग्य उदर वाली अर्थात् दुर्बल पेट वाली, 'ललिअभुअलयाहिं' ललित भुज-लता वाली (और) 'पीणसोणित्थलाहिं' पुष्ट नितम्ब वाली 'सुररमणीहिं' देवाङ्गनाओं ने 'सइ' हमेशा 'वंदिआ' वन्दन किया है [वे] 'जिणजुअ-पाया' पूज्य दोनो' जिन-देव 'सप्पसाया' प्रसन्न- होते हुए 'मह' मेरे 'अरिस' बवासीर 'किडिभ' चरण-रोग, 'कुट्ठ' कुष्ठ, 'गंठि' गठिया, 'कास' खाँसी, 'अइसार' संग्रहणी, 'खय' क्षय-रोग, 'जर' ज्वर, 'वण' फोड़ा, 'लूआ' लूता-रोग, 'सास' दमा, 'सोस' तालु-शोष, 'ओदर' जलोदर, [तथा] 'नह' नख, 'मुह' मुँह, 'दसण' दाँत, 'अच्छि' आँख, 'कुच्छि' पेट और 'कण्णाइरोगे' कान आदि के रोगो' का 'हरंतु' नाश करें ॥ १४-१५ ॥

भावार्थ—जिन्होंके चरणो' को उन देविओं ने सदा वन्दन किया है-जिनके मुख पूनम के चन्द्र के समान थे, नेत्र विकसित कमल के तुल्य थे, जो स्तन के बोझ से झुक जाती थीं, जिनका उदर कृश, भुजाएँ ललित और नितम्ब पुष्ट थे, वे पूज्य दोनो' जिन-देव प्रसन्न होते हुए मेरे अर्श, किटिभ, कुष्ठ, ग्रन्थि, खाँसी, अतिसार, क्षय, ज्वर, फोड़े, फुन्सी, श्वास, जलोदर, तथा नख, मुख, दाँत, आँख, पेट और कान आदि के रोगो' का नाश करें ॥ १४—१५ ॥

---

† नखमुखदशनाक्षिकुक्षिकर्णादिरोगान्

मम जिनयुगपादाः सप्रसादा हरन्तु ॥ १५ ॥

† इअ गुरु-दुह-तासे पक्खिए चाउमासे,
जिणवर-दुग-थुत्तं वच्छरे वा पवित्तं।
पढह सुणह सज्झाएह झाएह चित्ते,
कुणह मुणह विग्घं जेण घाएह सिग्घं ॥१६॥

अन्वयार्थ—'इअ' इस प्रकार 'पवित्त' पवित्र 'जिणवरदुग-थुत्त' दो जिन भगवानों के स्तोत्र को 'गुरुदुहतासे' भारी दुःखों के भगाने वाले 'पक्खिअ' पाक्षिक पर्व में, 'चाउमासे' चातुर्मासिक पर्व में 'वा' अथवा 'वच्छरे' सांवत्सरिक पर्व में 'पढह' पढो, 'सुणह' सुनो, 'सज्झाएह' स्वाध्याय करो, 'झाएह' ध्यान करो, 'चित्ते कुणह' मन में रखो, 'मुणह' जानो, 'जेण' जिनसे 'सिग्घ' शीघ्र ही 'विग्घ' विघ्न का 'घाएह' नाश करो ॥ १६ ॥

भावार्थ—हे भव्यो! तुम इस पवित्र स्तोत्र को पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक पर्व में, जो कि भारी दुःखों के नाशक हैं, पढो, सुनो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, चित्त में रखो और भली भांति जान लो, जिससे तुम अपने विघ्नों को शीघ्र ही दूर करने में सफलता पाओगे ॥ १६ ॥

* इअ विजया-जिअसत्तु-पुत्त सिरि-अजिअ-जिणेसर,
तह अइरा-विससेण-तणय पंचम चक्कीसर।

---

† इति गुरुदुःखत्रासे पाक्षिके चातुर्मासिके
जिनवरद्विकस्तोत्रं वत्सरे वा पवित्रम्।
पठत शृणुत स्वाध्यायत ध्यायत चित्ते
कुरुत जानीत विघ्नं येन घातयत शीघ्रम् ॥ १६ ॥

* इति विजयाजितशत्रुपुत्र श्रीअजितजिनेश्वर !
तथाऽचिराविश्वसेनतनय पञ्चम चक्रेश्वर !

*तित्थंकर सोलसम संति-जिण ! वल्लह संतह,
कुरु मंगल मम हरसु दुरिअ-मखिलं पि थुणंतह ॥१७॥

अन्वयार्थ—'विजयाजिअसत्तुपुत्त' विजया देवी और जितशत्रु राजा के पुत्र 'सिरिअजिअजिणेसर' हे श्रीअजितनाथ भगवान् ! 'तह' तथा 'अइराविससेणतणय' अचिरा देवी और विश्वसेन राजा के पुत्र 'पंचमचक्कीसर' पाँचवे चक्रवर्ती, 'सोलसम' सोलहवें 'तित्थंकर' तीर्थंकर (और) 'संतह' सज्जनों को 'वल्लह' वल्लभ (ऐसे) 'संतिजिण' हे श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र 'इअ' इस प्रकार 'थुणंतह' स्तुति करने वाले 'मम' मुझको 'मंगलं' सुख 'कुरु' करो (और) 'अखिलंपि' सभी तरह के 'दुरिअं' पाप का 'हरसु' अपहरण करो ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिनकी माता का नाम विजया देवी और पिता का नाम राजा जितशत्रु है ऐसे हे श्रीअजितनाथ भगवान् तथा जिनकी माता का नाम अचिरा और पिता का नाम राजा विश्वसेन है, जो खुद पाँचवें चक्रवर्ती राजा और सोलहवें जिनदेव, और सज्जनों को प्रिय हैं ऐसे हे श्रीशान्तिनाथ भगवान् आप दोनों, इस तरह स्तुति करने वाले मुझको मंगल-प्रदान करो और मेरे सभी पापों का नाश करो । इस अन्तिम गाथा में कर्ता ने अपना नाम 'जिनवल्लभ' भी सूचित किया है ॥१७॥

---

* तीर्थंकर षोडश शान्तिजिन ! वल्लभ सताम्,
कुरु मंगलं मम हर दुरितमखिलमपि स्तुवतः ॥ १७ ॥

॥ इति द्वितीयं लघुअजितशान्तिस्मरणं समाप्तम् ॥



५८—अथ तृतीयं 'नमिऊण' स्मरणम् ।

* नमिऊण पणय-सुर-गण-
चूडामणि-किरण-रंजिअं मुणिणो ।
चलण-जुअलं महा-भय-
पणासणं संथवं वुच्छं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'पणय' नमे हुए 'सुरगण' देव-समूह के 'चूडामणि' मस्तक-मणिओं के 'किरण' किरणों से 'रंजिअं' रँगे हुए, 'महाभय' बड़े भयों को 'पणासणं' नाश करने वाले 'मुणिणो चलणजुअलं' मुनि (श्रीपार्श्वनाथजी) के चरण-युगल को 'नमिऊण' नमस्कार करके 'संथव' स्तोत्र को 'वुच्छं' कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—भगवान् श्रीपार्श्वनाथजी के उन चरण युगल को, जो कि नम्र देव-गण के मस्तक-मणियों के किरणों से रँगा हुआ और बड़े बड़े भयों का विनाशक है, नमस्कार करके मैं भगवान् की स्तुति करूँगा ॥ १ ॥

† सडिय-कर-चरण-नह-मुह
निब्बुड्ड-नासा विवन्न-लायन्ना ।
कुट्ठ-महा-रोगानल-
फुलिंग-निद्दड्ढ-सव्वंगा ॥ २ ॥

---

* नत्वा प्रणतसुरगणचूडामणिकिरणरञ्जितं मुनेः ।
चरणयुगलं महाभयप्रणाशनं संस्तवं वक्ष्ये ॥ १ ॥

† शटितकरचरणनखमुखा निमग्ननासा विपन्नलावण्याः ।
कुष्ठमहारोगानलस्फुलिङ्गनिर्दग्धसर्वाङ्गाः ॥ २ ॥

† ते तुह चलणाराहण-
सलिलंजलि-सेय-वुड्ढिय-च्छाया ।
वण-दव-दड्ढा गिरि-पा-
यवव्व पत्ता पुणो लच्छिं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'सडियकरचरणनहमुह' जो सड़े हुए हाथ, पैर, नख और मुँह वाले थे, 'निबुड्डनासाविवन्नलायन्ना' जो बैठी हुई नाक से विरूप लावण्य वाले थे, (और) 'कुट्ठमहारोगानलफुलिंगनिद्दड्ढसव्वंगा' जिनका संपूर्ण शरीर कुष्ठ-महारोग रूपी अग्नि की चिनगारियों से जला हुआ था, 'ते' वे 'तुह' आपके 'चलणाराहण' चरणों की सेवा रूपी 'सलिलंजलि' जलांजलि के 'सेय' सेचन से 'वुड्ढियच्छाया' बढ़ी हुई कान्ति वाले होकर 'वणदवदड्ढा' दावानल से जले हुए 'गिरिपायवव्व' पर्वत के वृक्षों की तरह 'पुणो' फिर से 'लच्छिं' शोभा को 'पत्ता' प्राप्त हुए ॥ २-३ ॥

भावार्थ—जिनके हाथ, पाँव, नख और मुँह सड़ गये थे, बैठी हुई नाक से जिनका लावण्य नष्ट हो गया था और जिनका सारा शरीर कुष्ठ रोग से आक्रान्त था वे आपके चरणों की सेवा रूपी जल-सेक से नीरोग और तेजस्वी होकर फिर शोभा को प्राप्त हुए, जैसे दावानल से जले हुए पर्वत के वृक्ष वारिस से फिर नया जीवन प्राप्त कर शोभा को पाते हैं ॥ २-३ ॥

* दुव्वाय-खुभिय-जलनिहि
उब्भड-कल्लोल-भीसणारावे ।

---

† ते त्वच्चरणाराधनसलिलाञ्जलिसेकवर्धितच्छायाः ।
वनदवदग्धा गिरिपादपा इव प्राप्ताः पुनर्लक्ष्मीम् ॥ ३ ॥

* दुर्वातक्षुब्धजलनिधावुद्भटकल्लोलभीषणारावे ।

† संभंत-भय-विसंठुल-
निज्जामय-मुक्क-वावारे ॥ ४ ॥
अविदलिअ-जाणवत्ता,
खणेण पावंति इच्छिअं कूलं।
पास-जिण-चलण-जुअलं
निच्चं चिअ जे नमंति नरा ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ— 'जेनरा' जो मनुष्य 'निच्चं चिअ' हमेशा ही 'पासजिण' पार्श्वजिन के 'चलणजुअलं' पाद-युग्म को 'नमंति' नमस्कार करते हैं [वे] 'उब्भडकल्लोलभीसणारावे' प्रचण्ड तरगों से भयङ्कर आवाज वाले [और] 'संभंत' घबड़ाये हुए [तथा] 'भयविसंठुल' भय से व्याकुल 'निज्जामय' कर्णधारों के 'मुक्कवावारे' व्यापार से रहित [और] 'दुज्जायखुभियजलनिहि' दुष्ट पवन से क्षोभ-प्राप्त [ऐसे] समुद्र में 'अविदलिअजाणवत्ता' सुरक्षित जहाज़ वाले होते हुए 'खणेण' शीघ्र ही 'इच्छिअं कूलं' अभीप्सित किनारे को 'पावंति' पाते हैं ॥ ४-५ ॥

भावार्थ—जिस समय प्रबल तूफान के कारण समुद्र क्षुब्ध हो उठता है, उसमें प्रचंड तरगों से भयङ्कर आवाज होने लगती है और बचने का कोई भी उपाय न देख कर कर्णधार भी निराश बनकर काम छोड देता है उस समय भी भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों को नित्य वन्दन करने वाले मनुष्य बाल बाल बचकर शीघ्र ही अपने ईप्सित स्थान को प्राप्त करते हैं ॥ ४-५ ॥

---

† सम्भ्रान्तभयविसंस्थुलनिर्यामकमुक्तव्यापारे ॥ ४ ॥
अविदलितयानपात्राः क्षणेन प्राप्नुवन्तीप्सितं कूलम्।
पार्श्वजिनचरणयुगलं नित्यमेव ये नमन्ति नराः ॥ ५ ॥

† खर-पवणुद्धुअ-वण-दव-
जालावलि-मिलिअ-सयल-दुम-गहणे ।
डज्झंत-मुद्ध-मय-वहु-
भीसण-रव-भीसणम्मि वणे ॥ ६ ॥
जग-गुरुणो कम-जुअलं
निव्वाविअ-सयल-ति-हुअणाभोअं ।
जे संभरंति मणुआ,
न कुणइ जलणो भयं तेसिं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'मणुआ' मनुष्य 'जगगुरुणो' जगद्गुरु [भगवान् पार्श्वनाथ] के 'निव्वाविअ' शान्त किया है 'सयलतिहुअणाभोअं' संपूर्ण तीन जगतों के स्थान जिसने ऐसे 'कमजुअलं' पाद-युग्म का 'संभरंति' स्मरण करते हैं, 'तेसिं' उनको, 'खर' प्रचण्ड 'पवणुद्धुअ' पवन से फैले हुए 'वणदव' दावानल की 'जालावलि' ज्वाला-समूह से 'मिलियसयलदुमगहणे' मिली हुई है संपूर्ण वृक्ष-घटा जिसमें [ऐसे और] 'डज्झंत' जलती हुई 'मुद्धमयवहु' मुग्ध हरिणियों के 'भीसण' भयङ्कर 'रव' क्रन्दन से 'भीसणम्मि' भीषण [ऐसे] 'वणे' वन में, 'जलणो' अग्नि 'भयं' भय 'न कुणइ' नहीं उपजाता है ॥ ६ ७ ॥

भावार्थ—जब जंगल में आग लग जाती है, प्रचण्ड पवन से उसका फैलाव वृक्षों के निबिड स्थान तक पहुँच जाता है, जलते हुए हरिणी आदि पशुओं के करुण क्रन्दन से सारा जङ्गल भयंकर हो उठता है तब भी वह भयंकर दावानल उन मनुष्यों को भय पैदा नहीं

† खरपवनोद्धतवनदवज्वालावलिमिलितसकलद्रुमगहने ।
दह्यमानमुग्धमृगवधूभीषणरवभीषणे वने ॥ ६ ॥
जगद्गुरोः क्रमयुगलं निर्वापितसकलत्रिभुवनाभोगम् ।
ये स्मरन्ति मनुजा न करोति ज्वलनो भयं तेषाम् ॥ ७ ॥

कर सकता—कुछ भी नुकसान नहीं कर पाता—जो भगवान् पार्श्वनाथ के उन चरणों को याद करता है जिन्होंने तीनों जगत के सर्व स्थानों में शान्ति पहुँचाई है ॥ ६-७ ॥

* विलसंत-भोग-भीसण-
फुरिआरुण-नयण-तरल जीहालं ।
उग्ग-भुअंगं नव-जलय-
सच्छहं भीसणायारं ॥ ८ ॥
मन्नंति कीड-सरिसं
दूर-परिच्छूढविसम-विस-वेगा ।
तुह-नामक्खर-फुड-सि-
द्ध-मंत-गुरुआ नरा लोए ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—'तुह' आपके 'नामक्खर' नामाक्षर-रूप 'फुडसिद्धमंत' प्रकट सिद्ध मन्त्र के 'गुरुआ' प्रभाव वाले 'नरा' मनुष्य 'दूरपरिच्छूढविसमवेसवेगा' भयकर विष के वेग को दूर फेंकते हुए 'लोए' जगत् में 'विलसत' चमकीले 'भोग' शरीर वाले, 'भीसणफुरिआरुण' भयकर, चपल और लाल 'नयण' आँख वाले, 'तरलजीहाल' चञ्चल जीभ वाले, 'नवजलयसच्छह' नूतन मेघ के समान श्याम, (तथा) 'भीसणायारं' भयकर आकार वाले 'उग्गभुअंग' प्रचण्ड साँप को 'कीडसरिस' कीड़े के तुल्य 'मन्नति' मानते हैं ॥ ८-९ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! आपके नामाक्षर रूप मन्त्र के प्रभाव वाले मनुष्य, जगत् में भयकर विष-वेग को दूर फेंकते हुए उस प्रचण्ड

---

* विलसद्भोगभीषणस्फुरितारुणनयनतरलजिह्वम् ।
उग्रभुजगं नवजलदसदृशं भीषणाकारम् ॥ ८ ॥
मन्यन्ते कीटसदृशं दूरपरिक्षिप्तविषमविषवेगाः ।
त्वन्नामाक्षरस्फुटसिद्धमन्त्रगुरवो नरा लोके ॥ ९ ॥

सर्प को भी तुच्छ कीड़े के तुल्य समझते हैं जिसका शरीर चमकीला हो, आंखे भयंकर, चपल और लाल हों, जीभें चंचल हों, वर्ण नूतन मेघ की तरह काला हो और आकार भयंकर हो ॥ ८-६ ॥

† अडवीसु भिल्ल-तक्कर-
पुलिंद-सद्दूल-सद्द-भीमासु ।
भय-विहल-वुन्न-कायर-
उल्लूरिअ-पहिअ-सत्थासु ॥ १० ॥
अविलुत्त-विहव-सारा
तुह नाह पणाम-मत्त-वावारा ।
ववगय-विग्घा सिग्घं,
पत्ता हिअ-इच्छिअं ठाणं ॥११॥

अन्वयार्थ—'नाह' हे भगवन् 'तुह' आपको 'पणाममत्तवावारा' प्रणाम करने के ही प्रयत्न वाले [मनुष्य] 'भिल्ल' भील, 'तक्कर' चोर, 'पुलिन्द' वनचर मनुष्य, [तथा] 'सद्दूल' सिंहों के 'सद्द' आवाजों से 'भीमासु' भयंकर [तथा, जहां पर] 'भयविहल' भय से व्याकुल 'वुन्न' दुःखित [और] 'कायर' भीरु [ऐसे] 'पहिअसत्थासु' मुसाफिरों के समूह 'उल्लूरिअ' छिन्न- भिन्न किये गए हैं [ऐसे] 'अडवीसु' जंगलों में, 'ववगयविग्घा' विघ्न-रहित (तथा) 'अविलुत्तविहवसारा' संपत्ति और सार वस्तुओं को सुरक्षित रखते हुए 'सिग्घं' शीघ्र 'हिअइच्छिअं' मनोभीष्ट 'ठाणं' स्थान को 'पत्ता' प्राप्त होते हैं ॥ १०-११ ॥

---

† अटवीषु भिल्लतस्करपुलिन्दशार्दूलशब्दभीमासु ।
छिन्नभयविह्वलदुःखितकातरपथिकसार्थासु ॥ १० ॥
अविलुप्तविभवसारास्तव नाथ ! प्रणाममात्रव्यापाराः ।
व्यपगतविघ्नाः शीघ्रं प्राप्ता हृदयेप्सितं स्थानम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! जो लोग निरन्तर आपको प्रणाम करने में लगे रहते हैं वे उन जंगलों में भी विघ्न बाधाओं को दूर करते हुए तथा अपने ज्ञानमाल का आसानी से रक्षण करते हुए शीघ्र अपने मनोभीष्ट स्थान को पहुँच जाते हैं, जो [जंगल] भिल्ल, चोर, पुलिन्द तथा सिंहों के शब्दों से भयंकर हैं तथा जहाँ पर मुसाफिर लोग भय भीत हो जाते तथा व्याकुल बनाकर लूट लिये जाते हैं ॥ १०-११ ॥

*पज्जलिआनल-नयणं,
दूर विआरिअ-मुहं महा-कायं ।
नह-कुलिस-घाय-विअलिअ-
गइंद-कुंभ-त्थलाभोअं ॥ १२ ॥
पणय-ससंभम-पत्थिव-
नह-मणि-माणिक्क-पडिअ-पडिमस्स ।
तुह वयण-पहरणधरा,
सीहं कुद्धंपि न गणंति ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—'नहमणिमाणिक्क' [जिसके] नख रूप माणिक्य—मणियों में 'पणयससंभमपत्थिव' नम्र तथा आदर वाले राजाओं का 'पडिमस्स' (रूप)' प्रतिबिम्ब 'पडिअ' पड़ा है [ऐसे] 'तुह' आपके 'वयण' वचन रूप 'पहरणधरा' शस्त्र को धारण करने वाले [लोग]' 'पज्जलिआनलनयणं' प्रज्वलित अग्नि के समान आँखों वाले, 'दूरविआरिअमुहं' दूर तक फाड़ा है मुँह जिसने ऐसे 'महाकायं' बड़े शरीर वाला, 'नहकुलिस' नख रूप वज्र के घाव प्रहार से 'विअलिअ' चूर्णित किया है

* प्रज्वलितानलनयनं दूरविदारितमुखं महाकायम् ।
नखकुलिशघातविदलितगजेन्द्रकुम्भस्थलाभोगम् ॥ १२ ॥
प्रणतससम्भ्रमपार्थिवनखमणिमाणिक्यपतितप्रतिमस्य ।
तव वचनप्रहरणधराः सिंहं क्रुद्धमपि न गणयन्ति ॥ १३ ॥

'गइंद' गजेन्द्रों के 'कुंभत्थलाभोगं' कुंभस्थलों का विस्तार जिसने [ऐसे] 'कुद्धं' क्रोधी 'सीहं' सिंह को 'पि' भी 'न गणंति' नहीं गिनते हैं ॥ १२-१३ ॥

भावार्थ—जिसकी आँखें प्रज्वलित अग्नि के समान हैं, जिसने दूर से ही अपना मुँह फैलाया है, जिसने अपने नखों के प्रहार से बड़े२ हाथीओं के कुम्भस्थलों को विदीर्ण किया है ऐसे बड़े शरीर वाले और क्रुद्ध सिंह को भी वे मनुष्य कुछ नहीं समझते जो नरेन्द्र-पूजित ऐसे आपकी आज्ञा-रूप शस्त्र को धारण करने वाले हैं ॥ १२-१३ ॥

† ससि-धवल-दंत-मुसलं,
दीह-करुल्लाल-वड्ढिउच्छाहं ।
महु-पिंग-नयण-जुअलं,
स-सलिल-नव-जलहरारावं ॥ १४ ॥
भीमं महा-गइंदं,
अच्चासन्नंपि ते नवि गणंति ।
जे तुम्ह चलण-जुअलं,
मुणि-वइ! तुंगं समल्लीणा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—'मुणिवइ' हे मुनिपति 'जे' जो लोग 'तुम्ह' आपके 'तुंगं' उन्नत 'चलणजुअलं' पाद-युगल के 'समल्लीण' आश्रित हुए हैं 'ते' वे 'अच्चासन्नं' अति नजदीक आये हुए 'ससिधवलं' चन्द्रमा की तरह श्वेत 'दंतमुसलं' दाँत रूप मूसल वाले, 'दीहकरुल्लाल' लम्बी सूँढ़ के संचालन से 'वड्ढिउच्छाहं' बढ़े हुए उत्साह वाले, 'महु' शा-

† शशिधवलदन्तमुसलं दीर्घकरोल्लालवर्धितोत्साहम् ।
मधुपिङ्गनयनयुगलं ससलिलनवजलधरारावम् ॥ १४ ॥
भीमं महागजेन्द्रमत्यासन्नमपि ते नैव गणयन्ति ।
ये तव चरणयुगलं मुनिपते ! तुङ्गं समालीनाः ॥ १५ ॥

द्रव के तुल्य 'पिंग' पीली 'नयणजुअलं' दो आँखों वाले, 'ससलिलं' जल-पूर्ण 'नव' नूतन 'जलहराराव' मेघ के समान गर्जने वाले [ऐसे] 'भीमं' भयकर 'महागइंद' बडे हाथी को 'पि' भी 'नवि गणंति' नहीं गिनते हैं।

भावार्थ—हे मुनिपुंगव श्रीपार्श्वनाथ भगवन्! जिन लोगोंने आपके उन्नत पादपद्म का आश्रय लिया है वे, ऐसे निकटवर्ती भयंकर बडे गजेन्द्र को भी नहीं गिनते हैं जिसके दाँत चन्द्र की तरह सफेद हैं, अपनी लम्बी सूँढ के संचालन से जिसका उत्साह बढ़ा हुआ है, जिसकी आँखें मधु की तरह पीली हैं और जल-पूर्ण नवीन मेघ की तरह जिसकी गड़गड़ाहट है—अर्थात् ऐसा हाथी भी उनको कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचा सकता ॥ १४-१५ ॥

*समरम्मि-तिक्ख-खग्गा-
भिघाय-पविद्ध-उद्धुअ-कबंधे।
कुंत-विणिभिन्न-करि-कलह-
मुक्क-सिक्कार-पउरम्मि ॥ १६ ॥
निज्जिअ-दप्पुद्धुर-रिउ-
नरिंद-निवहा भडा जसं धवलं।
पावंति पाव-पसमिण
पास-जिण! तुहप्पभावेण ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—'पावपसमिण' पापों को शमाने वाले 'पासजिण' हे पार्श्वजिन! 'तुह' आपके 'प्पभावेण' प्रभाव से 'भडा' सुभट—योद्धा लोक, 'तिक्खखग्गाभिघायपविद्धउद्धुअकबंधे' जिसमें तीक्ष्ण खड्गों के

* समरे तीक्ष्णखड्गाभिघातपविद्धोद्धुतकबन्धे।
कुन्तविनिर्भिन्नकरिकलभमुक्तसीत्कारप्रचुरे ॥ १६ ॥
निर्जितदर्पोद्धुररिपुनरेन्द्रनिवहा भटा यशो धवलम्।
प्राप्नुवन्ति पापप्रशमिन् पार्श्वजिन! तव प्रभावेण ॥ १७ ॥

प्रहारों से धड़ अनियन्त्रित रूप से नाचने लगते हैं; [तथा] 'कुंत' भालों से 'विणिभिन्न' विदीर्ण 'करिकलह' हस्ति-शिशुओं के 'मुक्क-सिक्कार' निकले हुए सीत्कारों से 'पउरम्मि' पूर्ण [ऐसी] 'समरम्मि' लड़ाई में 'निज्जिअदप्पुद्धुररिउनरिंदनिवहा' गर्विष्ठ दुश्मन राज-समूह को परास्त करते हुए 'धवलं' शुभ्र 'जसं' यश को 'पावंति' प्राप्त करते हैं ॥ १६-१७ ॥

भावार्थ—जहाँ तीक्ष्ण तलवारों के अभिघात से मस्तक से अलग होकर धड़ नाचने लगते हैं, भालों से विदीर्ण हस्ति-किशोरों की चीसों से जो व्याप्त है ऐसी खूंखार लड़ाई में भी हे पाप-नाशक पार्श्व प्रभो ! आपके प्रभाव से सुभट लोक गर्विष्ठ शत्रुओं को परास्त करते हुए कीर्ति-लाभ करते हैं ॥ १६-१७ ॥

†रोग-जल-जलण-विसहर-
चोरारि-मइंद-गय-रण-भयाइं ।
पास-जिण-नाम-संकि-
त्तणेण पसमंति सव्वाइं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—'पासजिण' पार्श्वनाथ भगवान् के 'नामसंकित्तणेण' नाम-संकीर्त्तन से 'सव्वाइं' सब 'रोग' बिमारी, 'जल' पानी, 'जलण' अग्नि, 'विसहर' साँप, 'चोर' चौर, 'अरि' दुश्मन, 'मइंद' सिंह, 'गय' हाथी तथा 'रण' लड़ाई के 'भयाइं' भय 'पसमंति' शान्त होते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ के नाम के कीर्तन से रोग, जल, अग्नि, साँप, चोर, शत्रु, सिंह, हाथी तथा लड़ाई के सब भय नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

---

† रोगजलज्वलनविषधरचोरारिमृगेन्द्रगजरणभयानि ।
पार्श्वजिननामसंकीर्तनेन प्रशाम्यन्ति सर्वाणि ॥ १८ ॥

® एवं महा-भय-हरं पास-जिणिंदस्स संथवमुआरं ।
भविअ-जणाणंद-यरं कल्लाण-परंपर-णिहाणं ॥१६॥

अन्वयार्थ—'एव' इस प्रकार 'पासजिणिंदस्स' पार्श्व जिनेन्द्र का 'संथव' स्तोत्र 'महाभयहर' बड़े बड़े भयों का नाशक, 'उआर' उदार, 'भवियजणाणंदयर' भव्य जनों को आनन्द देने वाला [और] 'कल्लाणपरंपरनिहाणं' कल्याणों की परम्परा का भण्डार [है] ॥ १६ ॥

भावार्थ—इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का स्तोत्र बड़े बड़े भयों का विनाशक, उदार, भव्य जनों को आनन्द दायक तथा कल्याण-परम्परा का भण्डार है ॥ १६ ॥

† राज-भय-जक्ख-रक्खस-
कुसुमिण-दुस्सउण-रिक्ख-पीडासु ।
संझासु दोसु पंथे,
उवसग्गे तह य रयणीसु ॥ २० ॥
जो पढइ जो अ निसुणइ,
ताणं कइणो य माणतुंगस्स ।
पासो पावं पसमेउ,
सयल-भुवणच्चिअ-चलणो ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—'राजभय' राजा की तरफ से भय, 'जक्ख' यक्ष, 'रक्खस' राक्षस, 'कुसुमिण' खराब स्वप्न, 'दुस्सउण' अपशकुन,

® एव महाभयहरं पार्श्वजिनेन्द्रस्य संस्तवमुदारम् ।
भव्यजनानन्दकरं कल्याणपरम्परानिधानम् ॥ १६ ॥

† राजभययक्षराक्षसकुस्वप्नदुःशकुनऋक्षपीडासु ।
सन्ध्ययोर्द्वयोः पथि, उपसर्गे तथा च रजनीषु ॥ २० ॥
यः पठति यश्च शृणोति, तयोः कवेश्च मानतुङ्गस्य ।
पार्श्वः पापं प्रशमयतु, सकलभुवनार्चितचरणः ॥ २१ ॥

[और]'रिक्ख' ग्रह की 'पीडासु' पीड़ाएँ उपस्थित होने पर, 'संझासु दोसु' प्रातः और शामकी सन्ध्या के समय, 'पंथे' मार्ग में 'उवसग्गे' उपद्रव के समय, 'तह य' और 'रयणीसु' रात्रि में 'जो' जो मनुष्य [इस-स्तोत्र को] 'पढइ' पढता है 'अ' या 'निसुणइ' सुनता है 'ताणं' उनके 'य' तथा 'कइणो' माणतुंगस्स' इस स्तोत्र के कर्ता मानतुंग कवि के 'पावं' पाप को 'सयल' सकल 'भुवण' जगत् में 'अच्चिअचलणो' पूजित चरण वाले 'पासो' पार्श्वनाथजी 'पसमेउ' प्रशान्त करें' ।। २०-२१ ।।

भावार्थ—राजा, यक्ष, राक्षस, दुष्ट स्वप्न, अपशुकन तथा खराब ग्रहों की पीड़ा के समय, दोनों सन्ध्याओं के समय, मार्ग में, उपद्रव के वक्त और रात्रि में जो मनुष्य इस स्तोत्र को पढ़ता है या जो सुनता है उनके तथा स्तोत्र के कर्ता मानतुंग कवि के पापों को वे श्रीपार्श्वनाथ भगवान् प्रशान्त करें जिनके चरण सकल जगत् में वन्दित हैं ॥२०-२१॥

* उवसग्गंते कमठा-
सुरम्मि झाणाउ जो न संचलिओ ।
सुर-नर-किंनर-जुवइहि,
संथुओ जयउ पास-जिणो ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'कमठासुरम्मि' कमठ दैत्य के 'उवसग्गंते' उपसर्ग करने पर 'झाणाउ' ध्यान से 'न संचलिओ' क्षुब्ध न हुआ [उस] 'सुर' देवता 'नर' मनुष्य [तथा] 'किंनर' गन्धर्वों की 'जुवइहिँ' युवतियों से 'संथुओ' संस्तुत 'पासजिणो' श्रीपार्श्वनाथ भगवान् की 'जयउ' जय हो ॥ २२ ॥

भावार्थ—कमठ-नामक दैत्य के घोर उपसर्ग करने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होने वाले श्रीपार्श्वप्रभु की जय हो जिसकी स्तुति देव, मनुष्य और किन्नरों की युवतिओंने की हैं ॥ २२ ॥

---

* उपसर्गयति कमठासुरे ध्यानाद् यो न संचलितः ।
सुरनरकिन्नरयुवतिभिः संस्तुतो जयतु पार्श्वजिनः ॥ २२ ॥

† एअस्स मज्झयारे,
अट्ठारस-अक्खरेहिं जो मंतो।
जो जाणइ सो झायइ,
परम-पयत्थं फुडं पासं ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—'एअस्स' इस स्तोत्र के 'मज्झयारे' मध्य भाग में 'अट्ठारसअक्खरेहिं' अठारह अक्षरों का 'जो मंतो' जो मन्त्र (है, उसको) 'जो जाणइ' जो जानता है 'सो' वह 'परमपयत्थ' मोक्ष में स्थित 'पासं' पार्श्व प्रभु का 'फुडं' अच्छी तरह 'झायइ' ध्यान कर सकता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—इस स्तोत्र के मध्य में 'नमिऊण पास विसहर वसह-जिण फुलिंग' इन अठारह अक्षरों का जो चिन्तामणि-नामक गुप्त मन्त्र है उसको गुरु-गम से जो विधि-युक्त जानता है वह मुक्ति-स्थित पार्श्व प्रभु का अच्छी तरह ध्यान कर सकता है ॥ २३ ॥

* पासह समरण जो कुणइ,
संतुट्ठें हिअएण।
अट्ठुत्तर-सय-वाहि-भय,
नासइ तस्स दूरेण ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—'जो' जो मनुष्य 'संतुट्ठे' सन्तुष्ट 'हिअएण' हृदय से 'पासह' पार्श्वनाथजी का 'समरण' स्मरण 'कुणइ' करता है 'तस्स' उसका 'अट्ठुत्तरसयवाहिभय' एक सौ आठ व्याधियों का भय 'दूरेण' दूर 'नासइ' पलायन करता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य संतुष्ट हृदय से भगवान् पार्श्वनाथजी का स्मरण करता है उसके एक सौ आठ व्याधि दूर से ही पलायन करते हैं ॥ २४ ॥

॥ इति तृतीय नमिऊणस्तोत्र समाप्तम् ॥

---

† एतस्य मध्येऽष्टादशाक्षरैर्यो मन्त्रः ।
यो जानाति स ध्यायति परमपदस्थं स्फुटं पार्श्वम् ॥ २३ ॥

* पार्श्वस्य स्मरणं यः करोति सन्तुष्टेन हृदयेन ।
अष्टोत्तरशतव्याधिभयं नश्यति तस्य दूरेण ॥ २४ ॥

५६—अथ चतुर्थं 'तंजयउ'—स्मरणम्।

* तं जयउ जए तित्थं,
जमित्थ तित्थाहिवेण वीरेण।
सम्मं पवत्तियं भव्व-
सत्त-संताण-सुह-जणयं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'तं' वह 'तित्थं' तीर्थ 'जए' जगत् में 'जयउ' जयवन्त हो 'जं' जो 'इत्थ' इस लोक में 'तित्थाहिवेण' तीर्थाधिप 'वीरेण' श्रीमहावीरने 'सम्मं' अच्छी तरह 'पवत्तियं' प्रवृत्त किया [और जो] 'भव्व' भव्य 'सत्त' जीवों के 'संताण' समूह को 'सुहजणयं' सुख-जनक है ॥१॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने जिसको यहाँ अच्छी तरह प्रवर्ताया, भव्य जीवों को सुख देने वाले उस तीर्थ की इस जगत् में जय हो ॥ १ ॥

† नासिअ-सयल-किलेसा,
निहय-कुलेस्सा पसत्थ-सुह-लेस्सा।
सिरि-वद्धमाण-तित्थस्स,
मंगलं दिंतु ते अरिहा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'नासिअसयलकिलेसा' जिन्होंने सब क्लेशों का नाश किया है, 'निहयकुलेस्सा' जिन्होंने दुष्ट लेश्याओं का विध्वंस किया है, 'पसत्थसुहलेस्सा' जो प्रशस्त शुभ लेश्या वाले हैं 'ते' वे 'अरिहा'

---

* तज्जयतु जगति तीर्थं यदत्र तीर्थाधिपेन वीरेण।
सम्यक् प्रवर्तितं भव्यसत्त्वसंतानसुखजनकम् ॥ १ ॥

† नाशितसकलक्लेशा निहतकुलेश्याः प्रशस्तशुभलेश्याः।
श्रीवर्धमानतीर्थस्य मंगलं ददतु तेऽर्हन्तः ॥ २ ॥

अर्हन् देव 'सिरिवद्धमाणतित्थस्स' भगवान् महावीर के तीर्थ का 'मंगल दितु' मंगल करें ॥ २ ॥

भावार्थ—वे अर्हन् देव, जिन्होंने सभी क्लेशों का विनाश किया है, तथा कृष्णादि अशुभ लेश्याओं का उन्मूलन किया है और जो प्रशस्त शुभ लेश्या वाले हैं, भगवान् महावीर के स्थापित इस तीर्थ—चतुर्विध श्रीसंघ—का कल्याण करें ॥ २ ॥

*निद्दड्ढ-कम्म-बीआ,
बीआ परमेट्ठिणो गुण समिद्धा ।
सिद्धा ति-जय-पसिद्धा,
हणंतु दुत्थाणि तित्थस्स ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'निद्दड्ढकम्मबीआ' जिन्होंने कर्म-बीज को जला दिया है, 'बीआ' द्वितीय 'परमेट्ठिणो' परमेष्ठी, 'गुणसमिद्धा' गुणों से समृद्ध, [तथा] 'तिजयपसिद्धा' तीनों जगत् में विख्यात [ऐसे] 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'तित्थस्स' इस तीर्थ के 'दुत्थाणि' क्लेशों का 'हणतु' नाश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिन्होंने आठों कर्म रूपी बीज को जला कर भस्म कर दिया है, जो दूसरे परमेष्ठी और गुणों से समृद्ध हैं तथा जो तीनों लोक में विख्यात हैं, ऐसे मुक्त जीव वर्तमान तीर्थ के क्लेशों को दूर करें ॥ ३ ॥

† आयारमायरंता,
पंच-पयारं सया पयासंता ।
आयरिआ तह तित्थं
निहय-कुतित्थं पयासंतु ॥ ४ ॥

* निर्दग्धकर्मबीजा द्वितीया परमेष्ठिनो गुणसमृद्धा ।
सिद्धास्त्रिजगत्प्रसिद्धा घ्नन्तु दुःस्थानि तीर्थस्य ॥ ३ ॥

† आचारमाचरन्तः पञ्चप्रकारं सदा प्रकाशयन्तः ।
आचार्यास्तथा तीर्थं निहतकुतीर्थं प्रकाशयन्तु ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'पंचपयारं' पाँच प्रकार के 'आयारं' आचार को 'आयरंता' आचरने वाले 'तह' तथा 'सया' हमेशा 'पयासंता' प्रकाशने वाले (ऐसे) 'आयरिआ' आचार्य महाराज 'निहयकुतित्थं' कुतीर्थों का जिसने नाश किया है ऐसे 'तित्थं' इस तीर्थ को 'पयासंतु' प्रकाशित करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्य्य इन पाँचों प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करने वाले और भव्य जीवों को निरन्तर उनका उपदेश देने वाले आचार्य-गण इस तीर्थ को उद्द्योतित करें जिसने कुतीर्थों का—कुदर्शनों का—नाश किया है ॥ ४ ॥

* सम्म-सुअ-वायगा वा-
यगा य सिअवाय-वायगा वाए ।
पवयण-पडिणीअ-कए-
ऽवणंतु सव्वस्स संघस्स ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'सम्म' अच्छी तरह 'सुअ' श्रुत—शास्त्रों के 'वायगा' वाचक 'य' और 'वाए' वाद में 'सियवायवायगा' स्याद्वाद—अनेकान्त-तत्त्वों के भाषक 'वायगा' उपाध्याय 'सव्वस्स' संपूर्ण 'संघस्स' श्रीसंघ के 'पवयणपडिणीअकए' शासन-शत्रुओं को 'अवणंतु' दूर करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—अच्छी तरह सिद्धान्तों के व्याख्याता और वाद—शास्त्रार्थ— होने पर अनेकान्त तत्वों के समर्थक उपाध्याय-गण सकल संघ के विद्वेषियों को दूर करें ॥ ५ ॥

---

* सम्यक्श्रुतवाचका वाचकाश्च स्याद्वादवाचका वादे ।
प्रवचनप्रत्यनीककृतोऽपनयन्तु सर्वस्य संघस्य ॥ ५ ॥

*निव्वाण-साहणुज्जय-
साहूणं जणिअ-सव्व-साहज्जा ।
तित्थ-प्पभावगा ते,
हवंतु परमेट्ठिणो जइणो ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'निव्वाण' मोक्ष की 'साहणुज्जय' साधना में उद्यत 'साहूण' साधुओं को 'जणिअसव्वसाहज्जा' जिन्होंने सब प्रकार की सहायता पहुँचायी है 'ते' वे प्रसिद्ध 'परमेट्ठिणो जइणो' यति-रूप परमेष्ठी 'तित्थप्पभावगा' तीर्थ के प्रभावक 'हवंतु' हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—मोक्ष की साधना में लगे हुए साधुओं को सर्व प्रकार की सहायता पहुँचाने वाले प्रसिद्ध पञ्चम परमेष्ठी-रूप मुनिराज तीर्थ—श्रीसंघ—के गौरव बढ़ाने वाले हों ॥ ६ ॥

+जेणाणुगयं नाणं,
निव्वाण-फलं च चरणमवि हवई ।
तित्थस्स दंसणं तं,
मंगलमवणेउ सिद्धियरं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'जेण' जिससे 'अणुगय' युक्त 'नाणं' ज्ञान 'च' और 'चरणमवि' चारित्र भी 'निव्वाणफलं' मोक्ष-रूप फल को देने वाला 'हवई' होता है 'तं' वह 'सिद्धियरं' सिद्धि-कारक 'दंसणं' 'सम्यक्त्व' 'तित्थस्स' श्रीसंघ के 'मंगुलं' अनिष्ट को 'अवणेउ' दूर करे ॥ ७ ॥

---

* निर्वाणसाधनोद्यतसाधूनां जनितसर्वसाहाय्याः ।
तीर्थप्रभावकास्ते भवन्तु परमेष्ठिनो यतयः ॥ ६ ॥

+ येनानुगतं ज्ञानं निर्वाणफलं च चरणमपि भवति ।
तीर्थस्य दर्शनं तन्मङ्गलमपनयतु सिद्धिकरम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—ज्ञान और चारित्र भी जिसके बिना मुक्ति नहीं दे सकते वह मुक्ति-दायक सम्यग्-दर्शन चतुर्विध श्रीसंघ के अनिष्ट को दूर करे ॥ ७ ॥

*निच्छम्मो सुत्र-धम्मो,
समग्ग-भव्वंगि-वग्ग-कय-सम्मो ।
गुण-सुट्ठिअस्स संघस्स,
मंगलं सम्ममिह दिसउ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—'निच्छम्मो' माया-रहित [तथा] 'समग्गभव्वंगिवग्गकयसम्मो' जिसने सब भव्य प्राणि-वर्ग को सुख दिया है [वह] 'सुअधम्मो' श्रुत-धर्म 'गुणसुट्ठिअस्स संघस्स' गुणों में निरन्तर स्थित श्रीसंघ को 'इह' यहाँ 'सम्मं' अच्छी तरह 'मंगलं' मंगल 'दिसउ' देवे ॥८॥

भावार्थ—जो माया-रहित है और जिसने सकल भव्य प्राणियों को सुख पहुँचाया है वह श्रुतधर्म—ज्ञान-गुण गुणों में सुस्थिर ऐसे श्रीसंघ का तच्छी तरह कल्याण करे ॥ ८ ॥

† रम्मो चरित्त-धम्मो,
संपाविअ-भव्व-सत्त-सिव-सम्मो ।
नीसेस-किलेस-हरो
हवउ सया सयल-संघस्स ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—'संपाविअभव्वसत्तसिवसम्मो' जिसने भव्य जीवों को मुक्ति का सुख प्राप्त करवाया हैं वह 'रम्मो' सुन्दर 'चरित्तधम्मो'

* निश्छद्मः श्रुतधर्मः समग्रभव्याङ्गिवर्गकृतशर्मा ।
गुणसुस्थितस्य संघस्य मङ्गलं सम्यगिह दिशतु ॥ ८ ॥

† रम्यश्चारित्रधर्मः संप्रापितभव्यसत्त्वशिवशर्मा ।
निःशेषक्लेशहरो भवतु सदा सकलसंघस्य ॥ ९ ॥

चारित्र-धर्म 'सया' सदा 'सयलसंघस्स' सकल श्रीसंघ के 'नीसेस' सभी 'किलेस' क्लेशों का 'हरो' विनाशक 'हवउ' हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिसने भव्य जीवों को मोक्ष का सुख दिया है वह सुन्दर चारित्र-धर्म—संयम-गुण—सदा सकल श्रीसंघ के संपूर्ण क्लेशों का विनाशक हो ॥ ९ ॥

† गुण-गण-गुरुणो गुरुणो,
सिव-सुह-मइणो कुणंतु तित्थस्स ।
सिरि-वद्धमाण-पहु-पय-
डिअस्स कुसलं समग्गस्स ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—'गुण' गुणों के 'गण' समूह से 'गुरुणो' महान् (और) 'सिवसुहमइणो' मुक्ति सुख में ही जिनकी बुद्धि है [ऐसे] 'गुरुणो' गुरु-लोग 'सिरिवद्धमाणपहुपयडिअस्स' श्रीमहावीर भगवान् के प्रवर्तित 'समग्गस्स' सकल 'तित्थस्स' संघ का 'कुसलं' कल्याण 'कुणंतु' करें ॥ १० ॥

भावार्थ—जो गुणों के समूह से महान् हैं और जिनकी बुद्धि केवल मुक्ति-सुख को ही प्राप्त करने में लगी है ऐसे गुरु-लोग श्रीमहावीर प्रभु के प्रवर्तित सकल श्रीसंघ का कल्याण करें ॥ १० ॥

‡ जिअ पडिवक्खा जक्खा,
गोमुह-मायग-गयमुह-पमुक्खा ।
सिरि-बंभसंति-सहिआ,
कय-नय-रक्खा सिवं दिंतु ॥ ११ ॥

---

† गुणगणगुरवो गुरवः शिवसुखमतयः कुर्वन्तु तीर्थस्य ।
श्रीवर्धमानप्रभुप्रकटितस्य कुशलं समग्रस्य ॥ १० ॥

‡ जिनप्रतिपन्ना यक्षा गोमुखमातङ्गगजमुखप्रमुखाः ।
श्रीब्रह्मशान्तिसहिताः कृतनयरक्षा शिवं ददतु ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—'जिअपडिवक्खा' जिन्होंने अपने दुश्मनों को जीत लिया है, [और] 'कयनयरक्खा' जिन्हों ने न्याय की रक्षा की है [वे] 'सिरिबंभसंतिसहिआ' श्रीब्रह्मशान्ति-नामक यक्ष से युक्त 'गोमुह-मायंगगयमुहपमुक्खा' गोमुख, मातङ्ग तथा गजमुख आदि 'जक्खा' यक्ष-गण 'सिवं' सुख 'दिंतु' देवें ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिन्होंने अपने शत्रुओं पर विजय पायी है और जिन्होंनें न्याय की रक्षा की है वे ब्रह्मशान्ति, गोमुख, मातङ्ग, तथा गज-मुख आदि यक्ष-गण श्रीसंघ को सुख दें ॥ ११ ॥

† अंबा पडिहय-डिंबा,
सिद्धा सिद्धाइआ पवयणस्स ।
चक्केसरि-वइरुट्टा,
संति-सुरी दिसउ सुक्खाणि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—'पडिहयडिंबा' जिन्होंने उपद्रवों का नाश किया है ऐसी 'अंबा' अम्बा देवी, 'सिद्धा' सिद्धा देवी, 'सिद्धाइआ' सिद्धा-यिका 'चक्केसरि' चक्रेश्वरी 'वइरुट्टा' वैरोट्या [तथा] 'संतिसुरी' शान्तिदेवी 'पवयणस्स' प्रवचन—श्रीसंघ को 'सुक्खाणि' सुख 'दिसउ' दें ॥ १२ ॥

भावार्थ—उपद्रवों के नाश करने वाली अम्बा, सिद्धा, सिद्धा-यिका, चक्रेश्वरी, वैरोट्या तथा शान्तिसुरी आदि शासनदेवताएँ श्रीसंघ को सुख दें ॥ १२ ॥

*सोलह विज्जा-देवीउ
दिंतु संघस्स मंगलं विउलं ।

† अम्बा प्रतिहतडिम्बा, सिद्धा सिद्धायिका प्रवचनस्य ।
चक्रेश्वरी वैरोट्या, शान्तिसुरी दिशतु सौख्यानि ॥ १२ ॥

* षोडश विद्यादेव्यो ददतु संघस्य मङ्गलं विपुलम् ।

†अच्छुत्ता-सहिआओ
विस्सुअ-सुअदेवयाइ समं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—'विस्सुअसुअदेवयाइ' विख्यात श्रुतदेवता के 'सम' साथ 'अच्छुत्तासहिआओ' अच्छुप्ता-युक्त 'सोलस' सोलह 'विज्जादेवीउ' विद्यादेवियाँ 'संघस्स' श्रीसंघ को 'विउल' विपुल 'मंगल' कल्याण 'दितु' देवें ॥ १३ ॥

भावार्थ—विख्यात श्रुतदेवी तथा अच्छुप्ता से युक्त सोलह विद्या देवियाँ श्रीसंघ का विपुल कल्याण करें ॥ १३ ॥

* जिण-सासण-कय-रक्खा,
जक्खा चउवीस-सासण-सुरावि।
सुह-भावा संतावं,
तित्थस्स सया पणासंतु ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—'जिणसासणकयरक्खा' जिन्होंने जिनशासन की रक्षा की है ऐसे 'जक्खा' यक्ष 'वि' और 'सुहभावा' शुभ भाव वाले 'चउवीस' चौबीस 'सासणसुरा' शासनदेव 'तित्थस्स' श्रीसंघ के 'संताव' संताप को 'सया' हमेशा 'पणासंतु' नष्ट करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिनशासन की रक्षा करने वाले यक्ष लोग और शुभ भाव वाले चौबीस शासन-देव श्रीसंघ के संताप को निरन्तर दूर करें ॥ १४ ॥

† जिण-पवयणम्मि निरया,
विरया कुपहाउ सव्वहा सव्वे।

---

† अच्छुप्तासहिता विश्रुतश्रुतदेवतया समम् ॥ १३ ॥

* कृतजिनशासनरक्षा यक्षाश्चतुर्विंशति शासनसुरा अपि।
शुभभावा संतापं तीर्थस्य सदा प्रणाशयन्तु ॥ १४ ॥

† जिनप्रवचने निरता विरताः कुपथात् सर्वथा सर्वे।

*वेआवच्चकराविं अ,
तित्थस्स हवंतु संतिकरा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—'जिणपवयणम्मि' जिन धर्म में 'निरया' तल्लीन 'कुपहाउ' कुमार्ग से 'सव्वहा' सर्वथा 'विरया' विरत [ऐसे] 'सव्वे' सभी 'वेआवच्चकराविं' वैयावृत्य करने वाले भी 'तित्थस्स' श्रीसंघको 'संतिकरा' शान्ति पहुँचाने वाले 'हवंतु' हों ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैन धर्म में तल्लीन और कुमार्ग से सर्वथा विरत ऐसे सभी वैयावृत्यकारी लोग भी श्रीसंघ को शान्ति पहुँचाने वाले हों ॥१५॥

† जिण-समय-सिद्ध-सुमग्ग-
वहिअ-भव्वाण जणिअ-साहज्जो ।
गीअरई गीअजसो
स-परिवारो सुहं दिसउ ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—'जिणसमयसिद्धसुमग्गवहिअभव्वाण' जिन शास्त्र में निश्चित सुमार्ग में अवहित भव्यों को 'जणिअसाहज्जो' जिसने मदद की है, [वह] 'सपरिवारो' परिवार-युक्त 'गीअरई' गीतरति (और) 'गीअजसो' गीतयश 'सुहं' सुख 'दिसउ' दें ॥ १६ ॥

भावार्थ— न शास्त्रों में निर्णीत सुमार्ग में सावधान भव्य जीवों को जिन्होंने सहायता पहुँचाई है ऐसे गीतरति और गीतयश नामके व्यन्तर-देव अपने परिवार के साथ सुख दें ॥ १६ ॥

---

* वैयावृत्त्यकरा अपि च तीर्थस्य भवन्तु शान्तिकरा ॥ १५ ॥

† जिनसमयसिद्धसुमार्गावहितभव्यानां जनितसाहाय्यः ।
गीतरतिर्गीतयशाः सपरिवारः सुखं दिशतु ॥ १६ ॥

† गिह-गुत्त-खित्त-जल-थल-
वण-पव्वय-वासि-देव-देवीउ ।
जिण-सासण-ट्ठिश्राणं,
दुहाणि सव्वाणि निहणंतु ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—'गिह' घर, 'गुत्त' गोत्र, 'खित्त' क्षेत्र, 'जल' जल, 'थल' स्थल, 'वण' जगल, (और) 'पव्वय' पर्वत के 'वासि' निवासी 'देवदेवीउ' देव और देवियाँ 'जिणसासण' जिनधर्म में 'ट्ठिआण' स्थित लोगों के 'सव्वाणि' सब 'दुहाणि' दुःखों का 'निहणंतु' नाश करें ॥ १७ ॥

भावार्थ—घर में, गोत्र में, क्षेत्र में, जल में, थल में, वन में, और पर्वत में रहने वाले देव और देवियाँ जैन धर्म में स्थित लोगों के सब दुःखों का नाश करें ॥ १७ ॥

* दस दिसिपाला स-खित्त-
पालया नव ग्गहा स-नक्खत्ता ।
जोइणि-राहु-ग्गह-काल-
पास-कुलिअद्धपहरेहिं ॥ १८ ॥
सह कालकंटएहिं,
स-विट्ठि-वच्छेहिं काल-वेलाहिं ।
सव्वे सव्वत्थ सुहं,
दिसंतु सव्वस्स संघस्स ॥ १९ ॥

---

† गृहगोत्रक्षेत्रजलस्थलवनपर्वतवासिदेवदेव्यः ।
जिनशासनस्थितानां दुःखानि सर्वाणि निघ्नन्तु ॥ १७ ॥

* दश दिक्पालाः सक्षेत्रपाला नव ग्रहाः सनक्षत्राः ।
योगिनीराहुग्रहकालपाशकुलिकार्धप्रहरैः ॥ १८ ॥
सह कालकण्टकैः सविष्टिवत्सैः कालवेलाभिः ।
सर्वे सर्वत्र सुखं दिशन्तु सर्वस्य संघस्य ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—'जोइणि' योगिनी, 'राहुग्गह' राहु ग्रह 'कापास' कालपाशयोग 'कुलिअद्धपहरेहिं' कुलिक तथा अर्धप्रहर योगों के साथ, 'सविट्ठिवच्छेहिं' विष्टि तथा वत्स योगों से युक्त 'कालकंटएहिं' कालकंटक योग के [तथा] 'कालवेलाहिं' कालवेला के 'सह' साथ 'सक्खित्तपालया' क्षेत्रपाल-युक्त 'दस दिसिपाला' दशों दिक्पाल 'सनक्खत्ता' नक्षत्र-युक्त 'नव ग्गहा' नवों ग्रह 'सव्वे' (ये) सब 'सव्वस्स संघस्स' सकल श्रीसंघ को 'सव्वत्थ' सर्वत्र 'सुहं' सुख 'दिसंतु' दें ॥ १८-१९ ॥

भावार्थ—योगिनी, राहु, कालपाश, कुलिक, अर्धप्रहर, विष्टि, वत्स, कालकण्टक, कालवेला आदि योग, क्षेत्रपाल, दिक्पाल, नक्षत्र तथा नव ग्रह ये सब सकल श्रीसंघ को सर्वत्र सुख दें ॥ १८-१९ ॥

†भवणवइ-वाणमंतर-
जोइस-वेमाणिया य जे देवा ।
धरणिंद-सक्क-सहिआ,
दलंतु दुरिआइं तित्थस्स ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—'य' तथा 'धरणिंद' धरणेन्द्र (और) 'सक्क' इन्द्र से 'सहिआ' युक्त 'भवणवइ' भवनपति, 'वाणमंतर' वानव्यन्तर, 'जोइस' ज्योतिष्क (और) 'वेमाणिया' वैमानिक 'जे' जो 'देवा' देव-गण (हैं, वे) 'तित्थस्स' श्रीसंघ के 'दुरिआइं' पापों को 'दलंतु' विदीर्ण करें ॥ २० ॥

भावार्थ—धरणेन्द्र और सौधर्मेन्द्र के सहित भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष तथा वैमानिक देव-गण श्रीसंघ के पापों का नाश करें ॥ २० ॥

---

† भवनपतिवानव्यन्तरज्यौतिषवैमानिकाश्च ये देवाः ।
धरणेन्द्रशक्रसहिता दलयन्तु दुरितानि संघस्य ॥ २० ॥

* चक्कं जस्स जलंतं,

गच्छइ पुरओ पणासिअ-तमोहं ।

तं तित्थस्स भगवओ,

नमो नमो वद्धमाणस्स ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—'जस्स' जिसके 'पुरओ' आगे 'त' प्रसिद्ध 'पणासिअतमोह' अन्धकार-समूह का नाशक 'जलंत' चमकता 'चक्क' चक्र 'गच्छइ' चलता है [उस] 'भगवओ' भगवान् 'वद्धमाणस्स' महावीर के 'तित्थस्स' श्रीसंघ को 'नमो नमो' बार बार नमस्कार है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिसने अन्धकार समूह का नाश किया है ऐसा और देदीप्यमान प्रसिद्ध धर्मचक्र जिसके आगे २ चलता है उस भगवान् महावीर के तीर्थ को मेरा बार बार नमन है ॥ २१ ॥

† सो जयउ जिणो वीरो,

जस्सज्जवि सासणं जए जयइ ।

सिद्धि-पह-सासणं कुपह-

नासणं सव्व-भय-महणं ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—'सिद्धिपहसासण' मुक्ति-मार्ग का शासक 'कुपहनासण' कुमार्ग का नाशक (और) 'सव्वभय' सब भयों का 'महण' घातक (ऐसा) 'जस्स सासण' जिसका शासन, 'अज्जवि' आज तक 'जए' जगत् में 'जयइ' जय पा रहा है 'सो' उस 'जिणो वीरो' वीर भगवान् को 'जयउ' जय हो ॥ २२ ॥

---

* चक्रं यस्य ज्वलद् गच्छति पुरतः प्रणाशिततमओघम् ।
तत् तीर्थाय भगवतो नमो नमो वर्धमानस्य ॥ २१ ॥

† स जयतु जिनो वीरो यस्याद्यापि शासनं जगति जयति ।
सिद्धिपथशासनं कुपथनाशनं सर्वभयमथनम् ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिसका मुक्ति-मार्ग-प्रकाशक, कुमार्ग-विनाशक तथा सब भयों को दूर करने वाला शासन आज पर्यन्त जगत् में विजयी हो रहा है उन भगवान् महावीर की जय हो ॥ २२ ॥

+ सिरि-उसभसेण-पमुहा,
हय-भय-निवहा दिसंतु तित्थस्स ।
सव्व-जिणाणं गणहा-
रिणोऽणहं वंछिअं सव्वं ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—'हयभयनिवहा' जिन्होंने भय-समूह को मार भगाया है [ऐसे] 'सव्वजिणाणं' सब जिन भगवानों के 'सिरिउसभसेणपमुहा' श्रीऋषभसेन आदि 'गणहारिणो' गणधर-गण 'तित्थस्स' श्रीसंघ को 'सव्वं' सब 'अणहं' पवित्र 'वंछिअं' वाञ्छित 'दिसंतु' दें ॥ २३ ॥

भावार्थ—जिन्होंने भय मात्र को मार भगाया है ऐसे श्री ऋषभसेन आदि सब गणधर-देव श्रीसंघ के सब पवित्र अभिलाष को पूर्ण करें ॥ २३ ॥

* सिरि-वद्धमाण-तित्था-
हिवेण तित्थं समप्पिअं जस्स ।
सम्मं सुहम्म-सामी
दिसउ सुहं सयल-संघस्स ॥ २४ ॥

+ श्रीऋषभसेनप्रमुखा हतभयनिवहा दिशन्तु तीर्थस्य ।
सर्वजिनानां गणधारिणोऽनघं वाञ्छितं सर्वम् ॥ २३ ॥

* श्रीवर्धमानतीर्थाधिपेन तीर्थं समर्पितं यस्मै ।
सम्यक् सुधर्मस्वामी दिशतु सुखं सकलसंघस्य ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—'सिरिवद्धमाणतित्थाहिवेण' श्रीमहावीर तीर्थंकरने 'जस्स' जिसको 'तित्थ' तीर्थ 'समप्पिअ' सुप्रत किया (वह) 'सुहम्मसामी' श्रीसुधर्मा स्वामी 'सयलसंघस्स' सकल श्रीसंघ को 'सम्म' अच्छी तरह 'सुह' सुख 'दिसउ' दें ॥ २४ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने जिसको अपना तीर्थ सुप्रत किया—जिसको अपना उत्तराधिकारी बनाया—वह श्रीसुधर्मा स्वामी सकल श्रीसंघ का अच्छी तरह कल्याण करें ॥ २४ ॥

* पयईइ भद्दया जे,
भद्दाणि दिसंतु सयल-संघस्स ।
इयर-सुरावि हु सम्मं,
जिण-गणहर-कहिअ-कारिस्स ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'पयईइ' स्वभाव से 'भद्दया' भद्र [हैं, ऐसे] 'इयरसुरावि हु' अन्य देवता लोग भी 'जिणगणहर' जिनदेव तथा गणधरों के 'कहिअ' कथित [धर्म को] 'कारिस्स' करने वाले 'सयलसंघस्स' सकल श्रीसंघ को 'भद्दाणि' सुख 'दिसंतु' दें ॥२५॥

भावार्थ—पूर्वोक्त भिन्न अन्य भी देव गण जो प्रकृति से भद्र हैं वे जिनदेव तथा गणधरों के उपदेश के अनुसार चलने वाले सकल श्रीसंघ का कल्याण करें ॥ २५ ॥

† इअ जो पढइ ति संझं,
दुस्सज्झं तस्स नत्थि किंपि जए ।
जिणदत्ताणाय ठिओ
सुनिट्ठिअट्ठो सुही होइ ॥ २६ ॥

---

* प्रकृत्या भद्रा ये भद्राणि दिशन्तु सकलसंघस्य ।
इतरसुरा अपि सम्यग् जिनगणधरकथितकारिणः ॥ २५ ॥

† इति यः पठति त्रिसन्ध्यं दुःसाध्यं तस्य नास्ति किमपि जगति ।
जिनदत्ताज्ञायां स्थितः सुनिष्ठितार्थः सुखी भवति ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—'जिणदत्ताणाय' जिन भगवान् ने दी हुई आज्ञा में 'ठिओ' रहा हुआ 'जो' जो पुरुष 'इअ' इस प्रकार (इस स्तोत्र को) 'तिसंझं' तीनों काल 'पढइ' पढ़ता है 'तस्स' उसको 'जए' जगत् में 'किंचि' कुछ भी 'दुस्सज्झं' दुःसाध्य 'नत्थि' नही है [और वह] 'सुनिट्ठिअट्ठो' संपूर्ण किया है कार्य जिसने ऐसा होता हुआ 'सुही' सुखी 'होइ' होता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जिन-भगवान् की आज्ञा में रह कर जो मनुष्य इस स्तोत्र को पढ़ता है उसको जगत में कुछ भी दुःसाध्य नही है और वह अपने कार्य को अच्छी तरह पूर्ण करता हुआ सुखी होता है ॥ २६ ॥

॥ इति चतुर्थं स्मरणं समाप्तम् ॥

६०—अथ पंचमं गुरुपारतन्त्र्यस्मरणम् ।

* मय-र-हिअ गुण-गण-रयण-
सायरं सायरं पणमिऊणं ।
सुगुरु-जण-पारतंतं
उअहिव्व थुणामि तं चेव ॥१॥

अन्वयार्थ—'उअहिव्व' समुद्र को तरह 'मयरहिअं' मद से रहित (समुद्रपक्षे मगरों का उपकारी), 'गुणगणरयणसायरं' गुणों के समूह रूप रत्नों के सागर (समुद्रपक्षे गुण-समूह वाले रत्न और लक्ष्मी की खान) (ऐसे) 'सुगुरुजणपारतंतं' गुरु-लोगों के आम्नाय को 'सायरं' आदर-पूर्वक 'पणमिऊणं' नमन करके 'तं चेव' उसी की 'थुणामि' स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—समुद्र की तरह 'मयरहिअं' (पारतन्त्र्य पक्षे—मद से रहित और समुद्रपक्षे मगरों का उपकारी) तथा 'गुणगणरयणसायरं' (पारतन्त्र्यपक्षे गुणगण रूपी रत्नों का सागर, समुद्रपक्षे गुण-समूह

---

* मदरहितं (मकरहितं) गुणगणरत्न-सागरं (साकरं) सादरं प्रणम्य ।
सुगुरुजनपारतन्त्र्यमुदधिमिव स्तवीमि तदेव ॥ १ ॥

वाले रत्न और लक्ष्मी की खान) ऐसे उत्तम गुरु जनों के आम्नाय को आदर-पूर्वक प्रणाम करके मैं उसकी स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

† निम्महिअ-मोह-जोहा,
निहय-विरोहा पणट्ठ-संदेहा ।
पणयंगि-वग्ग-दाविय-
सुह-संदोहा सुगुण-गेहा ॥ २ ॥
पत्त-सुजइत्त-सोहा,
समत्थ-पर-तित्थ-जणिअ-संखोहा ।
पडिभग्ग-लोह-जोहा,
दंसिय-सुमहत्थ-सत्थोहा ॥ ३ ॥
परिहरिअ-सत्त-बाहा,
हय-दुह-दाहा सिवंब-तरु-साहा ।
संपाविअ-सुह-लाहा,
खीरोदहिणुव्व अग्गाहा ॥ ४ ॥
स-गुण-जण-जणिअ-पुज्जा,
सज्जो निरवज्ज-गहिअ-पव्वज्जा ।

---

† निर्मथितमोहयोधा निहतविरोधा प्रनष्टसंदेहा ।
प्रणताङ्गिवर्गदापितसुखसंदोहा सुगुणगेहाणि ॥ २ ॥
प्राप्तसुयतित्वशोभा समस्तपरतीर्थजनितसंक्षोभा ।
प्रतिभग्नलोभयोधा दर्शितसुमहार्थशास्त्रौघा ॥ ३ ॥
परिहृतसत्त्वबाधा हतदुःखदाहा शिवाम्रतरुशाखाः ।
सम्प्रापितसुखलाभा क्षीरोदधय इवागाधा ॥ ४ ॥
सगुणजनजनितपूजा सद्यो गृहीतनिरवद्यप्रव्रज्या ।

सिव-सुह-साहण-सज्जा,
भव-गुरु-गिरि-चूरणे वज्जा ॥ ५ ॥
अज्ज-सुहम्म-प्पमुहा,
गुण-गण-निवहा सुरिंद-विहिअ-महा।
ताण ति-संझं नामं,
नामं न पणासइ जियाणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'निम्महिअमोहजोहा' जिन्होंने मोह-रूप सुभट को नष्ट किया है, 'निहयविरोहा' जिन्होंने वैर को दूर किया है, 'पणट्ठसंदेहा' जिन्होंने संदेह का नाश किया है, 'पणयंगिवग्ग' भक्त जन-समूह को 'दावियसुहसंदोहा' जिन्होंने सुख-राशि दिलाया है, 'सुगुणगेहा' जो उत्तम गुणों के स्थान हैं, ॥ २ ॥ 'पत्तसुजइत्तसोहा' जिन्होंने उत्तम यतित्व की शोभा पायी है, 'समत्थ' सब 'परतित्थ' अन्य दर्शनी लोगों में 'जणिअसंखोहा' जिन्होंने खूब क्षोभ उत्पन्न किया है, 'पडिभग्गलोहजोहा' जिन्होंने लोभ-सुभट को नष्ट कर दिया है, 'दंसिअसुमहत्थसत्थोहा' जिन्होंने गंभीर अर्थ वाले शास्त्र-समूह बतलाये हैं, ॥ ३ ॥ 'परिहरिअसत्तवाहा' जिन्होंने प्राणि-मात्र को बाधा पहुँचाना छोड़ दिया है, 'हयदुहदाहा' जिन्होंने दुःख-संताप को मिटाया है, 'सिवंवतरुसाहा' जो मोक्ष-रूपी आम्र-वृक्ष की शाखा हैं, 'संपाविअसुहलाहा' जिन्होंने सुख का लाभ करवाया है, 'खीरोदहि-णुव्व अगाहा' जो क्षीरसमुद्र की तरह गंभीर हैं, ॥ ४ ॥ 'सगुणजण-जणिअपुज्जा' गुणी लोगों ने जिनकी पूजा की है, 'सज्जोनिरवज्जगहिअ-पव्वज्जा' जिन्होंने शीघ्र ही निष्पाप दीक्षा ली थी, 'सिवसुहसाहणसज्जा' जो मुक्ति-सुख की साधना में तय्यार हुए थे, 'भवगुरुगिरिचूरणे वज्जा'

शिवसुखसाधनसज्जा भवगुरुगिरिचूरणे वज्राः ॥ ५ ॥
आर्यसुधर्मप्रमुखा गुणगणनिवहाः सुरेन्द्रविहितमहाः ।
तेषां त्रिसन्ध्यं नाम नाऽशुभं न प्रणाशयति जीवानाम् ॥ ६ ॥

ससार-रूप महान् पर्वत को चूर्ण करने में जो वज्र के तुल्य हैं, ॥ ५ ॥ 'गुणगणनिवहा' जो गुण समूह को धारण करने वाले हैं, 'सुरिदवि-हिअमहा' इन्द्रोंने जिनका उत्सव मनाया है [ऐसे] 'अज्जसुहम्मप्पमुहा' जो आर्य सुधर्मस्वामी आदि आचार्य, 'ताण' उनका 'तिसंझ' तीनों सन्ध्याओं के समय (याद किया हुआ) 'नामं' नाम 'जियाणं' जीवों के 'आमं' रोग को 'न न पणासइ' नष्ट नहीं करता है ऐसा नहो है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन्होंने मोह-सुभट को मार भगाया है, जिन्होंने परस्पर के विरोध-वैर को मिटाया है, जिन्होंने जीवों के सदेह दूर किए हैं, भक्त जन-समूह को जिन्होंने अनेक सुख दिलवाए हैं, जो श्रेष्ठ गुणों के भण्डार हैं, जो श्रेष्ठ साधु थे, अन्यदर्शनी लोगों में जिन्होंने क्षोभ उत्पन्न कर दिया था, जिन्होंने लोभ योद्धा को मार भगाया है, गभीर अर्थ वाले शास्त्र जिन्होंने बनवाए हैं, जिन्होंने हिंसामात्र का त्याग किया है, जिन्होंने अपने और अन्य के दु ख मिटाये हैं, जो मोक्ष के एक अंग है, जिन्होंने प्राणियों को सुख पहुँचाया है, जो क्षीरसमुद्र को तरह गभीर हैं, गुणी लोगों ने जिनकी पूजा की है, जिन्होंने शीघ्र ही ससार को छोड कर निर्दोष दीक्षा ली थी, जो मुक्ति की साधना में सज्ज हुए थे, जैसे वज्र पर्वतों को चूर्ण कर देता है उसी तरह जिन्होंने संसार—भव-भ्रमण—का विनाश किया है अर्थात् मुक्ति पाई है, जो गुण-समूह को धारण करते हैं, इन्द्रों ने जिनका पूजोत्सव किया है ऐसे आर्य सुधर्मस्वामी आदि गणधर महाराजों का प्रात, मध्याह्न और सायङ्काल के समय याद किया हुआ नाम जीवों के रोगों का अवश्य ही नाश करता है ॥ २—६ ॥

* पडिवज्जिअ-जिण-देवो
देवायरिओ दुरंत-भव-हारी ।

* प्रतिपन्नजिनदेवो देवाचार्यो दुरन्तभवहारी ।

* सिरि-नेमिचंद-सूरी
उज्जोअण-सूरिणो सुगुरू ॥७॥

अन्वयार्थ—'पडिवज्जिअजिणदेवो' जिसने जिन भगवान् को देव-रूप से स्वीकार किया है ऐसा 'देवायरिओ' देवाचार्य, 'दुरन्त' दुष्ट परिणाम वाले 'भव' संसार के 'हारी' विनाशक 'सिरिनेमिचन्दसूरी' श्रीनेमिचन्द्र आचार्य [तथा] 'सुगुरू' उत्तम गुरु 'उज्जोअणसूरिणो' श्रीउद्द्योतनसूरी [विजयी हों] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान् को ही अपना इष्ट देव माना है ऐसे श्रीदेवाचार्य, दुरन्त संसार के विनाशक श्रीनेमिचन्द्रसूरि और गुरु-वर्य श्रीउद्द्योतनसूरि की जय हो ॥ ७ ॥

† सिरि-वद्धमाण-सूरी
पयडीकय-सूरि-मंत-माहप्पो ।
पडिहय-कसाय-पसरो
सरय-ससंकुव्व सुह-जणओ ॥८॥

अन्वयार्थ—'पयडीकयसूरिमंतमाहप्पो' जिसने सूरिमन्त्र का माहात्म्य प्रकट किया है, 'पडिहयकसायपसरो' जिसने कषायों के फैलाव को रोका है [और, जो] 'सरयससंकुव्व' शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह 'सुहजणओ' सुख का उत्पादक है [ऐसे] 'सिरिवद्धमाणसूरी' श्रीवर्धमानसूरि (की जय हो) ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिन्होंने सूरिमन्त्र के प्रभाव को प्रकट किया है, क्रोध आदि कषायों के वेग को जिन्होंने रोका है और जो शरद के चाँद की तरह आनन्द-दायक हैं ऐसे श्रीवर्धमानसूरिजी की जय हो ॥ ८ ॥

---

* श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्द्योतनसूरयः सुगुरवः ॥ ७ ॥

† श्रीवर्धमानसूरिः प्रकटीकृतसूरिमन्त्रमाहात्म्यः ।
प्रतिहतकषायप्रसरः शरच्छशांक इव सुखजनकः ॥ ८ ॥

† सुह-सील-चोर-चप्परण-
पच्चलो निच्चलो जिण-मयम्मि।
जुग-पवर-सुद्ध-सिद्धंत-
जाणओ पणय-सुगुण-जणो ॥६॥
पुरओ दुल्लह-महिव-
ल्लहस्स अणहिल्लवाडए पयडं।
मुक्का विआरिऊणं,
सीहेण व दव्व-लिंगि-गया ॥ १० ॥
दसमच्छेरय-निसि-वि-
प्फुरंत-सच्छंद-सूरि-मय-तिमिरं।
सूरेण व सूरि-जिणे-
सरेण हय-महिय-दोसेण ॥११॥

अन्वयार्थ—'सुहसील' शिथिलाचारी साधुरूप 'चोर' चोरों के 'चप्परण' निरास करने में 'पच्चलो' समर्थ, 'जिणमयम्मि' जैन धर्म में 'निच्चलो' निश्चल, 'जुगपवर' युगप्रधान (श्रीसुधर्म स्वामी) के 'सुद्ध' निर्दोष 'सिद्धंत' सिद्धान्तों का 'जाणओ' जानकार, 'पणयसुगुणजणो' गुणी जनों से नमस्कृत ॥ ६ ॥ 'अणहिल्लवाडए' अणहिल्लपुर पाटन में 'दुल्लहमहिवल्लहस्स' दुर्लभराज के 'पुरओ' आगे 'पयडं' खुली रीति से 'विआरिऊण' विचार कर के 'सीहेण व' सिंह की तरह

† सुखशीलचोरन्यक्करणसमर्थो निश्चलो जिनमते।
युगप्रवरशुद्धसिद्धान्तज्ञायकः प्रणतसुगुणजनः ॥ ६ ॥
पुरतो दुर्लभमहीवल्लभस्याणहिल्लपाटके प्रकटम्।
मुक्त्वा विचार्य सिंहेनेव द्रव्यलिङ्गिगजाः ॥ १० ॥
दशमाश्चर्यनिशाविस्फुरत्स्वच्छन्दसूरिमततिमिरम्।
सूरेणेव सूरिजिनेश्वरेण हतमहितदोषेण ॥ ११ ॥

जिसने 'दव्वलिंगिगया' भेषधारी साधु-रूप हाथिओं को 'मुक्का' (हरा कर ही) छोड़ा ॥ १० ॥ [तथा] 'अहिअदोसेण' जिनको दोष प्रिय नहीं हैं [ऐसे] 'सिरिजिणेसरेण' श्रीजिनेश्वरसूरिजी ने 'सूरेण व' सूर्य की तरह 'दसमच्छेरय' दशवें आश्चर्य रूप 'निसि' रात्रि में 'विप्फुरंत' चमकने वाले 'सच्छंदसूरि' स्वेच्छाचारी आचार्यों के 'मय' मत-रूप 'तिमिर' अन्धकार का 'हयं' नाश किया ॥ ११ ॥

भावार्थ—शिथिलाचारी साधुओं के खण्डन में समर्थ, जैन दर्शन में निश्चल, भगवान् सुधर्मस्वामी के सिद्धान्तों के जानकार, गुणी जनों से आदृत, तथा जिन्होंने गुजरात पाटन में राजा दुर्लभराज के समक्ष खुलमखुला शास्त्रार्थ करके शिथिलाचारी साधुओं को ऐसी बुरी तरह परास्त कर भगाया जैसे सिंह हाथिओं को मार भगाता है; तथा, जिनको दोष बिलकुल प्रिय नहीं हैं ऐसे श्रीजिनेश्वरसूरिजीने, जैसे सूर्य रात्रि के अंधकार को दूर करता है वैसे शिथिलाचारी स्वच्छन्द साधुओं के उस मत को दूर किया जो असंयत-पूजा रूप दशवें आश्चर्य से फैल रहा था ॥ ९-११ ॥

* सुकइत्त-पत्त-कित्ती,
पयडिय-गुत्ती पसंत-सुह-मुत्ती ।
पहय-पर-वाइ-दित्ती,
जिणचंद-जईसरो मंती ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—'सुकइत्त' श्रेष्ठ कवित्व से 'पत्तकित्ती' जिन्होंने कीर्त्ति प्राप्त की है, 'पयडिअगुत्ती' जिन्होंने मन आदि के संवरण को प्रकट किया है, 'पहयपरवाइदित्ती' अन्य वादिओं के तेज का जिन्होंने नाश किया है, 'मंती' जो मन्त्रों के जानकार थे [ऐसे] 'जिणचन्द-जईसरो' जिनचन्द्रसूरिजी (की जय हो) ॥ १२ ॥

---

* सुकवित्वप्राप्तकीर्तिः प्रकटितगुप्तिः प्रशान्तशुभमूर्तिः ।
प्रहतपरवादिदीप्तिर्जिनचन्द्रयतीश्वरो मन्त्री ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिन्होंने 'संवेगरंगशाला' आदि ग्रन्थों के निर्माण से सुकवित्व की कीर्त्ति प्राप्त की है, मन, वचन तथा काया की गुप्तिओं का जिन्होंने प्रकाश किया है, वादिओं के तेज को जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे सूरिमन्त्र आदि के जानकार श्री जिनचन्द्रसूरिजी की जय हो ॥१२॥

† पयडिअ-नवंग-सुत्तत्थ-
रयण-कोसो पणासिअ-प-ओसो।
भव-भीअ-भविअ-जण-मण-
कय-संतोसो विगय-दोसो ॥ १३ ॥
जुग-पवरागम-सार-
प्परूवणा-करण-बंधुरो धणिअं।
सिरि-अभयदेव-सूरी,
मुणि-पवरो पवर-पसम-धरो ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—'पयडिअनवंगसुत्तत्थरयणकोसो' जिन्होंने नव अंग ग्रन्थों के—सूत्रों के—अर्थ रूप रत्नों के कोष को प्रकट किया है, 'पणासिअपओसो' जिन्होंने प्रद्वेष का नाश किया है, 'भवभीअ' संसार से भीत 'भविअजण' भव्य जनों के 'मण' मन को 'कयसंतोसो' जिन्होंने संतोष उपजाया है, 'विगयदोसो' जो दोषों से रहित थे ॥ १३ ॥ [तथा, जो] 'जुगपवरागम' श्रीसुधर्मस्वामी के आगमों के 'सार' सार की 'परूवणाकरण' व्याख्या करने में 'बंधुरो' श्रेष्ठ, 'धणिअं' अतिशय 'मुणिपवरो' मुनि श्रेष्ठ, [तथा] 'पवरपसमधरो' श्रेष्ठ शान्ति के धारक [ऐसे] 'सिरिअभयदेवसूरी' श्रीअभयदेवसूरिजी (की जय हो) ॥१४॥

---

† प्रकटितनवाङ्गसूत्रार्थरत्नकोषः प्रणाशितप्रद्वेषः।
भवभीतभव्यजनमनःकृतसंतोषो विगतदोषः ॥ १३ ॥
युगप्रवरागमसारप्ररूपणाकरणबन्धुरो बाढम्।
श्रीअभयदेवसूरिर्मुनिप्रवरः प्रवरप्रशमधरः ॥ १४ ॥

भावार्थ—उन श्रीअभयदेवसूरिजी की जय हो जिन्होंने स्थानाङ्ग आदि नव आगमों के अर्थ रूपी रत्न-कोश को प्रकट किया है जिन्होंने द्वेष का नाश किया है, भव-भीरु भव्य जनों के मन जिन्होंने संतुष्ट किए हैं, जो दोष-रहित थे, जो भगवान् सुधर्मस्वामी के आगमों के सार की व्याख्या करने में अतिशय श्रेष्ठ, मुनिओं में उत्तम, तथा प्रवर प्रशम को धारण करने वाले थे ॥१३-१४॥

† कय-सावय-सत्तासो,
हरिव्व सारंग-भग्ग-संदेहो ।
गय-समय-दप्प-दलणो,
आसाइअ-पवर-कव्व-रसो ॥ १५ ॥
भीम-भव-काणणम्मि,
दंसिअ-गुरु-वयण-रयण-संदोहो ।
नीसेस-सत्त-गरुओ,
सूरी जिणवल्लहो जयइ ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—'कयसावयसत्तासो' जिन्होंने श्रावकों की सत्य आशाएँ पूर्ण की हैं (सिंहपक्षे—जिसने श्वापद जंतुओं को वास्तविक त्रास उपजाया है), 'सारंगभग्गसंदेहो' जिन्होंने उत्तम अंग-ग्रन्थों से संदेहों को भगाए हैं (सिंहपक्षे—जिसने हरिणों के सुन्दर देह को भाँग डाला है), 'गयसमयदप्पदलणो' भ्रष्ट सिद्धान्त वालों के दर्प को जो तोड़ने वाले थे, (सिंहपक्षे—मदोन्मत्त हाथिओं के अहङ्कार को जो चूरने

† कृतश्रावकसत्याशः (श्वापदसत्त्रासः),
हरिरिव सारांगभग्नसंदेहः (भग्नसारंगसंदेहः) ।
गतसमय(समदगज)दर्पदलनः,
आस्वादितप्रवरकाव्य(कव्य)रसः ॥ १५ ॥
भीमभवकानने, दर्शितगुरुवचनरचना (वदनरदन)संदोहः ।
निःशेषसत्त्वगुरुकः सूरिर्जिनवल्लभो जयति ॥ १६ ॥

वाला है), 'आसाइअपवरकव्वरसो' जिन्होंने श्रेष्ठ काव्य-रस का आस्वादन किया है (सिंहपक्षे— जिसने मांस के स्वाद को चख लिया है) ॥ १५ ॥ 'भीमभवकाणणम्मि' भयंकर संसार-रूपी जंगल में 'दंसिअगुरुवयणरयणसंदोहो' जिन्होंने गुरु के वचनों की रचनाओं का समूह दिखलाया है (सिंहपक्षे—जिसने अपने भारी मुँह में दाँतों का समूह दिखलाया है), 'नीसेससत्तगरुओ' जो सब जीव के गुरु हैं (सिंहपक्षे—जो सब पशुओं में बड़ा है), ऐसे 'हरिव्व' सिंह के समान 'सूरी जिणवल्लहो' श्रीजिनवल्लभसूरिजी की 'जयउ' जय हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—सिंह के तुल्य उन श्रीजिनवल्लभसूरिजी की जय हो जिन्होंने श्रावकों की सभी आकाङ्क्षा पूर्ण की है, जिन्होंने आचाराङ्ग आदि सूत्रों से शङ्काएँ दूर की हैं, जो अन्यदर्शनों के दर्प को चूरने वाले थे, जिन्होंने श्रेष्ठ काव्य-रस का आस्वादन किया था, जिन्होंने संसार-रूपी भयंकर जंगल में गुरु-वचन-रूपी रत्न-समूह दिखलाया है, तथा जो सब भव्यों के गुरु थे, [श्लेष से निकलता सिंह के पक्ष का अर्थ ऊपर अन्वयार्थ में ब्राकेट में लिखा जा चुका है] ॥ १५-१६ ॥

* उवरि-ट्ठिअ-सच्चरणो,
चउरणुओग-प्पहाण-संचरणो ।
असम-मय-राय-महणो,
उड्ढ-मुहो सहइ जस्स करो ॥ १७ ॥
दंसिअ-निम्मल-निच्चल-
दंत-गणोऽगणिअ-सावउत्थ-भओ ।

---

* उपरिस्थितसच्चरणश्चतुरनुयोगप्रधानसंचरणः ।
असममदराग(मृगराज)मथन ऊर्ध्वमुखो राजते यस्य करः ॥ १७ ॥
दर्शितनिर्मलनिश्चलदान्त (दन्त) गणोऽगणितश्रावको (श्वापदो)त्थभयः ।

† गुरु-गिरि-गरुओ सरहुव्व
सूरी जिणवल्लहो होत्था ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—'उवरिट्ठिअसच्चरणो' जिनका चारित्र ऊँचा है (अष्टापदपक्षे—जिसके पैर ऊर्ध्व देश में स्थित हैं), 'चउरणुओगप्पहाणसंचरणो' द्रव्यानुयोग आदि चारों अनुयोगों में जिनकी प्रधान प्रवृत्ति है (अष्टापदपक्षे—चार (पैर) के सम्बन्ध से जिसका चलना होता है), 'असममयरायमहणो' असाधारण गर्व और राग के नाश करने वाले (अष्टापदपक्षे—असाधारण मृगराज—सिंह के विनाशक), 'जस्स' जिसका 'करो' हाथ (व्याख्यान के समय) 'उड्ढमुहो' खड़ा हुआ 'सहइ' शोभता है (अष्टापद के पक्ष में जिसकी ऊँची की हुई सूँढ़ शोभती है), 'दंसिअनिम्मलनिच्चलदंतगणो' जिन्होंने अपने मुनि-समूह को निर्मल और निश्चल बतलाया हैं (किया है,) (अष्टापदपक्षे—जिसने अपने निर्मल और निश्चल दाँत दिखलाये हैं), 'अगणिअसावउत्थभओ' जिन्होंने श्रावकों के भय (अपेक्षा) की परवा नहीं की है (अष्टापदपक्षे—जिसने श्वापद जन्तुओं के भय को नहीं गिना है), 'गुरुगिरि-गरुओ' श्रेष्ठ वाणी में उत्कृष्ट (अष्टापदपक्षे—उन्नत पर्वत के समान ऊँचा) ऐसे 'सूरी जिणवल्लहो' जिनवल्लभसूरिजी 'सरहुव्व' शरभ अष्टापद-प्राणी के तुल्य 'होत्था' हुए ॥ १७-१८ ॥

भावार्थ—अष्टापद के तुल्य श्रीजिनवल्लभसूरिजी हुए, जिनका चारित्र—संयम अन्य आचार्यों की अपेक्षा उच्च था, द्रव्यानुयोग आदि चारों अनुयोगों में जिनकी प्रधान प्रवृत्ति थी, गर्व और राग का जिन्होंने संहार किया था, व्याख्यान के समय जिसका ऊँचा हाथ खूब शोभा देता था, जिनका शिष्य-वर्ग निर्मल और निश्चल था, जिन्होंने श्रावकों की कभी परवा नहीं की तथा जो उत्तम वाणी में महान् थे—श्रेष्ठ वक्ता थे। (अष्टापद पक्ष में श्लेष से निकलता अर्थ ऊपर ब्राकेट में लिखा जा चुका है) ॥ १७-१८ ॥

---

† गुरुगिरिगुरुकः शरभ इव सूरिर्जिनवल्लभोऽभूत् ॥ १८ ॥

† जुग-पवरागम-पीऊस-
पाण-पीणिअ-मणा कया भव्वा ।
जेण जिणवल्लहेणं,
गुरुणा तं सव्वहा वंदे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—'जेण' जिन 'जिणवल्लहेण गुरुणा' गुरू श्रीजिनवल्लभसूरिजी ने 'भव्वा' भव्य जीवों को 'जुगपवरागमपीऊसपाण' भगवान् सुधर्मस्वामी के आगमों के पीयूष-पान से 'पीणिअमणा' संतुष्ट मन वाले 'कया' बनाये, 'तं' उनको 'सव्वहा' सर्व प्रकार से 'वंदे' मैं वन्दन करता हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मैं उन गुरू श्रीजिनवल्लभसूरिजी को मन, वचन और काय से वन्दन करता हूँ जिन्होंने भगवान् सुधर्मस्वामी के आगमों के वचनामृत से भव्य जीवों को संतुष्ट किए ॥ १६ ॥

* विप्फुरिअ-पवर-पवयण-
सिरोमणी वूढ-दुव्वह-खमो य ।
जो सेसाणं सेसुव्व
सहइ सत्ताण ताणकरो ॥ २० ॥
सच्चरिआणमहीणं,
सुगुरूणं पारतंतमुव्वहइ ।

---

† युगप्रवरागमपीयूषपानप्रीणितमनसः कृता भव्याः ।
येन जिनवल्लभेन गुरुणा तं सर्वथा वन्दे ॥ १६ ॥

* विस्फुरितप्रवरप्रवचनशिरोमणिर्व्यूढदुर्वहक्षमश्च ।
यः शेषाणां शेष इव राजते सत्त्वानां त्राणकरः ॥ २० ॥
सच्चरितानामहीनं सुगुरूणां पारतन्त्र्यमुद्वहति ।

जयइ जिण-दत्त-सूरी,
सिरि-निलओ पणय-मुणि-तिलओ ॥२१॥

अन्वयार्थ—'विप्फुरिअपवरपवयण' जिनसे श्रेष्ठ सिद्धान्त स्फुरायमान हुए हैं ऐसे आचार्यों में 'सिरोमणी' चूड़ामणि के समान 'य' और 'जो' जो 'सेसुव्व' शेष नाग की तरह 'वूढदुव्वहखमो य' धारण किये हुए दुर्वह चारित्र के वहन करने में समर्थ, (शेष नाग--पक्षे—जिसने दुर्वह पृथिवी को धारण की है), (तथा) 'सेसाणं' बाकी के 'सत्ताण' जीवों के 'ताणकरो' रक्षक है, 'सच्चरिआणं' सुन्दर चारित्र वाले 'सुगुरूणं' उत्तम गुरुओं के 'अहीणं' संपूर्ण 'पारतंतं' आम्नाय को 'उव्वहइ' जो धारण करता है, 'सिरिनिलओ' जो शोभा-स्पद हैं, (तथा) 'पणयमुणितिलओ' जिनको श्रेष्ठ मुनिओं ने प्रणाम किया है (ऐसे) 'जिणदत्तसूरी' जिन भगवानों से वर्णित आचार्य को 'जयइ' जय हो ॥ २०-२१ ॥

भावार्थ—जिन भगवानों से वर्णित ज्ञानादि-गुण युक्त उन आचार्यो की जय हो जो श्रेष्ठ सिद्धान्त वाले मुनिओं के शिरोमणी हैं, शेष नाग जैसे पृथिवी के भार को धारण करता है वैसे जो संयम के दुर्वह बोझ के वहन करने में समर्थ हैं, अन्य जीवों के जो रक्षक हैं, जो सुन्दर चारित्र वाले प्राचीन महर्षिओं के संपूर्ण परतन्त्र हैं, जो शोभा के स्थान तथा श्रेष्ठ मुनिओं से नमस्कृत हैं (स्तुतिकारने अन्तिम काव्य में अपना 'जिनदत्तसूरि' नाम को भी सूचित किया है) ॥ २०-२१ ॥

॥ इति श्रीपंचमं स्मरणं समाप्तम् ॥

जयति जिनदत्तसूरिः श्रीनिलयः प्रणतमुनितिलकः ॥ २१ ॥

६१—अथ षष्ठं 'सिग्घमवहर' स्मरणम् ।

* सिग्घमवहरउ विग्घं,
जिण वीराणाणुगामि-संघस्स ।
सिरि-पास-जिणो थंभण-
पुर-ट्ठिओ निट्ठिआणिट्ठो ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'निट्ठिआणिट्ठो' जिसने अनिष्टों को खतम कर डाले हैं, [वह] 'थंभणपुर' स्तम्भनपुर में 'ट्ठिओ' रहा हुआ 'सिरि पासजिणो' श्रीपार्श्वप्रभु 'जिणवीराणाणुगामिसंघस्स' भगवान् वीर की आज्ञा के अनुयायी श्रीसंघ के 'विग्घं' विघ्न का 'सिग्घं' शीघ्र 'अवहरउ' नाश करें ॥ ॥

भावार्थ—स्तम्भनपुर में स्थित वह पार्श्वनाथ भगवान् जिसने अनिष्टों का अन्त कर दिया है, भगवान् महावीर की आज्ञा को मानने वाले श्रीसंघ के विघ्न को दूर करें ॥ ॥

† गोअम-सुहम्म-पमुहा,
गणवइणो विहिअ-भव्व-सत्त-सुहा ।
सिरि-वद्धमाण-जिण-तित्थ-
सुत्थयं ते कुणंतु सया ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'ते' वे 'गोअमसुहम्मपमुहा' गौतम, सुधर्म आदि 'गणहारिणो' गणधर-गण, जिन्होंने 'विहिअभव्वसत्तसुहा' भव्य जीवों को सुख उपजाया है, 'सया' हमेशा 'सिरिवद्धमाणजिणतित्थ' 'श्रीमहावीर भगवान् के तीर्थ को 'सुत्थयं' उपद्रव रहित 'कुणंतु' करें ॥२॥

---

* शीघ्रमपहरतु विघ्नं, जिनवीराज्ञानुगामिसंघस्य ।
श्रीपार्श्वजिन स्तम्भनपुरस्थितो निष्ठितानिष्टः ॥ १ ॥

† गौतमसुधर्मप्रमुखा गणधारिणो विहितभव्यसत्त्वसुखाः ।
श्रीवर्धमानजिनतीर्थसौस्थ्यं ते कुर्वन्तु सदा ॥ २ ॥

भावार्थ—जिन्होंने भव्य जीवों का कल्याण किया है वे श्रीगौतम स्वामी, सुधर्मस्वामी आदि गणधर महाराज भगवान् महावीर के श्रीसंघ को निरुपद्रव रक्खें ॥ २ ॥

† सक्काइणो सुरा जे,
जिण-वेयावच्च-कारिणो संति ।
अवहरिअ-विग्घ-संघा,
हवंतु ते संघ-संति-करा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'जिणवेयावच्चकारिणो' जिन भगवान् की भक्ति करने वाले [और] 'अवहरिअविग्घसंघा' जिन्होंने विघ्न-समूह का अपहरण किया है [ऐसे] 'जे' जो 'सक्काइणो' इन्द्र आदि 'सुरा' देवता 'संति' हैं 'ते' वे 'संघसंतिकरा' श्रीसंघ को शान्ति पहुँचाने वाले 'हवंतु' हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिनदेवों के भक्त जो इन्द्र आदि देव-गण हैं वे विघ्न-बाधाओं के नाश करते हुए श्रीसंघ को शान्ति पहुँचाने वाले हों ॥ ३ ॥

* सिरि-थंभणय-ट्ठिअ-पास-
सामि-पय-पउम-पणय-पाणीणं ।
निद्दलिअ-दुरिअ-वंदो
धरणिंदो हरउ दुरिआइं ॥ ४ ॥

---

† शक्रादयः सुरा ये जिनवैयावृत्त्यकारिणः सन्ति ।
अपहृतविघ्नसंघा भवन्तु ते संघशान्तिकराः ॥ ३ ॥

* श्रीस्तम्भनकस्थितपार्श्वस्वामिपदपद्मप्रणतप्राणिनाम् ।
निर्दलितदुरितवृन्दो धरणेन्द्रो हरतु दुरितानि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'निद्दलिअदुरिअवग्गो' जिसने दुरित-समूह का विनाश किया है वह 'धरणिंदो' धरणेन्द्र 'सिरिथंभणय' श्रीस्तम्भनक ग्राम में 'ट्ठिअ' रहे हुए 'पाससामि' पार्श्वनाथ भगवान् के 'पयपउम' चरण कमल में 'पणय' नमे हुए 'पाणीणं' जीवों के 'दुरिआइं' कष्टों का 'हरउ' नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिसने कष्ट-समूह का विनाश किया है वह श्री-धरणेन्द्र—नागराज उन लोगों के कष्टों का नाश करें जिन्होंने स्तम्भनक ग्राम में स्थित श्रीपार्श्वप्रभु के चरणों में वन्दन किया है ॥ ४ ॥

† गोमुह-पमुक्ख-जक्खा,
पडिहय-पडिवक्ख-पक्ख-लक्खा ते।
कय-सगुण-संघ रक्खा,
हवंतु संपत्त-सिव सुक्खा ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'पडिहयपडिवक्खपक्खलक्खा' जिन्होंने वैरियों के पक्ष के लक्ष्य का नाश किया है (और) 'संपत्तसिवसुक्खा' जिन्होंने कल्याण और सुख प्राप्त किये हैं 'ते' वे 'गोमुहपमुक्ख' गोमुख आदि 'जक्खा' यक्ष 'कयसगुणसंघरक्खा' गुणवान् श्रीसंघ की रक्षा करने वाले 'हवंतु' हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—वे गोमुख आदि शासन-देव, जिन्होंने दुश्मनों के पक्ष के लक्ष्य का निश्चल कर डाला है और जिन्होंने कल्याण तथा सुख को प्राप्त किया है, गुण-युक्त श्रीसंघ को रक्षा करने वाले हों ॥५॥

⊛ अप्पडिचक्का-पमुहा,
जिण-सासण-देवया य जण-पणया।

---

† गोमुखप्रमुखयक्षा प्रतिहतप्रतिपक्षपक्षलक्षास्ते।
कृतसगुणसंघरक्षा भवन्तु सम्प्राप्तशिवसौख्याः ॥ ५ ॥

⊛ अप्रतिचक्राप्रमुखा जिनशासनदेवताश्च जनप्रणताः।

सिद्धाइआ-समेया,

हवंतु संघस्स विग्घहरा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'य' तथा, 'जणपणया' मनुष्यों से नमस्कृत 'सिद्धाइआसमेआ' सिद्धायिका-युक्त 'अप्पडिचक्कापमुहा' अप्रतिचक्रा आदि 'जिणसासणदेवया' जिनशासनदेवता 'संघस्स' श्रीसंघ के 'विग्घ-हरा' विघ्नों के नाशक 'हवंतु' हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—तथा, मनुष्य-गण से नमस्कृत सिद्धायिका-सहित अप्रतिचक्रा आदि जैन शासन-देवियाँ श्रीसंघ के विघ्नों की नाशक हों ॥६॥

† सक्काएसा सच्चउर-

पुर-ट्ठिओ वद्धमाण जिण-भत्तो ।

सिरि-बंभसंति-जक्खो,

रक्खउ संघं पयत्तेण ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'सक्काएसा' इन्द्र की आज्ञा से 'सच्चउरपुरट्ठिओ' साचोर-नामक नगर में स्थित (और) 'वद्धमाणजिणभत्तो' भगवान् महावीर का भक्त (ऐसा) 'सिरिबंभसंतिजक्खो' श्रीब्रह्मशान्ति-नामक यक्ष 'संघं' श्रीसंघ की 'पयत्तेण' यत्न-पूर्वक 'रक्खउ' रक्षा करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—इन्द्र के हुकुम से साचोर नगर में रहा हुआ और भगवान् महावीर का भक्त श्रीब्रह्मशान्ति यक्ष यत्न-पूर्वक श्रीसंघ की रक्षा करें ॥ ७ ॥

सिद्धायिकासमेता भवन्तु संघस्य विघ्नहराः ॥ ६ ॥

† शक्रादेशात् सत्यपुरस्थितो वर्धमानजिनभक्तः

श्रीब्रह्मशान्तियक्षो रक्षतु संघं प्रयत्नेन ॥ ७ ॥

* खित्त-गुह-गुत्त-संताण-
देस-देवाहिदेवया ताओ ।
निव्वुइ-पुर-पहिआणं,
भव्वाण कुणंतु सुक्खाणि ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—'ताओ' वे 'खित्त' क्षेत्र, 'गुह' गुफा 'गुत्तसंताण' गोत्र संतान (तथा) 'देस' देश के 'देव' देवता (और) 'अहिदेवया' अधिष्ठात्री देवता 'निव्वुइपुरपहिआणं' मोक्ष नगर के पथिक 'भव्वाण' भव्यों का 'सुक्खाणि' कल्याण 'कुणंतु' करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो क्षेत्र, गुफा, गोत्र सतान और देश के सम्बन्धी तथा अधिष्ठायक देव हैं वे मुक्ति के लिये उद्यत भव्य जीवों का कल्याण करें ॥ ८ ॥

† चक्केसरि-चक्कधरा,
विहि-पह-रिउ-छिन्न-कंधरा धणिअं ।
सिव-सरणि-लग्ग-संघस्स,
सव्वहा हरउ विग्घाणि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—'चक्कधरा' चक्र को धारण करनेवाली (तथा) 'धणिअं' अच्छी तरह 'विहिपह' विधिमार्ग के 'रिउ' दुश्मनों के 'छिन्न-कंधरा' जिसने गर्दन उडा दी है (ऐसी) 'चक्केसरि' चक्रेश्वरी देवी 'सिवसरणि' मुक्ति मार्ग में 'लग्ग' लगे हुए 'संघस्स' श्रीसंघ की 'विग्घाणि' बाधाओं का 'सव्वहा' सर्व प्रकार से 'हरउ' नाश करें ॥ ९ ॥

---

* क्षेत्रगुहागोत्रसन्तानदेशदेवाधिदैवतास्ताः ।
निर्वृतिपुरपथिकानां भव्यानां कुर्वन्तु सौख्यानि ॥ ८ ॥

† चक्रधरा चक्रेश्वरी छिन्नविधिपथरिपुकन्धरा सम्यक् ।
शिवसरणिलग्नसंघस्य सर्वथा हरतु विघ्नानि ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिसने विधि-मार्ग के शत्रुओं का अच्छी तरह नाश किया है और जो चक्र को धारण करने वाली है ऐसी श्रीचक्रेश्वरी देवी मुक्ति के लिए उद्यत श्रीसंघ के विघ्नों का सर्व प्रकार से विनाश करे ॥ ९ ॥

† तित्थवई वद्धमाणो,
जिणेसरो संगत्र्रो सुसंघेण ।
जिणचंदोऽभयदेवो,
रक्खउ जिणवल्लहो पहू मं ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—'सुसंघेण' श्रेष्ठ श्रीसंघ से 'संगओ' युक्त 'तित्थवई' तीर्थ-नायक 'वद्धमाणो' श्रीवर्धमान सूरि, 'जिणेसरो' श्रीजिनेश्वर सूरि, 'जिणचन्दो' श्रीजिनचन्द्र सूरि 'अभयदेवो' श्रीअभयदेव सूरि 'जिणवल्लहो पहू' (तथा) भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरि 'मं' मेरी 'रक्खउ' रक्षा करे ॥ १० ॥

भावार्थ—श्रीसंघ के साथ तीर्थपति श्रीवर्धमानसूरिजी, श्रीजिनेश्वरसूरिजी, श्रीजिनचन्द्रसूरिजी, श्रीअभयदेवसूरिजी, तथा श्रीजिनवल्लभसूरिजी मेरी रक्षा करें ॥ १० ॥

※ सो जयउ वद्धमाणो,
जिणेसरो णेसरुव्व हय-तिमिरो ।
जिणचंदाभयदेवा,
पहुणो जिणवल्लहा जे य ॥ ११ ॥

---

† तीर्थपतिर्वर्धमानो जिनेश्वरः संगतः सुसंघेन ।
जिनचन्द्रोऽभयदेवो रक्षतु जिनवल्लभः प्रभुर्माम् ॥ १० ॥

※ स जयतु वर्धमानो जिनेश्वरः सूर्य इव हततिमिरः ।
जिनचन्द्राभयदेवाः प्रभवो जिनवल्लभा ये च ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—'हयतिमिरो' जिसने तिमिर का नाश किया है, 'सो' वह 'सन्वरुणे' सूर्य के समान 'वद्धमाणो' श्रीवर्धमानसूरिजी, 'जिणेसरो' श्रीजिनेश्वरसूरिजी, 'जे य' और जो 'जिणचंदाभयदेवा' श्रीजिनचन्द्रसूरिजी (तथा) श्रीअभयदेवसूरिजी (तथा) 'पहुणो जिणवल्लभो' भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिजी (हैं, उनकी) 'जयउ' जय हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—सूर्य जैसे अन्धकार का नाश करता है वैसे अज्ञान का नाश करने वाले श्रीवर्धमानसूरिजी, श्रीजिनेश्वरसूरिजी, श्रीजिनचन्द्रसूरिजी श्रीअभयदेवसूरिजी तथा श्रीजिनवल्लभसूरिजी की जय हो ॥ ११ ॥

*गुरु-जिणवल्लह-पाए-
अभयदेव-पहुत्त-दायगे वंदे ।
जिणचंद-जईसर-वद्ध-
माण-तित्थस्स वुड्ढि-कए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—'जिणचदजईसरवद्धमाणतित्थस्स' श्रीजिनचन्द्रसूरिजी तथा श्रीवर्धमानसूरिजी के तीर्थ की 'वुड्ढिकए' उन्नति के लिए 'अभयदेवपहुत्तदायगे' श्रीअभयदेवसूरिजी को प्रभुत्व देने वाले 'गुरु जिणवल्लहपाए' गुरु श्रीजिनवल्लभसूरिजी के चरणों को 'वंदे' मैं वन्दना करता हूँ ॥ १२ ॥

भावार्थ—श्रीजिनचन्द्रसूरिजी तथा श्रीवर्धमानसूरिजी के तीर्थ की उन्नति के लिए मैं श्रीअभयदेवसूरिजी को प्रभुत्व देने वाले (गुरु मानने-वाले) गुरु श्रीजिनवल्लभसूरिजी के चरणों में वन्दन करता हूँ । इस पद्य का यह दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि जिन भगवानों में चन्द्र के तुल्य भगवान महावीर के तीर्थ की उन्नति के लिये मैं अभय, देवपन और

* गुरुजिनवल्लभपादानभयदेवप्रभुत्वदायकान् वन्दे ।
जिनचन्द्रयतीश्वरवर्धमानतीर्थस्य वृद्धिकृते ॥ १२ ॥

प्रभुपन को देने वाले तथा गौरवान्वित ऐसे जिनेन्द्र भगवान के सुन्दर चरणों की वन्दना करता हूं ॥ १२ ॥

❀जिणदत्ताणं सम्मं
मन्नंति कुणंति जे य कारिंति ।
मणसा वयसा वउसा
जयंतु साहम्मिआ तेवि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'मनसा' मन से, 'वयसा' वचन से 'य' तथा 'वउसा' काया से 'सम्मं' अच्छी तरह 'जिणदत्ताणं' जिन भगवानने दी हुई आज्ञा को 'मन्नंति' मानते हैं (तथा) 'कुणंति' करते हैं और 'कारिंति' दूसरों से करवाते हैं, 'तेवि साहम्मिआ' वे साधर्मी भाई भी 'जयंतु' जय पाओ ॥ १३ ॥

भावार्थ—उन साधर्मिक भाई की भी जय हो जो मन, वचन और काया से जिनेन्द्र देव की आज्ञा को मानते हैं और आज्ञा के अनुसार चलते हैं, और अन्य लोगों को भी चलाते हैं ॥ १३ ॥

†जिण-दत्त-गुणे नाण-
इणो सया जे धरंति धारेंति ।
दंसिअ-सिअवाय-पए-
नमामि साहम्मिआ तेवि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'सया' हमेशा 'दंसिअसिअवायपए' जिन्होंने स्याद्वाद-मार्ग का दर्शन कराया है (ऐसे) 'जिणदत्तगुणे

❀ जिनदत्ताज्ञां सम्यग् मन्यन्ते कुर्वन्ति ये च कारयन्ति ।
मनसा वचसा वपुषा जयन्तु साधर्मिकास्तेऽपि ॥ १३ ॥

† जिनदत्तगुणान्ज्ञानादीन् सदा ये धरन्ति धारयन्ति ।
दर्शितस्याद्वादपदान् नमामि साधर्मिकांस्तानपि ॥ १४ ॥

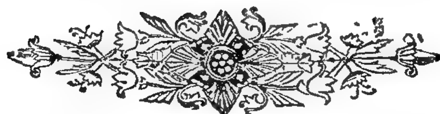
नाणाइणो' जिन भगवान के फरमाये हुए ज्ञान आदि गुणों को 'धरति' धारण करते हैं (और) 'धारे'ति' दूसरो को धारण करवाते हैं, 'तेवि साहम्मिआ' उन साधर्मी भाइयो को भी 'नमामि' मैं प्रणाम करता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिन भगवान के फरमाए हुए और स्याद्वाद-मार्ग को दिखलाने वाले ज्ञान आदि गुणों को जो सदा धारण करते हैं तथा दूसरो को धारण करवाते हैं उन साधर्मी भाइयों को भी मैं प्रणाम करता हूं ।॥ १४ ॥

॥ इति षष्ठं स्मरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

सातवाँ स्मरण 'श्रीउवसग्गहर' स्तोत्र है। वह पूर्व में सार्थ लिखा जा चुका है। वहासे जान लेना ॥ ७ ॥

॥ इति सप्त स्मरणानि समाप्तानि ॥



६२-अथ भक्तामर-स्तोत्रम् ।



भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्द्योतकं दलित-पाप-तमो-वितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा-
वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रणाम करते हुए भक्त देवताओं के मस्तक पर विराजमान मुकुट के मणियों की कान्ति का प्रकाशक, पापान्धकार के जाल को नष्ट करनेवाला, युग की आदि में संसार-सागर के जल में निमग्न मनुष्यों को आश्रय-प्रदान करने वाला जो जिनदेव का चरण-द्वय है उसको प्रणाम करके--॥१॥

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्-त्रितय-चित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण शास्त्रों के यथार्थ तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुई श्रेष्ठ बुद्धि से निपुण और स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्रादिकों ने तीनों लोकों के चित्त को हरनेवाले जिन उत्तम कोटि के स्तोत्रों से जिसकी स्तुति की है मैं भी उसी श्रीप्रथम जिनेन्द्र की स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित-पाद-पीठ,
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ? ॥ ३ ॥

अर्थ—देवताओं में जिनके चरण कमल का आसन पूजित है ऐसे हे जिन देव! मैं बिना ही अपने बुद्धि-वैभव के आपकी स्तुति करने को प्रवृत्त हो गया हूँ, अत लज्जाहीन हूँ, क्योंकि बाल अर्थात् कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य के ज्ञान से शून्य अत्यज्ञ शिशु को छोडकर और कौन ऐसा विचारशील पुरुष होगा कि जो जल में पडे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को बलात्कार से पकडने की इच्छा करता हो? ॥ ३ ॥

वक्तुं गुणान् गुण-समुद्र शशाङ्क-कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुर-गुरु-प्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्? ॥४॥

अर्थ—हे गुणसागर! बुद्धि में बृहस्पति के तुल्य भी चाहे कोई पुरुष क्यों न हो, तो भी चन्द्र समान उज्ज्वल अपरिमित आपके गुणों को वर्णन करने के लिये ऐसा कौन पुरुष है कि जो समर्थ हो? क्या कोई मनुष्य अपनी भुजाओं से प्रलय-कालीन प्रचण्ड पवन के वेग से उठे हुए नक्र (मगर नाकों) और तरगों के समूह से भयकर समुद्र को तैर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४ ॥

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश,
कर्त्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म-वीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्र
नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम्? ॥५॥

अर्थ—हे मुनि श्रेष्ठ! उसी प्रकार यद्यपि मैं भी,[आप को स्तुति करने रूप कार्य में] शक्ति विहीन हूँ तो भी भक्ति के वश से ही आपकी स्तुति करने को प्रवृत्त हुआ हूँ। क्या मृग अपने बल का विचार न कर प्रेम से अपने बच्चे की रक्षा के लिये सिंह के सम्मुख नहीं चला जाता है? ॥ ५ ॥

अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु-चूत-कलिका-निकरैक-हेतुः ॥६॥

अर्थ—शास्त्र के बड़े २ धुरन्धर विद्वानों में शास्त्र का अल्प ज्ञान रखने वाले अत एव हँसी के स्थान-भूत मुझको आपकी भक्ति ही बलात्कार से (स्तुति करने को) प्रवृत्त करती है। चैत्रमास अर्थात् वसन्त ऋतु में कोयल जो मधुर शब्द उच्चारण करती है इसमें केवल आम्र के वृक्षों की सुन्दर कलियों का समूह ही कारण है ॥६॥

त्वत्संस्तवेन भव-संतति-सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर-भाजाम्।
आक्रान्त-लोकमलि-नीलमशेषमाशु,
सूर्यांशु-भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

अर्थ—भव-परम्परा से एकत्रित हुए प्राणि-मात्र के पाप आपकी स्तुति से क्षण-मात्र में ही इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि संसार पर आक्रमण करने वाला, भौंराओं के समान नीला, रात्रि का समस्त अन्धकार सूर्य की किरणों से तत्क्षण क्षीण हो जाता है ॥७॥

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनु-धियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु,
मुक्ता-फल-द्युतिमुपैति ननूद-बिन्दुः ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! यह मान वा समझ कर ही अल्प बुद्धि वाला भी मैं आपके प्रभाव से इस स्तुति को आरम्भ करता हूँ। यह [स्तुति] अवश्य ही सज्जन पुरुषों के चित्त को अपनी तरफ खींचेगी।

जल की बूद भी कमल के पत्तों पर मोतियो की कान्ति को प्राप्त करती ही है ॥ ८ ॥

आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्-संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभेव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥९॥

अर्थ- —समस्त दोषों को दूर करने वाली आपकी यह स्तुति तो दूर रहो, किन्तु आपकी कथा भी संसार के पापों को नष्ट कर देती है। जैसे कि सूर्य यद्यपि (आकाश में) दूर होता है तथापि उसकी प्रभा ही सरोवरों में कमलों को खिला देती है ॥९॥

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण भूत-नाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्म-समं करोति ? ॥१०॥

अर्थ—हे भुवन शिरोमणे ! हे प्राणियों के नाथ ! यह कोई आश्चर्य नहीं कि भौतिक गुणों से स्तुति करते हुए प्राणी आपके तुल्य गुणशाली हो जाते हैं। अथवा, ऐसे मालिक का क्या काम, जो समृद्धि से अपने सेवक को अपने समान नहीं कर लेता है ? ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष-विलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशि-कर-द्युति-दुग्ध-सिन्धोः,
क्षारं जलं जल-निधेरशितुं क इच्छेत् ? ॥११॥

अर्थ—पलक न लगाने पूर्वक अर्थात् स्थिर दृष्टि से दर्शन करने योग्य आपको देखकर मनुष्य का यह नेत्र किसी और जगह सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि चंद्रमा की किरणों के तुल्य कान्तिवाले क्षीरसमुद्र के दुग्ध का पान करके खारी समुद्र के जल पीने की कौन इच्छा करे ? ॥११॥

यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललाम-भूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥१२॥

अर्थ—हे लोक-त्रय में उत्तम ! शान्ति-युक्त, स्नेह और कान्ति वाले जिन परमाणुओं से आप रचे गये हैं, बस पृथ्वी पर वैसे उतने वे ही परमाणु हो सकते हैं, कारण कि संसारमें आपके सदृश कोई दूसरा रूप दृष्टि-गत नहीं होता ॥ १२ ॥

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग-नेत्र-हारि,
निःशेष-निर्जित-जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्क-मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु-पलाश-कल्पम् ॥१३॥

अर्थ—देवता, मनुष्य और नागकुमार के नेत्रों को हरने वाला और जिसने तीनों लोकों में सब उपमाओं पर विजय पा लिया है ऐसा आपका मुख तो कहाँ ? और कलंक से मलिन चन्द्रमा का बिम्ब कहां जो कि दिन में ढाक के शुष्क पत्रों के तुल्य कान्ति-हीन हो जाता है ? ॥१३॥

सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क-कला-कलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रि-जगदीश्वर-नाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ? ॥१४॥

अर्थ—सम्पूर्ण चन्द्र-मण्डल की कला-समूह के तुल्य कान्ति युक्त भगवन्! आपके उज्ज्वल गुण तीनों लोकों को उल्लंघन करते हैं। जिन्होंने तीनों भुवनोंके स्वामी ऐसे आप आश्रय ले लिया है, अपनी इच्छानुसार भ्रमण करते हुए उन्हें कौन रोक सकता है? ॥ १४ ॥

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्? ॥१५॥

अर्थ—स्वर्गकी रमणियें (अप्सरायें) आपके चित्त को किंचिन्मात्र भी विषय-विकार के मार्ग में न ले जा सकीं तो इस में आश्चर्य ही क्या है? क्या कभी (साधारण) पर्वतों को कम्पायमान कर देनेवाले प्रलयकाल के वायु से मन्दराचल का शिखर चलायमान हुआ है? कदापि नहीं॥१५॥

निर्धूम-वर्त्तिरपवर्जित-तैल-पूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

अर्थ—बिना धुआ की बत्ती वाले, तेल के प्रवाह से रहित [अतएव अनिर्वचनीय दीपकरूप] आप इन समस्त लोकों को प्रकाशित करते हैं और पर्वतों को कँपाने वाले भी वायु जिसके पास कभी नहीं पहुंच सकते अर्थात् वायु आदि उपद्रव जिसके अमोघ प्रकाश को क्षीण नहीं कर सकते, जगत् के प्रकाशक ऐसे एक विलक्षण दीपक हे नाथ, आप हैं ॥ १६ ॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु-गम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।

नाम्भोधरोदर-निरुद्ध-महा-प्रभावः

सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

अर्थ—हे विभो ! आप कभी अस्त नहीं होते, न राहु आपके पास जा सकता है, बहुत शीघ्र एककाल में ही आप सब जगत् को प्रकाशित करते हैं और मेघों (बादलों) के भीतर भी आपका प्रबल प्रभाव रुका हुआ नहीं है। अतः हे मुनीन्द्र ! आपकी महिमा सूर्य के महत्त्व को भी परास्त करने वाली है ॥ १७ ॥

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,

गम्यं न राहु-वदनस्य न वारिदानाम् ।

विभ्राजते तव मुखाब्ज-मनल्प-कान्ति,

विद्योतयज्जगदपूर्व-शशाङ्क-बिम्बम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिसका उदय नित्य है, अज्ञान-रूप अन्धकार को नष्ट करने वाला, राहु के मुख की जहां पहुँच नहीं, मेघ (बादल) जिसको आच्छादित नहीं कर सकते, अल्प कान्ति वाला और जगत् को प्रकाशित करता हुआ अद्भुत चन्द्र-बिम्ब रूप आपका मुख-कमल अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ॥ १८ ॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,

युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ ।

निष्पन्न-शालि-वन-शालिनि जीव-लोके,

कार्यं कियज्जलधरैर्जल-भार-नम्रैः ? ॥ १९ ॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके मुख-रूप चन्द्रमा से ही अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रात्रि में चन्द्रमा और दिन में सूर्य्य से क्या प्रयोजन है ? यदि यह जीव-लोक स्वयं निष्पन्न (तैयार) हुए चावल आदि धान्य से युक्त वन-भूमि वाला होवे तो फिर जल के भार से नमे हुए मेघों से क्या कार्य है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १९ ॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥

अर्थ—अच्छे प्रकार फैला हुआ ज्ञान जैसा आप में प्रकाशित होता है वैसा हरि हरादि नायकों में नहीं, मणियों में चमकता हुआ तेज जैसा उच्च पद या शोभा पाता है वैसा किरणों से युक्त भी काच के टुकड़ा में नहीं ॥ २० ॥

मन्ये वरं हरि-हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

अर्थ—मैं हरि हरादि के अवलोकन (दर्शन) को अच्छा ही मानता हूँ क्योंकि जिनके देख लेने पर भी हृदय सन्तोष को प्राप्त आप ही में होता है। जिस भव्य पुरुष ने [वीतरागादि-गुण-युक्त] आपको एकवार अवलोकन कर लिया फिर उसके मनको जन्मान्तरमें भी कोई अन्य व्यक्ति आकर्षित करनेवाला नहीं ॥ २१ ॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशु-जालम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अनेक स्त्रियां सकड़ों पुत्रोंको उत्पन्न करती हैं, परन्तु किसी १ अन्य माता ने आपके समान कोई पुत्र उत्पन्न नहीं किया। यद्यपि सब

दिशायें नक्षत्रों [तारागणों] को धारण करती हैं तो भी चमकती हुई किरणों की पंक्तियों से युक्त सूर्य्य को पूर्व-दिशा ही जनती है ॥ २२ ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्य-वर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिव-पदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥२३॥

अर्थ—मुनि-लोग आपको परमोत्तम पुरुष, सूर्य के समान वर्ण वाला, मलरहित और अन्धकार से परे (दूर) वर्त्तमान वर्णन करते हैं और आपको ही अच्छे प्रकार प्राप्त होकर मृत्यु को जीतते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ ! (आप की प्राप्ति के अतिरिक्त) मोक्ष का और कोई दूसरा कल्याणकारी मार्ग है ही नहीं ॥ २३ ॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदित-योगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ २४ ॥

अर्थ—सज्जन पुरुष आपको नाशरहित, ज्ञान से सर्वत्र व्यापक, मनवाणीका अविषय, संख्या से रहित, सबका आदि, ब्रह्म, सर्व-सामर्थ्ययुक्त, अनन्त, कामदेव को जीतने वाले, योगियों के ईश्वर, योग को जानने वाले, अनेक तथा एक, ज्ञान-स्वरूप और निर्मल कहते हैं ॥२४॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय-शङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिव-मार्ग-विधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥ २५ ॥

अर्थ—देवताओं से पूजित बुद्धि के ज्ञान से युक्त होने के कारण आप

'बुद्ध' हैं तीनों लोकों का कल्याण करने से आप 'शङ्कर' हैं, हे धीर! सुखकारी मार्ग का विधान करने से आप 'धाता' और हे भगवन्! प्रकट रूपसे आप ही पुरुषोत्तम हैं ॥ २५ ॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्त्तिहराय नाथ,
तुभ्यं नमः क्षिति-तलामल-भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रि-जगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय ॥२६॥

अर्थ—हे नाथ! तीनों लोकों की पीडा का नाश करने वाले आपको नमस्कार है, पृथ्वी के निर्मल भूषण रूप आपको नमस्कार हैं, जगत्‌त्रय के परमेश्वर अर्थात् स्वामी आपको नमस्कार हैं और हे जिन! संसार या जन्म रूप समुद्र को सुखाने अर्थात् भव बन्धन से छुडाने वाले आपको नमस्कार है ॥ २६ ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रय-जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अर्थ—हे मुनीश! इसमें आश्चर्य ही क्या है कि आप निरन्तर सब गुणों के रहने के आधार हैं और ऐसे दोषोंने जो कि अभिमानादि अनेक अवगुणोंसे भरे हुए हैं, आपको कभी स्वप्न में भी नहीं देखा है अर्थात् आप निर्दोष हैं ॥ २७ ॥

उच्चैरशोक-तरु-संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमो-वितानं,
बिम्बं-रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्त्ति ॥२८॥

अर्थ—समवसरण में ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय वाला, ऊपर को चमकती हुई किरणों से युक्त और निर्मल आपका रूप, साफ़ साफ़ देदीप्यमान हैं किरण जिसकी और अन्धकार के परदेका जिसने नाश कर दिया है ऐसे समुद्र के समीप वर्तमान सूर्य बिम्ब के समान सर्वदा प्रकाशित रहता है ॥ २८ ॥

सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशु-लता-वितानं
तुङ्गोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः ॥ २९ ॥

अर्थ—मणि-किरणों की शिखा से विचित्र वर्ण के सिंहासन पर सुवर्ण के सदृश स्वच्छ आपका शरीर ऐसा शोभित होता है जैसे कि बड़े ऊँचे उदयगिरि के शिखर पर आकाश में चमकती हुई किरण-रूप लता (बेल) के जाल वाला सूर्य का बिम्ब ॥ २९ ॥

कुन्दावदात-चल-चामर-चारु-शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्क-शुचि-निर्झर-वारि-धार-
मुच्चैस्तटं सुर-गिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अर्थ—चमेली के समान शुभ्र तथा बीजते हुए चँवर से रमणीय और तपाये सुवर्ण के सदृश कमनीय आपका शरीर उदय होते हुए चन्द्रमा के तुल्य स्वच्छ झरनों के जल की धारा वाले और सुवर्ण से रचित मेरु पर्वत के ऊँचे तट के समान शोभायमान है ॥३०॥

छत्र-त्रयं तव विभाति शशाङ्क-कान्त-
मुच्चैः स्थितं-स्थगित-भानु-कर-प्रतापम् ।

मुक्ता-फल-प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—चन्द्र-तुल्य कान्तिवाला, उच्च होकर स्थित, सूर्य की किरणों को स्थगित (तिरस्कृत) करने वाले प्रताप से युक्त, मोतियों के समूह से जिसकी शोभा बढ़ी हुई है ऐसा आपका छत्र त्रय तीनों लोकों के अधिपतित्व को प्रकटित करता हुआ अति शोभित है ॥ ३१ ॥

उन्निद्र-हेम-नव-पङ्कज-पुञ्जकान्ति-
पर्युल्लसन्नख-मयूख-शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्त-
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! खिले हुए सुवर्ण के नवीन कमलों की कान्ति के सदृश चारों तरफ चमकती हुई नख-किरणों की शिखा से अतिसुन्दर अपने दोनों चरणों को जहाँ आप रखते हैं वहाँ देवता सुवर्ण कमल स्थापित करते हैं ॥ ३२ ॥

इत्थ यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र,
धर्मोपदेशन-विधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक्कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि ॥३३॥

अर्थ—हे जिनश्रेष्ठ ! धर्मोपदेश की विधि में आपको जैसी शोभा थी वैसी अन्य की नहीं—जैसे कि अन्धकार को नष्ट करने वाली जैसी सूर्य की प्रभा है वैसी प्रकाश युक्त भी और ग्रहों की कैसे हो सकती है ? ॥ ३३ ॥

श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोल-मूल-
मत्त-भ्रमद्-भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।

ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३४॥

अर्थ—चूते हुए मदसे मलिन तथा चञ्चल कपोलों के मूल (जड़)में उन्मत्त होकर घूमते हुए भ्रमरों के शब्द से अत्यन्त कोप वाला, और ऐरावत हस्ती के समान, आक्रमण करते हुए मत्त हस्ती को देखकर भी उन्हें कुछ भय नहीं होता जिन व्यक्तियोंने आपका आश्रय ले लिया है ॥३४॥

भिन्नेभ-कुम्भ-गलदुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ता-फल-प्रकर-भूषित-भूमि-भागः।
बद्ध-क्रमः क्रम-गतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते ॥३५॥

अर्थ—विदीर्ण किये हुए हस्ती के कपोल-स्थल से निकले उज्ज्वल रक्त से मिश्रित मोतियों के समूह से जिसने पृथ्वी के भाग को शोभायमान कर दिया है ऐसा और आपकी भक्ति के प्रभाव से जिसके पाँव बंध गए हैं वह मृगेन्द्र (सिंह) भी अपने पावों के नीचे आये हुए भी उस प्राणी पर आक्रमण नहीं कर सकता जिसने आपके चरण-द्वय रूप पर्वत का आश्रय ले लिया हो ॥ ३५ ॥

कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-वह्नि-कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्फुलिङ्गम् ।
विश्वंजिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्यशेषम् ॥३६॥

अर्थ—प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु-वेग से उत्पन्न भीषण अग्नि के तुल्य, उछ-लती हुई चिनगारियों वाले, चमचमाते और ससार को भस्मीभूत करने के इच्छुक के समान सन्मुख आते हुए प्रज्वलित दावानल को आपके नाम का स्मरण-रूप जल सर्वथा शान्त कर देता है ॥३६॥

रक्तेक्षणं समद-कोकिल-कंठ-नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतंतम्।
आक्रामति क्रम-युगेन निरस्त-शङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥३७॥

जिस मनुष्य के अन्त करण में सर्पों के दमन करने वाला आपका नाम विराजमान होता है वह नि शक हो कर लालवर्ण के नेत्रों वाले बड़े अभिमानी, कोयलके कण्ठ के समान नीले और क्रोधसे भरे उस सर्प को भी अपने दोनों चरणों से दमन कर देता है कि जो ऊपरको फण उठाये हुए [अपने ऊपर प्रहार करनेकी इच्छासे] आता हो ॥ ३७ ॥

वल्गत्तुरङ्गगज-गर्जित-भीम-नाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकर-मयूख-शिखाऽपविद्धं,
त्वत्कीर्तनात् तम इवाशु भिदामुपैति ॥३८॥

हे विभो ! आपके नाम कीर्तनसे सग्राममें बड़े बलिष्ठ भी भूपतियों की वह सेना कि जिस में उछलते कूदते वा हिनहिनाते हुए अश्व और गर्जते हुए हस्तियोंका भयंकर शब्द हो रहा हो इस प्रकार शीघ्र नाशको प्राप्त हो जाती है जैसे कि उदय होते हुए सूर्य की किरणोंका मारा हुआ अन्धकार छिन्न भिन्न हो जाता है ॥ ३८ ॥

कुन्ताग्र-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतार-तरणातुर-योध-भीमे।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा-
स्त्वत्पाद-पंकज-वनाश्रयिणो लभन्ते ॥३९॥

कुन्ते (भाला—बरछी) की नोक से विधे हुए हस्तियों के रुधिररूप

नदी के वेग में गिरकर तरने में व्याकुल हो गये हैं योद्धा जिसमें ऐसे भयंकर संग्राम में जिनको जीतना अशक्यय है ऐसे शत्रु पक्षके वीर-पुरुषों को जीत कर वे ही शूर विजय पा सकते हैं जिनको आपके चरण-कमल-रूप वन का आश्रय है ॥ ३९ ॥

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ-भयदोल्वण-वाडवाग्नौ ।
रंगत्तरङ्ग-शिखर-स्थित-यानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजंति ॥४०॥

क्षोभको प्राप्त हुए भयानक नगों (मगरों)के समूह-विस्तृत शरीर वालेमच्छ आदि जलजन्तुओं और भयके देनेवाले अतिप्रचण्ड-वाड़व नामक अग्नि से युक्त समुद्रमें उछलती हुई तरङ्गोंके ऊपर स्थित है नौकादि यान जिनका ऐसे पुरुष भी आपके स्मरणसे सब प्रकारके भयको छोड़ कर निःशङ्क गमन करते हैं अर्थात् पार हो जाते हैं ॥४० ॥

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार-भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताऽऽशाः ।
त्वत्पाद-पंकज-रजो-ऽमृत-दिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्य-रूपाः ॥४१॥

उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर नामक उदररोग के भारसे जो टेढ़े पड़ गये हैं, जिनकी शरीर दशा शोचनीये हो गई है और जीवनकी आशा भी निराशामें परिणत हो चुकी हो ऐसे (मरणासन्न) पुरुष भी आपके चरण-कमलका रजरूप अमृतके शरीर में लगानेसे कामदेव के तुल्य कमनीय रूपवाले हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

आपाद-कण्ठमुरु-शृङ्खल-वेष्टिताङ्गाः,
गाढं वृहन्निगड-कोटि-निघृष्ट-जंघाः ।

त्वन्नाम-मंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत-बन्ध-भया भवन्ति ॥४२॥

पावसे लेकर कण्ठ पर्यन्त जिनका शरीर बडी बडी बेडियों से लिपटा हुआ है और सख्त बधी हुई विशाल बेडियों की नोंक से जिनकी जघायें रगडी गई हैं ऐसे मनुष्य भी आपके नामोच्चारण रूप मन्त्रका निरन्तर स्मरण करते हुए शीघ्र और स्वत ही बन्धन के भय से मुक्त हो जाते हैं॥४२॥

मत्त-द्विपेंद्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बंधनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४३॥

जो बुद्धिमान् पुरुष आपके इस स्तोत्रको पढता है उसका उन्मत्त हस्ती, सिंह, वनका अग्नि, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलन्दररोग और कारागार आदिके बन्धसे उत्पन्न भय भी स्वय डरता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥४३॥

स्तोत्र-स्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कंठगतामजस्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मी ॥४४॥इति॥

हे जिनेन्द्र ! जो पुरुष इस ससारमें भक्ति से मेरी रची हुई आपकी स्तुतिरूप इस माला को जो कि आपके गुणों (सद्गुणरूप धागों) से बधी हुई और सुन्दर अक्षर रूप विचित्र पुष्पसे युक्त है, निरन्तर धारण करता है, उस मानतु ग सूरि इस ग्रन्थके रचयिता व सर्वोत्कृष्ट मानप्राप्त पुरुष] को विवश हुई लक्ष्मी स्वयं प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीभक्तामर स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

६३—अथ श्रीकल्याणमन्दिरस्तोत्रम् ।

कल्याण-मंदिरमुदारमवद्य-भेदि,
भीता-ऽभय-प्रदमनिंदितमङ्घ्रि-पद्मम् ।
संसार-सागर-निमज्जदशेष-जन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥

अर्थ-कल्याण के स्थान, अत्यन्त उदारशील, पापसमूहके नाशक, भयभीत प्राणियों को अभयके देने वाले, अतिश्रेष्ठ और संसारसमुद्र में डूबते हुए सब जीवों के उद्धारार्थ नौका के समान श्रीजिनदेव के चरणकमलको प्रणाम करके— ॥ १ ॥

यस्य स्वयं सुर-गुरुर्गरिमांबुराशेः,
स्तोत्रं सुविस्तृत-मतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय-धूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥२॥ युग्म॥

अर्थ-समुद्र के समान गम्भीर जिस श्रीजिनदेव की स्तुति करने को विशालबुद्धि, देवताओंका गुरु स्वयं वृहस्पति भी [जब] समर्थ नहीं है तो उस तीर्थंकर के जो कि कमठ दैत्यके अभिमान को भस्मीभूत करने के लिये धूमकेतु अर्थात् सपुच्छग्रह (पुच्छलतारा) रूप है उसकी यह [तुच्छ बुद्धि वाला] मैं क्या स्तुति कर सकूंगा ? ॥ २ ॥

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः? ।
धृष्टोऽपि कौशिक-शिशुर्यदि वा दिवाऽन्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्म-रश्मेः ॥३॥

अर्थ-हे स्वामिन् ? मुझ जैसे मन्दबुद्धि के पुरुष साधारण रूपसे भी आपके स्वरूपका वर्णन करनेके लिये भला किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? क्या दिनमें अन्धा होकर रहनेवाला विशेष प्रयत्न शील भी उलूक पोत (उल्लूका बच्चा) सूर्य के भी स्वरूपका कभी निरूपण कर सकता है ? कदापि नहीं ॥ ३ ॥

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्न-राशिः ॥४॥

अर्थ हे नाथ ! मोहक्षय से केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर आपके गुणों को अनुभव करता हुआ भी मनुष्य उनको गिनने के लिये कदापि समर्थ नहीं होता, जैसे कि कल्प के अन्त में फैला दिया है जल जिसने ऐसे समुद्र के प्रकट भी रत्नों के समूह [ढेर] की क्या कोई माप गणना कर सकता है ? ॥ ४ ॥

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि,
कर्त्तुं स्तवं लसदसंख्य-गुणाकरस्य ।
बालोऽपि किं न निज-बाहु-युगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधिया-ऽम्बुराशेः ॥५॥

अर्थ हे नाथ ! अल्पबुद्धि भी मैं, प्रकाशमानअनेक गुणों की खान आपकी स्तुति करने को इस प्रकार उद्यत [तैयार] हो गया हूं जैसेकि बालक अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर निज बुद्धि के अनुसार समुद्र के विस्तारका वर्णन करने लग जाता है कि [समुद्रका विस्तार इतना है]

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !,
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेयं,
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

अर्थ-हे ईश ! आपके जो अपरिमित गुण, योगिजनोंके वर्णन करने में भी नहीं आते तो फिर उनके कथन करनेको मुझे अवकाश कहां ? अर्थात् उनके वर्णन में मैं किस प्रकार कृतकार्य हो सकता हूं। अतः यद्यपि आप की स्तुति करने रूप मेरा यह कार्य अविचारपूर्वक करनेके समान ही है तथापि (यही विचारसे प्रवृत्त हुआ हूं कि] पक्षी भी तो अपनी बेलक्ष वाणीसे बोलते ही हैं ॥ ६ ॥

आस्तामचिंत्य-महिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्म-सरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥७॥

अर्थ-हे जिन ! मन और वाणी से न जान सकने योग्य है महिमा जिसकी ऐसी आपकी स्तुति तो दूर रही, आपका नाम ही भवभ्रमन मिटा देता है, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके प्रचण्ड आतप (धूप) से पीडित पथिकजनों को पद्मसरोवर के जलका तो कहना ही क्या है किन्तु उसका रसीला वायु भी आनन्दित कर देता है ॥ ७ ॥

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः ।
सद्यो भुजङ्गमया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

अर्थ—हे ईश ! जब आप मनुष्यके हृदयमें विराजमान हो जाते हैं तब उसके बड़े प्रबल भी कर्म बन्धन तत्यक्षण ही इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जैसे कि वनके मध्यभागमें वनमयूर के सम्मुख आजाने पर चन्दन-वृक्षके सर्पमय बन्धन शीघ्र ही शिथिल हो जाते हैं ॥ ८ ॥

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेंद्र !,
रौद्रै रुपद्रव-शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गो-स्वामिनि स्फुरित-तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशव. प्रपलायमानै. ॥ ९ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन मात्र से ही मनुष्य अतिभयकार सैकड़ों उपद्रवोंसे तत्काल ही इस प्रकार छूट जाते हैं कि जैसे प्रज्वलित तेज वाले गोस्वामी (गौ किरणोंका स्वामी) सूर्य, अथवा गौ (पृथ्वी) का स्वामी राजा वा गौ (धेनुओं) का स्वामी गोपाल (ग्वालिया) को देख कर भाग जानेवाले चोरोंके भयसे (चुराए हुए) पशु मुक्त हो जाते हैं ॥९॥

त्वं तारको जिन ! कथ भविनां त एव,
त्वामुद्वहंति हृदयेन यदुत्तरन्त. ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेप नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किला-ऽनुभाव. ॥१०॥

अर्थ—हे जिनदेव ! आप भव्य प्राणियोंके तारक कैसे हैं ? बल्कि वेहि आपको हृदयमें धारण करके ससार समुद्र तरते हुए आपको पार ले जाते हैं, क्योंकि नौकामें भीतर बैठे हुए पुरुषको नाव पार उतारती है न कि यह प्राणी नावको अथवा नहीं ? जैसे पवनसे भरी हुई दृति (चर्म निर्मित मशक) जलमें तरती है यह निश्चय उसके भीतर भरे हुए वायुका ही प्रभाव है न कि उस मशकका ॥ १० ॥

यस्मिन् हर-प्रभृतयोऽपि हत-प्रभावाः,
सोऽपि त्वया रति-पतिः क्षपितः क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन ? ॥११॥

अर्थ—महादेव आदि भी जिसके विषयमें शक्ति-हीन हो गये उस रतिके पति कामदेवको आपने क्षण मात्रमें नष्ट कर दिया। जिस जलने अग्नियोंको शान्त कर दिया था क्या उस (समुद्रस्थ) प्रचण्ड-वाडव नामक अग्निने जलका पान नहीं किया ? ॥ ११ ॥

स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यति-लाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपके शरणागत पुरुष अपरिमित परिमाण वाले भी आपको हृदयमें धारण करके बिना ही परिश्रम भवसमुद्रको अति शीघ्र कैसे तैरते हैं ? अथवा महान् पुरुषोंका प्रभाव ही अचिन्त्य है ॥ १२ ॥

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्म-चौराः ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नील-द्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ?॥१३॥

अर्थ—हे प्रभो ! जब कि आपने क्रोधको पहिले ही दूर कर दिया तब न मालुम कर्म-रूप चोरोंको किस प्रकार परास्त किया ? अथवा शीत-गुण-प्रधान भी हिम-समुह क्या हरे वृक्षों वाले वनों को भस्मीभूत नहीं कर देता है ? ॥ १३ ॥

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्म-रूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज-कोश-देशे।
पूतस्य निर्मल-रुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य संभवि पद ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

अर्थ—हे जिन ! योगि जन परमात्म रूप आप को सर्वदा हृदयरूपी कमल के कोश प्रदेश में अन्वेषण (तलाश) करते हैं, क्योंकि पवित्र और निर्मल कान्ति वाले अक्ष कर्णिका (कमलके बीज) प्रदेश अर्थात् मध्य-भाग को छोड़कर और कौनसा स्थान हो सकता है? ॥ १४ ॥

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविन क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपल-भावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातु-भेदाः ॥१५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! ससार स्थ प्राणि वर्ग आप के ध्यान से शरीर का परित्याग कर क्षण मात्र मे ही परमात्म-दशा को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि ससार में (मृत्पाषाणादि) धातुएं तीव्र अग्नि के सम्पर्क से पाषाणपन को दूरकर तत्क्षण ही सुवर्णपन को प्राप्त हो जाती हैं ॥ १५ ॥

अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्-स्वरूपमथ मध्य-विवर्त्तिनो हि,
यद्विग्रह प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥१६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! भव्य जन अपने जिस शरीर के मध्य-भाग अर्थात् हृदय-प्रदेश में आप का अन्वेषण करते हैं आप उन के उसी शरीर को दूर कर देते हैं, सो क्यों? पक्षपात रहित मध्यस्थ महान् पुरुषों का यह स्वभाव ही होता है कि वे आश्रित जनों के विग्रह [शरीर और जीव क्लेश] को दूर कर ही दिया करते हैं ॥ १६ ॥

आत्मा मनीषिभिरयं त्वद्-भेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्-प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विष-विकारमपाकरोति ? ॥१७॥

अर्थ—हे जिनदेव ! इस लोक में आप को अभेद-बुद्धि से ध्याते हुए विद्वानों का आत्मा आपही के सदृश प्रभावशाली हो जाता है। जैसे कि मणि वा मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल क्या अमृत के समान विष-जन्य विकारको दूर नहीं कर देता है ? अर्थात् अवश्य कर देता है ॥ १७ ॥

त्वामेव वीत-तमसं पर-वादिनोऽपि,
नूनं विभो हरि-हरादि-धिया प्रपन्नाः ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो,
नो गृह्यते विविध-वर्ण-विपर्ययेण ॥१८॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके अतिरिक्त अन्य [विष्णु आदि] को ईश्वर बतलाने वाले पुरुष भी हरि [विष्णु] हर (महादेव) आदिकी बुद्धि से पूजनादि करते हुए मोह-रहित आपकी ही शरण में आते हैं। कमलवात (जिसमें नेत्र पीत-वर्ण के हो जाते हैं) रोग से युक्त मनुष्य को श्वेत वर्ण का शंख भी नील-पीतादि वर्ण का प्रतीत नहीं होता है ? ॥ १८ ॥

धर्मोपदेश-समये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः ।
अभ्युद्गते दिनपतौ स-महीरुहोऽपि,
किंवा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ? ॥१९॥

अर्थ--हे स्वामिन् ! धर्मोपदेश के समय आपके सामीप्य से चेतना-सहित मनुष्य का शोक-रहित होना तो दूर रहा, किन्तु अचेतन वृक्ष भी आपके आश्रय से "अशोक" हो जाता है, यह कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि सूर्योदय

होने पर क्या यह जीवलोक अचेतन वृक्षों के सहित ही प्रकाश को प्राप्त नहीं होता है ?॥ १६ ॥

चित्रं विभो कथमवाङ्मुख-वृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरला-सुर-पुष्प-वृष्टिः ।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश,
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२०॥

अर्थ—हे प्रभो ! देवताओं द्वारा की हुई सुमन (पुष्पों) की वर्षा, नीचे को है वृन्त=बन्धन अर्थात् डंठल जिसका ऐसी होती है अर्थात् आपके सामने आने से सुमन=पुष्पों का बन्धन नीचा पडता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि आपके सन्मुख आये सुमन शोभन चित्त वाले-सत्पुरुषों या देवताओं के (कर्मरूप भीतर के और शृंखलादि रूप बाहर के एवं दोनों प्रकार के) बन्धन अधोमुख हो ही जाते हैं ॥ २० ॥

स्थाने गभीर-हृदयोदधि-संभवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति ।
पीत्वा यतः परम-सम्मद-सङ्गभाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

अर्थ—हे विभो ! विद्वान पुरुष हृदय रूप गम्भीर समुद्र से उत्पन्न हुए आपके वचनों को अमृतमय करते हैं, यह उचित ही है, क्योंकि भव्य पुरुष अपने श्रवणपुट से जिन (वचनों)का पान कर, वृद्धावस्था और जन्म मरण के दुःख से दूर हो, शीघ्र ही सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि-पुंगवाय,

ते नूनमूर्ध्व-गतयः खलु शुद्ध-भावाः ॥२२॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! मैं ऐसी संभावना करता हूँ कि अतिनिर्मल देवताओं का चंवर प्रथम अतिनम्र हो नीचे को झुककर और फिर ऊपर आकाश को चढ़ता हुआ यह सूचित करता है कि जो मनुष्य इस मुनि-श्रेष्ठ को वन्दना करते हैं वे निस्सन्देह शुद्धान्तःकरण हो,उच्च गति को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

श्यामं गभीर-गिरमुज्ज्वल-हेम-रत्न,
सिंहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

अर्थ--हे प्रभो ! सज्जन पुरुष-रूपी मयूर नील-वर्ण से युक्त गम्भीर वाणी वाले और देदीप्यमान सुवर्ण-जडित रत्नों के सिंहासन पर विराजमान आपको सहर्ष इस प्रकार अवलोकन करते हैं। जैसे मयूर कनकाचल के शिखर पर उच्चस्वरसे गर्जते हुए नवीन मेघ को देखते हैं ॥२३॥

उद्गच्छता तव शिति-द्युति-मण्डलेन,
लुप्त-च्छद-च्छविरशोक-तरुर्बभूव ।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ? ॥२४॥

अर्थ—हे वीतराग ! ऊपर को जाती वा फैलती हुई आपकी श्वेत वर्णकी कान्ती के मण्डल से जब कि अचेतन अशोक वृक्ष भी पत्तों के राग (रंग) से विहीन हो गया तब आप के समीप रहने से ऐसा कौन सचेतन पुरुष है कि जो वीतरागपन (रागरहितर) को प्राप्त न हो जाय ? ॥ २४ ॥

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृति-पुरीं प्रति सार्थवाहम् ।

एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुर-दुन्दुभिस्ते ॥२५॥

अर्थ—हे देव ! मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ कि आकाश में व्याप्त सब तरफ शब्द करता हुआ देवताओं का दुन्दुभि अर्थात् नगाड़ा तीनों जगत् के लिये यह निवेदन करता है कि हे मनुष्यों ! तुम असावधानी, आलस्य या अज्ञान को दूर करके और (श्रीपार्श्वनाथ की शरण में) आकर मोक्ष-मार्ग को पहुँचाने वाले पार्श्वनाथस्वामी की सेवा करो ॥ २५ ॥

उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ,
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः ।
मुक्ता-कलाप-कलितोच्छ्वसितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृत-तनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके प्रकाश से ही तीनों लोकों के प्रकाशित हो जाने के कारण अपने लोक प्रकाशन-रूप अधिकार के दूर हो जाने से तारागण के सहित यह चन्द्रमा ही मोतियों के समूह से जटित एवं शोभायमान तीन छत्रों के मिष से तीन प्रकार का रूप धारण कर आपकी सेवा के लिये आ गया है, अर्थात् हे स्वामिन् ! आपके ऊपर जो ये तीन छत्र हैं, वास्तव में ये छत्र नहीं, किन्तु छत्र के मिष से आपकी सेवार्थ मानो तारागण के सहित चन्द्रमा ही आ गया है ॥ २६ ॥

स्वेन प्रपूरित-जगत्-त्रय-पिण्डितेन,
कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन ।
माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन,
साल-त्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥

अर्थ—हे भगवन् ! तीनों लोकों में फैल जाने अतएव स्थानाभाव के कारण पिंड रूप बने हुए, अपनी ही कान्ति, प्रताप और कीर्ति के सञ्चय से

मानो बने हों ऐसे चारों ओर स्थित नीलमणि, सुवर्ण और चाँदी के तीनों दुर्गों से आप अत्यन्त शोभायमान हैं ॥ २७ ॥

दिव्यस्रजो जिन नमत्-त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्न-रचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

अर्थ—हे जिन ! दिव्य पुष्पों को मालायें प्रणाम करते हुए देवताओं के उन मस्तक-बन्धनों को जो कि रत्न,वैडूर्य आदि मणियों से रचित हैं,छोड़ कर आपके चरणोंका आश्रय लेती हैं, यह युक्त ही है, क्योंकि सुमनस पुष्प शोभन मन वाले विद्वान् वा देवता) आपका संगम (मिलाप) हो जाने पर अन्यत्र सन्तोष को प्राप्त नहीं होते ॥ २८ ॥

त्वं नाथ जन्म-जलधेर्विपराङ्मुखोऽपि,
यत्तारयस्यसुमतो निज-पृष्ठ-लग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो यदसि कर्म-विपाक-शून्यः ॥२९॥

अर्थ—हे नाथ ! आप जन्म-रूप संसार-समुद्र से पराङ् मुख(प्रतिकूल) होते हुए भी आपकी पीठके आश्रय वाले भक्त जनों को पार कर देतेहैं, पृथिवी के अधिपति होने के कारण जीवों का निरन्तर पालन करना रूप यह आपका कर्म युक्त ही है ; क्योंकि जैसे पृथ्वी का विकार मिट्टीसे उत्पन्न हुआ और जल में नीचे को मुख कर रक्खा हुआ निप (घड़ा) भी अपनी पृष्ठ पर स्थित पुरुष को पार कर देता है । परन्तु आप और घड़े मे इतना अन्तर है कि आप ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के विपाक से शून्य हैं और घट अग्नि में पकाने रूप कर्म से युक्त है । यदि घट अग्नि में न पकाया जाय तो जल में जाते ही अन्य का उद्धार करना तो दूर रहा वह अपनी सत्ता को भी खो बैठे, परन्तु आप कर्मों से रहित होनेसे पृथक् रहते हुए भी पार कर देते हैं यह आश्चर्य है ॥ २९॥

विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक-दुर्गतस्त्वं;
किं वाऽक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व-विकाश-हेतुः ॥३०॥

हे लोक पालक! आप समस्त संसार के ईश्वर होते हुए भी दुर्गत दरिद्र (पक्षान्तर में कठिनता से प्राप्त) हैं। हे ईश! अक्षर (शब्द-रूप या कभी क्षयमान न होने वाली) प्रकृति से युक्त भी आप निर्लेप(रागादि से शून्य पक्षान्तर में वर्णलिपि से रहित) हैं और अज्ञानवान् (पक्षान्तर में अज्ञोंकी रक्षा करने वाले) होने पर भी आप में ससारके प्रकाशन का कारणभूत ज्ञान किस प्रकार चमकता है, अर्थात् आपके अघटन घटनारूप ये कर्म अत्याश्चर्य-जनक हैं॥ ३०॥

प्राग्भार-संभृत-नभांसि रजांसिरोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

अर्थ—हे नाथ! मूर्ख कमठ नामक असुर ने क्रोध पूर्वक जिन धूलियों को, जो कि अधिकता के कारण समस्त आकाश में भरी हुई थीं, आप के ऊपर फेंका था, उनसे आपके परास्त होने विषयक बात तो दूर रही, किन्तु आप के शरीर की छाया भी कान्ति-हीन न हुई और विपरीत इसके इन धूलियों से हताश हुआ वह दुष्टात्मा स्वयं ही आपद्ग्रस्त हो गया अर्थात् दु:ख को प्राप्त हुआ॥ ३१॥

यद् गर्जदूर्जित-घनौघमदभ्र-भीमं
भ्रश्यत्-तडिन्-मुसल-मांसल-घोर-धारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर-वारि दध्रे,
तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारिकृत्यम् ॥३२॥

अर्थ—हे जिन ! कमठनामधारी दैत्य गर्जते हुए मेघों का है समूह जिसमें, अतिभयानक, जिसमें आकाशसे विजली पड़ती हुई है, स्थूल मुसलके समान जलकी धार वाले और जिसका तरना अत्यन्त कठिन था ऐसे जल की वर्षा जो कि आपके ऊपर की थी, वह उसीके लिये भयंकर तरवार का कार्य हो गया, अर्थात् आपके ऊपर किये इस भयंकर जल-प्रयोग से उसका ही नाश हुआ ॥ ३२ ॥

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,
सोऽस्याभवत्प्रतिभवंभवदुःखहेतुः ॥३३॥

अर्थ—विकराल है आकृति जिनकी ऐसे मनुष्यों के मुंड़े हुए सिरों की लम्बी-लम्बी मालाओं को धारण करने वाले और जिन के डरावने मुख से अग्नि निकल रही है ऐसे जो पिशाचों के समूह जिस असुरने आप के प्रति दौड़ाये वे सब ही उसी दुष्ट असुर को हर एक भव में सांसारिक दुःख के कारण हुए ॥३३॥

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः,
पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ स्वामिन् ! संसारमें भक्तिसे जिसके रोम और पलक पुलकित हो रहे हैं, ऐसे जो प्राणी संसार सम्बन्धी अन्य सम्पूर्ण कार्यों को छोड़कर विधि-पूर्वक आपके दोनों चरणोंकी प्रभात, दोपहर और सायंकालको आराधना करते हैं, वे ही धन्य हैं ॥ ३४ ॥

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनिश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमंत्रे,
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र ! मुझे विश्वास है कि जन्मान्तरमें इस अपार संसारमें आप मेरे कर्णगोचर नहीं हुए हो, क्योंकि यदि आपका पवित्र नामरूपी मंत्र मैंने सुना होता तो आपत्तिरूपी नागिन क्या समीप आ जाती ? ॥ ३५ ॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे देव ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि पहिले भवोंमें मैंने मनो वाछित फल देनेको समर्थ ऐसे आपके चरण युगल नहीं पूजे, उसीसे इस भवमें हे मुनीश ! मैं हृदयभेदी तिरस्कारोंका घर बना हुआ हूँ ॥३६॥

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे प्रभु ! मोहान्धकारसे ढके हुए हैं नेत्र जिसके ऐसे मैंने पहिले कभी निश्चयसे एकबार भी आपके दर्शन नहीं किये। नहीं तो जिसकी प्रबन्धगति अतिशय बलवती है, ऐसे ये हृदयभेदी अनर्थ अर्थात् पाप कर्म मुझे क्यों सताते ? ॥ ३७ ॥

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८॥

अर्थ—हे जगद्बन्धु ! यदि मैंने आपका नाम सुना भी हो, आपकी पूजन भी की हो तथा आपके दर्शन भी किये हों; किन्तु यह निश्चय है, कि मैंने भक्तिसे चित्तमें आपको धारण नहीं किया, उसीसे मैं दुःखभाजन हो रहा हूं; क्योंकि भावरहित क्रियाएं फलवतीं नहीं होतीं ॥३८॥

त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य !
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य ।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे नाथ ! हे शरणागत दुखियोंपर प्यार करनेवाले ! हे परम करुणानिधान ! हे योगीन्द्र तथा हे महेश्वर ! भक्तिसे नम्रीभूत मुझ पर दया करके मेरे दुःखाङ्कुर नाश करनेमें आप तत्पर हूजिये ॥ ३९ ॥

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदातम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥

अर्थ—हे तीन लोकको पवित्र करनेवाले ! जिनके कोई सखा या बन्धु नहीं है, उनको पूर्ण-रूपसे आश्रय देनेवाले, रक्षण करने वाले, शरणागतोंका प्रतिपालन करनेवाले और अष्टकर्म-रूपी शत्रुओंको नष्ट करके अपनी कीर्ति प्रख्यात करनेवाले, आपके चरण-कमलोंको पाकर भी उन चरणोंमें जो मैंने अपने मनकी सावधानी न की अर्थात् उनका ध्यान

न किया अत, हे महाराज ! मैं अभागा फल हीन हूं और हाय मैं हत हूं अर्थात् कर्मों द्वारा मेरी चेतना नष्ट की गई है ॥ ४० ॥

देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार,
संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ।
त्रायस्व देव करुणाह्रद मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१ ॥

अर्थ—देवों करके वन्दनीक, सब पदार्थोंके तत्व जाननेवाले, ससारसे उद्धार करनेवाले, हे प्रभु अर्थात् ज्ञानापेक्षा सर्वत्र व्यापक हे त्रिलोकीनाथ ! हे दयालरोवर ! हे देव ! आज मुझ दुखियाको रक्षा करो । भयकर दु ख सागरसे मुझे बचाओ ॥ ४१ ॥

यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥

अर्थ—हे नाथ ! केवल आपही की है शरण जिसको ऐसे मुझे, चिरकालसे की हुई आपके चरण कमलोंको भक्तिका यदि मुझे थोड़ा बहुत कुछ फल हो, तो हे आश्रय दायक ! वह यही हो कि आप ही इस लोकमें और परलोकमें भी मेरे स्वामी हों ! ॥ ४२ ॥

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र,
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः,
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

जननयनकुमुदचन्द्र—
प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।

ते विगलितमलनिचया,

अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे जिनेश्वर ! जो भव्यजन बुद्धिको सावधान कर आपके निर्मल मुखारविन्दकी ओर लक्ष्यकर अर्थात् आपकी ओर टकटकी लगाकर और सघन तथा खड़े हुए रोमाञ्चोंका वस्त्र पहिन कर हे स्वामिन् ! आपकी इस प्रकार विधि-पूर्वक स्तुति रचते हैं अर्थात् बना कर पढ़ते हैं ॥ ४३ ॥ वे, हे प्राणियोंके नेत्रकुमुदोंको चन्द्रमाकी तरह प्रकाशित करनेवाले, देदीप्यमान् स्वर्गलोककी नाना सम्पत्तियोंको भोग कर अष्टकर्म रूपी मलको आत्मासे दूर कर बहुत जल्दी मुक्तिको पाते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

श्री गौतम स्वामीजीका रास ।

वीर जिणेसर चरण कमल, कमला कय वासो,
पणमिवि पभणिसु सामीसाल, गोयम गुरु रासो ।
मण तणु वयण एकंत करिवि, निसुणहु भो भविया;
जिम निवसे तुम देह गेह गुण गण गहगहिया ॥१॥
जंबूदीव सिरि भरह खित्त, खोणी तल मंडण, मगह देस सेणिय नरेश, रिऊ दल बल खंडण । धणवर गुब्बर गाम नाम, जिहां गुण गण सज्जा; विप्प वसे वसुभूइ तत्थ, तसु पुहवी भज्जा ॥ २ ॥ ताण पुत्त सिरि इन्दभूइ, भूवलय पसिद्धो; चउदह विज्जा विविह रूव नारी रस लुद्धो । विनय विवेक विचार सार, गुण गणह मनोहर; सात हाथ सुप्रमाण देह,

रूवहि रंभावर ॥ ३ ॥ नयण वयण कर चरण जणवि, पंकज जल पाडिय; तेजहिं तारा चन्द सूरि, आकास भमाडिय। रूवहि मयण अनंग करवि, मेल्यो निरधाडिय, धीरम मेरु गंभीरसिंधु, चंगम चय चाडिय ॥४॥ पेक्खवि निरुवम रूव जास, जण जंपे किंचिय, एकाकी किल भीत्त इत्थ, गुण मेल्या सिंजिय। अहवा निश्चय पुव्व जम्म, जिणवर इण अंचिय; रंभा पउमा गउरी गंग, तिहां विधि वंचिय ॥ ५ ॥ नय वुध नय गुरु कविण कोय, जसु आगल रहियो; पंच सयां गुण पात्र छात्र, हीडे परवरियो। करय निरंतर यज्ञ करम, मिथ्यामति मोहिय; अणचल होसे चरम नाण, दंसणह विसोहिय ॥ ६ ॥ वस्तु ॥ जंबूदीव भरह वासंमि, खोणीतल मंडण, मगह देस सेणिय नरेसर, वर गुव्वर गाम तिहां, विप्प वसे वसुभूइ सुन्दर, तसु पुहवि भज्जा, सयल गुण गण रूव निहाण, ताण पुत्त विज्जानिलो, गोयम अतिहि सुजान ॥ ७ ॥ भास ॥ चरम जिणेसर केवलनाणी, चौविह संघ पइट्ठा जाणी। पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहिं जुत्तो ॥ ८ ॥ देवहि समवसरण तिहां कीजें, जिण दीठे मिथ्यामत छीजे। त्रिभुवन गुरु सिंहासन वेठा, ततखिण मोह दिगंत पइट्ठा ॥ ६ ॥ क्रोध मान माया मद पूरा, जाये नाठा जिम दिन

चोरा । देव दुंदुभि आगासे वाजी; धरम नरेसर आव्यो गाजी ॥ १० ॥ कुसुम वृष्टि अरचे तिहां देवा, चउसठ इंद्रज मांगे सेवा । चामर छत्र सिरोवरि सोहे, रूवहि जिनवर जग सहु मोहे ॥ ११ ॥ उपसम रसभर वर वरसंता; जोजन वाणि वखाण करंता । जाणिवि वर्द्धमान ज़िण पाया, सुर नर किन्नर आवइ राया ॥ १२ ॥ कंत समोहिय जलहलकंता, गयण विमाणहि रणरणकंता । पेक्खवि इन्दभूइ मन चिंते, सुर आवे अम यज्ञ हुवंते ॥ १३ ॥ तीर तरंडक जिम ते वहिता, समवसरण पुहता गहगहिता । तो अभिमाने गोयमजंपे, इण अवसर कोपें तणु कंपे ॥ १४ ॥ मूढा लोक अजाणयुं बोले, सुर जाणंता इम कांइ डोले । मो आगल कोइ जाण भणीजें, मेरु अवर किम उपमा दीजें ॥ १५ ॥वस्तु॥ वीर जिणवर वीर जिणवर नाण संपन्न पावापुर सुरमहिय, पत्त नाह संसारतारण, तिहिं देवइ निम्महिय, समवसरण बहु सुक्खकारण, जिणवर जग उज्जोय करै, तेजहि कर दिनकर सिंहासण सामी ठव्यो, हुओ तो जय जयकार ॥१६॥ ॥ भास ॥ तो चढियो घणमाण गजे, इन्दभूय भूयदेव तो, हुंकारो कर संचरिय, कवणसु जिणवरदेव तो । जोजन भूमि समोसरण, पेक्खवि प्रथमारंभ तो,

दह दिस देखे विबुध वधू आवंती सुररंभ तो ॥१७॥ मणिमय तोरण दंभ ध्वज, कोसीसे नवघाट तो, वइर विवर्जित जंतुगण, प्रातीहारिज आठ तो। सुर नर किन्नर असुरवर, इंद्र इंद्राणी राय तो, चित्त चमक्किय चिंतवए, सेवतां प्रभु पाय तो ॥ १८ ॥ सहसकिरण सामी वीरजिण, पेखिअ रूप विसाल तो; एह असंभव संभव ए, साचो ए इंद्रजाल तो। तो बोलावइ त्रिजग गुरु, इंद्रभूइ नामेण तो; श्रीमुख संसय सामी सवे, फेडे वेद पएण तो ॥ १९ ॥ मान मेल मद ठेल करे, भगतिहिं नाम्यो सीस तो, पंच सयांसुं व्रत लियो ए, गोयम पहिलो सीस तो। बंधव संजम सुणिवि करे, अगनिभूइ आवेय तो; नाम लेइ आभास करे, ते पण प्रतिबोधेय तो ॥ २० ॥ इण अनुक्रम गणहर रयण थाप्या वीर इग्यार तो, तो उपदेशे भुवन गुरु, संयमशुं व्रत बार तो। बिहुं उपवासें पारणो ए, आपणपे बिहरंत तो; गोयम संयम जग सयल, जय जयकार करंत तो ॥ २१ ॥ वस्तु ॥ इंद्रभूइ इंद्रभूइ चढियो बहुमान, हुंकारो करि कंपतो, समवसरण पहुतो तुरंतो; जे संसा सामि सवे, चरमनाह फेडे फूरंत तो, बोधिबीज संजाय मनें, गोयम भवहि विरत्त, दिक्खा लेई सिक्खा सही, गणहर पय संपत्त ॥ २२ ॥ भास ॥ आज हुवो सुविहाण, आज

पञ्चेलिमा पुराय भरो, दीठा गोयम सामि, जो निय नयणें अमिय सरो। समवसरण मझार, जे जे संशय ऊपजे ए, ते ते पर उपगार कारण पूछे मुनि पवरो ॥ २३ ॥ जीहां २ दीजें दीख, तीहां केवल ऊपजें ए; आप कनें अणहुंत, गोयम दीजें दान इम। गुरु ऊपर गुरु भक्ति, सामी गोयम ऊपनिय; एणिछल केवल नाण, रागज राखे रंग भरे ॥ २४ ॥ जो अष्टा-पद सेल, वंदे चढ चउवीस जिण, आतम लब्धि वसेण, चरम सरीरी सोजमुनि। इय देसणा निसु-णेह, गोयम गणहर संचरिय, तापस पन्नरसएण, तो मुनि दीठो आवतो ए ॥ २५ ॥ तप सोसिय निय अंग-अम्हां संगति न उपजे ए, किम चढसे दृढ काय, गज जिम दीसै गाजतो ए। निरुओ ए अभि-मान, तापस जो मन चिंतवे ए, तो मुनि चढियो वेग, अलंबवि दिनकर किरण ॥ २६ ॥ कंचण मणि निप्फन्न, दंडकलस ध्वजवड सहिय, पेखवि परमा-णन्द, जिणहर भरतेसर महिय। निय निय काय प्रमाण, चिहुं दिसि संठिय जिणह बिंब, पणमवि मन उल्लास, गोयम गणहर तिहां वसिय ॥ २७ ॥ वयर-सामीनो जीव, तिर्यक् जृंभक देव तिहां प्रति-बोध्यो पुंडरीक, कंडरिक अध्ययन भणी। वलता गो-यम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे, लेई आपण

साथ, चाले जिम जूथाधिपति ॥ २८ ॥ खीर खांड घृत आन, अमिय वूठ अंगूठ ठवे, गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवे। पंच सयां शुभ भाव. उज्जल भरियो खीर मिसे, साचा गुरु संयोग, कवल ते केवल रूप हुआ ॥ २९ ॥ पश्च सयां जिणनाह, समवसरण प्रकारत्रय, पेखवि केवल नाण, उप्पन्नो उज्जोय करे। जाणे जणवि पियूष, गाजंती घन मेघ जिम, जिनवाणी निसुणेवि, नाणी हुआ पंचसया ॥ ३० ॥॥ वस्तु ॥ इण अनुक्रम इण अनुक्रम नाण पन्नरेसे, उप्पन्न परिवरिय, हरिदुरिय जिणनाह वंदइ, जाणेवि जगगुरु वयण, तिहि नाण अप्पाण निंदइ। चरम जिनेसर इम भणे, गोयम म करिस खेव, छेह जाय आपण सहो, होस्यां तुल्ला बेव ॥३१॥ ॥ भास ॥ समियो ए वीर जिणंद, पूनमचंद जिम उल्लसिय, विहरियो ए भरह वासम्मि, वरस बहुत्तर संवसिय। ठवतो ए कणय पउमेण, पाय कमल संघे सहिय, आवियो ए नयणानंद, नयर पावापुर सुरमहिय ॥ ३२ ॥ पेखियो ए गोयम सामि, देवसमा प्रतिबोध करे, आपणो ए तिसला देवि, नंदन पुहतो परम पए। वलतो ए देव आकाश, पेखवि जाणयो जिण समो ए, तो मुनि ए मन विखवाद, नाद भेद जिम उपनो ए ॥ ३३ ॥ इण समे ए सामिय देखि,

आप कनासु टालियो ए, जाणतो ए तिहुअण नाह, लोक विवहार न पालियो ए। अतिभलों ए कीधलो सामि, जाण्यो केवल मार्गसे ए, चिन्तव्यो ए बालक जेम, अहवा केडे लागसे ए ॥ ३४ ॥ हूं किम ए वीर जिणंद, भगतिहि भोले भोलव्यो ए, आपणो ए उचलो नेह, नाह न संपे साचव्यो ए। साचो ए वीत-राग, नेह न हेजें लालियो ए, तिणसमे ए गोयमचित्त, राग वैरागे वालियो ए ॥ ३५ ॥ आवतो ए जो उल्लट्ट, रहितो रागे साहियो ए, केवल ए नाण उप्पन्न, गोयम सहिज उमाहियो ए। तिहुअण ए जय जयकार, केवल महिमा सुर करे ए, गणधरु ए करय वखाण, भविया भव जिम निस्तरे ए ॥ ३६ ॥ वस्तु ॥ पढम गणहर पढम गणहर वरस पच्चास, गिहवासे संवसिय, तीस वरस संजम विभूसिय, सिरि केवल नाण पुण, बार वरस तिहुअण नमंसिय, राजगृही नयरी ठव्यो बाणवइ वरसाउ, सामी गोयम गुणनिलो, होसे शिव-पुर ठाउ ॥ ३७ ॥ भास ॥ जिम सहकारे कोयल टहुके, जिम कुसुमावन परिमल महके, जिम चन्दन सोगंध निधि। जिम गंगाजल लहिस्या लहके, जिम कणयाचल तेजे झलके, तीम गोयम सोभाग निधि ॥ ३८ ॥ जिम मानसरोवर निवसे हंसा, जिम सुर-तरू वर कणय वतंसा, जिम महुयर राजीव वनें।

जिम रयणायर रयणें विलसे, जिम अंबर तारागण विकसे, तिम गोयम गुरु केवल घने ॥ ३६ ॥ पूनम निसि जिम ससियर सोहे, सुरतरु महिमा जिम जग मोहे, पूरव दिस जिम सहस करो। पञ्चानने जिम गिरवर राजे, नरवई घर जिम मयगल गाजे, तिम जिन शासन मुनि पवरो ॥ ४० ॥ जिम गुरु तरुवर सोहे साखा, जिम उत्तम मुख मधुरी भाषा, जिम वन केतकि महमये ए। जिम भूमीपति भुवलय चमके, जिम जिन मन्दिर घण्टा रणके, गोयम लब्धे गहगह्यो ए ॥ ४१ ॥ चिन्तामणि कर चढीयो आज, सुर तरु सारे वंछिय काज, कामकुम्भ सहु वशि हुआ ए। कामगवी पूरे मन कामी, अष्ट महासिद्धि आवे धामी, सामो गोयम अणुसरि ए ॥ ४२ ॥ पणवक्खर पहिलो पभणीजें, माया बीजो श्रवण सुणीजे, श्रीमिति सोभा संभवाए। देवां धुर अरिहंत नमीजे, विनय पहु उवझाय थुणीजे, इण मन्त्रे गोयम नमो ए ॥ ४३ ॥ पर घर वसतां काय करीजे, देस देसांतर काय भमीजें, कवण काज आयास करो। प्रह उठी गोयम समरीजें, काज समग्गल ततखिण सीजे, नव निधि विलसे तिहां परे ए ॥ ४४ ॥ चवदय सय बारोत्तर वरसे, गोयम गणहर केवल दिवसे, कियो कवित्त उपगार परो। आदिहिं मंगल ए पभणीजे,

परव महोच्छव पहिलो दीजे, रिद्धि वृद्धि कल्याण करो ॥ ४५ ॥ धन माता जिण उयरे धरियो, धन्य पिता जिण कुल अवतरियो, धन्य सुगुरु जिण दीखियो ए । विनयवंत विद्या भण्डार, तसु गुण पुहवी न लब्भइ पार, वट जिम शाखा विस्तरो ए । गोयम सामी रास भणिजे, चउविह संघ रलियायत कीजें, रिद्धि वृद्धि कल्याण करो ॥४६॥ कुंकुम चंदन छडा दिवरावो, माणक मोतीना चौक पुरावो, रयण सिंहासण बेसणो ए । तिहां बेसी गुर देसनां देसी, भविक जीवना काज सरेसी, नित नित मङ्गल उदय करो ॥ ४७॥ राग प्रभाती जे करे, प्रह ऊगमते सूर ॥ भूख्यां भोजन संपजे, कुरला करे कपूर ॥ ४८ ॥ अंगूठे अमृत वसे, लब्धि तणा भंडार ॥ जे गुरु गौतम समरियें, मनवंछित दातार ॥ ४९ ॥ पुंडरीक गोयम पमुहा, गणहर गुण संपन्न ॥ प्रह ऊठिनें प्रणमतां, चवदेसे बावन्न ॥ ५० ॥ खंतिखमंगुणकलियं, सुविणियं सव्वलद्धि संपरणं ॥ वीरस्स पढम सीसं, गोयम सामी नमंसामि ॥५१॥ सर्वारिष्टप्रणाशाय, सर्वाभीष्टार्थदायिने ॥ सर्वलब्धिनिधानाय, गौतमस्वामिने नमः ॥ ५२ ॥

चैत्यवन्दन-स्तवनादि ।

श्रीसीमधर-जिन-चैत्यवदन ।

जय जय त्रिभुवन आदिनाथ, पंचम गति गामी ॥ जय जय करुणा शांत दांत, भविजन हित कामी ॥१॥ जय जय इंद नरिंद वृंद, सेवित शिर-नामी । जय जय अतिशयानत वंत, अंतरजामी ॥२॥ पूर्वविदेह विराजताए, श्रीसीमंधरस्वामी । त्रिकरण-शुद्ध त्रिहुकालमे, नितप्रति करूँ प्रणाम ॥ ३ ॥

श्रीसीमधर-जिन-स्तवन ।

श्रीसीमंधर साहिबा, वीनतडी अवधार लालरे। परम पुरुप परमेसरू, आतम परम आधार लालरे ॥श्री०॥१॥ केवलज्ञान दिवाकरू, भांगे सादि अनंत लालरे । भावक लोकालोकने, ज्ञायक ज्ञेय अनन्त लालरे ॥ २ ॥ इद्र चंद्र चक्रीसरू, सुर नर रहे कर जोड लालरे ॥ पद-पंकज सेवे सदा, अणहूता इक कोड लालरे ॥श्री० ॥ ३ ॥ चरण-कमल पिंजर वसे, मुझ मन हंस नितमेव लालरे । चरण शरण मोहि आसरो, भव-भव देवाधि देव लालरे ॥ श्री० ॥ ४ ॥ अधम उद्धारण छो तुह्मे, दूर हरो भव-दुःख लालरे। कहे जिनहर्ष दया करी, देजो अविचल-सुख लालरे ॥ श्री० ॥ ५ ॥

श्रीसीमन्धर स्वामीका दूसरा स्तवन ।

धन्न धन्न क्षेत्र महाविदेह जो, धन्य पुंडरिगिणी-गाम । धन्य तेहनां मानवीजी, नित ऊठी करेरे प्र-णाम ॥ १ ॥ सोमंधर स्वामी, कइयेरे हुं महाविदेह आवीश । जयवंता जिनवर, कइयेरे हुं तुमने वांदी-स ॥ ए आँकणी ॥ चांदलिया संदेशडोजी, कहेजो सीमंधर स्वामी । भरतक्षेत्रनां मानवीजी, नित्य ऊठी करेरे प्रणाम ॥ सीमंधर० ॥ २ ॥ समवसरण देवे रच्यु तिहां, चोसठ इंद्र नरेश, सोना तणे सिंहास-बेठा, चामर छत्र धरेश ॥सी०॥३॥ इंद्राणी काढे गहूँ-लोजी, मोतीना चोक पूरेश । ललो ललो लिये लूं-छणांजी, जिनवर दीये उपदेश ॥ सी० ॥ ४ ॥ एह-वे समे में सांभल्युंजी, हवे करवा पच्चक्खाण । पोथी ठवणी तिहां कनेजी, अमृतवाणी वखाण ॥सी०॥५॥ रायने वहाला घोडलाजी, वेपारीने वहाला छेदा-म । अमने वहाला सीमंधर स्वामी, जेम सीताने श्रीराम ॥सी०॥६॥ नहीं मांगु प्रभु राज रिद्धि, नहीं मांगु ग्रन्थ भण्डार । हूँ मांगु प्रभु एटलुंजी, तुम पासे अवतार ॥ सी०॥ ७ ॥ दैव न दीधी पांखडीजी, केम करी आवुं हजूर । मुजरो म्हारो मानजोजी, प्रह उगमते सूर ॥ सी० ॥ ८ ॥ समयसुंदरनी

वीनतीजी, मानजो वारंवार । वे कर जोडी वीनवुंजी, वीनतडो अवधार ॥ सी० ॥ ६ ॥

श्रीसिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन ।

जय जय नाभि नरिंद नंद, सिद्धाचल मंडण जय जय प्रथम जिणंद चंद, भव-दुःख विहंडण ॥ जय जय साधु सुरिंद विंद, वंदिय परमेसर । जय जय जगदानंद कंद, श्रीरिषभ जिणेसर । अमृतसम जिन धर्मनो ए, दायक जगमें जाण । तुझ पद-पंकज प्रीतिधर, निश दिन नमत कल्याण ॥ १ ॥

द्वितीयाकी स्तुति ।

मनसुध वंदो भावेभवियण श्रीसीमंधर रायाजी, पांचसे धनुप प्रमाण विराजित कंचनवरणी कायाजी । श्रेयांस नरपति सत्यकि नंदन वृषभ लंछन सुखदायाजी, विजय भली पुखलावइ विचरे सेवे सुरनर पाया जी ॥१॥ काल अतित जे जिनवर हूवा होस्ये जेह अनंता जी, संप्रतिकाले पंचविदेहे वरतेवीस विख्याताजी । अतिशयवंत अनंत गुणाकर जग बंधव जगत्राता जी, ध्यायक ध्येय स्वरुप जे ध्यावे पावे शिव सुख साताजी ॥ २ ॥ अरथ श्री अरिहन प्रकाशी सूत्रे गणधर आणी जी, मोह मिथ्यात्व तिमिर भरनाशन अभिनव सूर समाणीजी । भवोदधि तरणी मोच नीसरणी नय-निक्षेप सोहाणी जी, ए जिन वाणी

अरिय समाणी आराधो भविप्राणी जी ॥ ३ ॥ शासनदेवी सुरनर सेवि श्रीपंचांगुलि माई जी, विघन विडारणी संपत्ति कारणी सेवक जन सुखदाई जी । त्रिभुवनमोहनी अंतरजामनी जगजस ज्योतिसवाईजी, सानिधकारी संघने होयज्यो श्रीजिनहर्ष सुहाईजी ॥४॥

पंचमीकी स्तुति ।

पंच अनंत महंत गुणाकर पंचमी गति दातार, उत्तम पंचमी तप विधि दायक ज्ञायक भाव अपार । श्रीपंचानन लांछन लांछित वांछित दान सुदच्च, श्री वर्द्धमान जिणंदसु वंदो आणंदो भविपच्च ॥१॥ पूरण पंचमहाश्रव रोधक बोधक भव्य उदार, पंच अणुव्रत पंच महाव्रत विधि विस्तारक सार । जे पंचेंद्रिय दमि शिव पुहता ते सगला जिन राय, पंचमो तप धर भवियण ऊपर सुथिर करो सुपसाय ॥ २ ॥ पंचाचार धुरंधर युगवर पंचम गणधर वाण, पंच ज्ञान विचार विराजित भाजित मद पंच बाण । पंचम काल तिमिरभरमांहे दीपक सम सोभंत, पंचम तप फल मूल प्रकाशक ध्यावो जिनसिद्धांत ।। ३ ॥ पंच परम पुरुषोतम सेवा कारक जे नरनार, वलि निरमल पंचमी तप धारक तेहभणी सुविचार । श्री सिद्धदायिका देवी अहनिस आपो सुख अमंद, श्रीजिनलाभसुरिंद पसाये कहे जिनचंद मुणिंद ॥ ४ ॥

अष्टमीकी, स्तुति।

चउवीसे जिनवर प्रणमुं हूं नितमेव, आठम दिन करिये चंद्राप्रभुजीनी सेव। मूरति मन मोहे जाणे पूनमचंद, दीठां दुःख जावे पामे परमानंद ॥१॥ मिल चोसठ इंद्र पूजे प्रभुजीना पाय, इंद्राणी अपच्छरा कर जोडी गुण गाय। नंदीसर द्वीपे मिल सुरवरनी कोड, अट्ठाही महोच्छव करतां होडा होड ॥ २ ॥ सेत्रुंजे सिखरे जाणी लाभ अपार, चौमासे रहिया गण-धर मुनि परिवार। भवियणने तारे देइ धरम उपदेश, दूध साकरथी पिण वाणी अधिक विशेष ॥३॥ पोसो पडिकमणो करिये व्रत पचक्खाण, आठम तप करतां आठ करमनी हाण। आठ मंगल थाये दिन २ कोड कल्याण, जिनसुखसूरि कहे शासन देवि सुजाण ॥४॥

एकादशीकी स्तुति।

अरनाथ जिनेसर दीक्षा नमीजिन ज्ञान, श्रीमल्लि जन्म व्रत केवल ज्ञान प्रधान। इग्यारस मिगसर सुदो उत्तम अवधार, ए पंच कल्याणक समरीजे जयकार ॥१॥ इग्यारे अनुपम एक अधिक गुण धार, इग्यारे वारे प्रतिमा देशक धार। इग्यारे दुगणा दोय अधिक जिन राय, मन सुध सेव्यां सव संकट मिट जाय ॥२॥ जियां वरस इग्यारे कीजे व्रत उपवास, वलि गुणनो गुणिये विधिसेती सुविलास। जिन-

आगम वाणी जाणी जगत प्रधान, एक चित्त आराधो साधो सिद्ध विधान ॥३॥ सुर असुर भुवण-वण सम्यगद्रस्सन वंत, जिनचंद्र सुसेवक वेयावच्च करंत। श्रीसंघ सकलमें आराधक बहु जाण, जिन शासन देवी देव करो कल्याण ॥ ४ ॥

चतुर्दशीकी स्तुति ।

प्रथम तीर्थंकर आदिजिनेश्वर जाकी कीजे सेव, गच्छ चौरासी जेहने थाप्या जाकी करणी एह। तेहने पाखी चौदस कीजे बीजे अंग कहाय, पाखी सूत्र प्रथम तुम देखो जिम जिम संशय जाय ॥१॥ चउवीसे जिन पूजा कीजे मानो जिनकी आण, कल्पसूत्रनी पाखी चौदस जोवो चतुर सुजान। इण पर ठाम ठाम तुम देखो चोदस पाखी होय, भूला कांइ भमो तुम प्राणी सांचो जिनधर्म जोय ॥ २ ॥ चवदसरे दिन पाखी किजे सूत्र केरी साख, भविक जीव इक आराधो टीका चूर्णी भाष्य। आवश्यकसूत्र इण पर बोले चउदसरे दिन पाखी, चउद-पुरवधर इण पर बोले ते निश्चय मन राखी ॥३॥ श्रुतदेवी इक मन आराधो मन वांछित फल होय, जे जे आज्ञा-सूधी पाले ज्यानो विघन हरेय। सेवक इणपर करे वीनती सूधो समकित पाय, खरतर गच्छ मंडण कुमति विहंडण माणिक्यसूरि गुरुराय ॥ ४ ॥

आयम्बिलकी स्तुति ।

निरुपम सुख दायक जग नायक लायक शिव गति गामी जी, करुणा सागर निजगुण आगर शुभ समता रस धामी जी। श्रीसिद्धचक्र शिरोमणि जिनवर ध्यावे जे मन रंगे जी, ते मानव श्रीपालतणी परे पामे सुख सुर संगेजी ॥ १ ॥ अरिहंत सिद्ध आचारिज पाठक साधु महा गुणवंता जी, दरिसण नाण चरण तप उत्तम नवपद जग जयवंता जी। एहनुं ध्यान धरंता लहियें अविचल पद अविनाशी जी, ते सघला जिन नायक नमिये जिण ए नीति प्रकाशी जी ॥ २ ॥ आसू मास मनोहर तिम वलि चैत्रक मास जगीशें जी, उजवाली सातमथी करिये नव आंबिल नव दिवसें जी। तेर सहस वलि गुणिये गुणणुं नवपद केरो सारो जी, इणपरि निमल तप आदरियें आगम साख उदारोजी ॥ ३ ॥ विमल कमल दल लोयण सुंदर श्री चक्कसरि देवी जी, नवपद सेवक भविजन केरां विघ्न हरो सुर सेवी जी। श्रीखरतर गच्छ नायक सद्गुरु श्रीजिनभक्ति मुणिंदा जी, तासु पसाये इणपरि पभणे श्री जिनलाभ सूरिंदा जी ॥ ४ ॥

पर्युषणाकी स्तुति ।

वलि वलि हुं ध्यावु गाउ जिनवर वीर,

जिन पर्वपजूसण दाख्या धरमनी सीर। आषाढ चौमासें हुंती दिन पंचास, पडिक्कमणुं संवच्छरी करिये त्रण उपवास ॥ १ ॥ चउवीशे जिनवर पूजा सत्तर प्रकार, करियें भलें भावें भरिये पुराय भंडार। वलि चैत्य प्रवाडें फिरतां लाभ अनंत, इम परव पजूसण सहुमें महिमावंत ॥ २ ॥ पुस्तक पूजावी नव वांचनायें वंचाय, श्रीकल्पसूत्र जिहां सुणतां पाप पुलाय। प्रतिदिन परभावना धूप अगर उक्खेव, इम भवियण प्राणी परव पजूसण सेव ॥ ३ ॥ वलि साहम्मीवच्छल करियें वारंवार, केई भावना भावें केइ तपसी शिलधार। अडदीह पजूसण एम सेवत आणंद, सुयदेवी सांनिध कहे जिनलाभ सूरिंद ॥ ४ ॥

पांच तिथीयोंका स्तवन ।

सुगुण सनेही साजण श्रीसीमंधरस्वाम, अरज सुणो एक जग गुरु मुझ आशा विशराम। पूरव विदेहें विजय भली पुक्खलावई नाम, जिहां विचरे जिनवरजी धन ते नयरी गाम॥ १ ॥ धन ते लोक सुणे जे जोजन गामिनी वाण, धन ते महियल चरण धरे जिहां जिनवर भाण। धन ते भविजन जे रहे प्रभु ताहरे परसंग, वदन-कमल निरखी नित्य माणे उत्सव अंग ॥ २ ॥ सुगुरु मुखें प्रभु सुजस तुम्हीणो सांभल कान, मिलवाने उलसे मन माहरुं धरुं एक ध्यान।

भगति जुगति करवानी छे मुझ सघली जोड, पण
प्रभु लग पहूचीजें तेह नहिं पग दोड ॥ ३ ॥ आडा
डूंगर अति घणा विचवहे नदियां पूर, किम मुझथी
अवराये प्रभुजी एटली दूर। आंखडली उलझो करे
जोयवा मुख जिनराज, पांखडली पाई नही ते विन
किम सरे काज ॥ ४ ॥ वाटडली वहतो कोइ न मिले
सेंगू साथ, कागलियो लिख आपूं हुं जिम तेहने हाथ।
जाणूं शशिहर साथे कहूं संदेशो जेह, पण अलगो
थई ऊपरि वाडे निकले तेह ॥ ५ ॥ जो कोइ रीते
प्रभुजी तुमथी एथ अवाय, तो इण भरतना वासी
भविजन पावन थाय ॥ साहिबनी तो सुनजर सघले
सरिखी होय, पण पोतानी प्राप्ति सारू फल प्रति जोय
॥ ६ ॥ अलगो छुं पण माहरे तुमशुं साची प्रीत,
गुण गुणवंतना आवे हियडे खिण खिण चित्त। हुं
छुं सेवक तुं छे माहरो आतमराम, नहिंय विसारूं
जीवुं ज्या लगि ताहरुं नाम ॥ ७ ॥ साचे दिलथी
मुझशं धरजो धरम सनेह, करुणाकर प्रभु करजा मो
परो महिर अछेह। दूसम काल तणो दुःख टालो दीन
दयाल, पालो विरुद संभालो निज सेवकशुं कृपाल
॥ ८ ॥ आशविलुद्धा अलग थकी पण करे अरदास,
पण महोटानी महिर छतां नवि थाय निराश। केई
वसे प्रभु पासे केई वसे छे दूर, राज महिरनी रीतें

सकलने जाणो हजूर ॥६॥ शिव सुख दायक नायक लायक स्वामि सुरंग, ध्यायक ध्येय स्वरूप लहे निज आत्म उसंग । सहिजें एक पलक नो थाये प्रभु तुझ-संग, लाभ उदय जिनचंद्र लहे ! प्रेम अभंग ॥१०॥

दूसरा स्त

सफल संसार अवतार ए हुं गणुं, समि सीमंधरा तुम्ह भगते भणुं । भेटवा पाय-कमल भाव हियडे घणो, करिय सुपसाय जे वीनवुं ते सुणो ॥ १ ॥ तुम्ह शुं कूड अरिहंत शुं राखियें, जिस्यो अछे तिस्यो कर जोडि करि भांखिये । अति सवल मुझ हिये मोह माया घणी, एक मन भगति किम करूं त्रिभुवन धणी ॥२॥ जीव आरति करे नव नवी परिगडे, रीश चटको चढ़े लोभ वयरी नडे । नयण रस वयण रस काम रस रसियो, तेम अरिहंत तुं हीयडे नवि वसीयो ॥ ३ ॥ दिवसने रात हियडे अनेरो धरूं, मूढ मन रीझवा वलिय माया करूं । तुंहि अरिहंत जाणे जिस्यो आचरूं, तेम कर जेम संसार-सागर तरूं ॥ ४ ॥ कम्मवसि सुखने दुःख जे हुं सहुँ, मन तणी वात अरिहंत किणने कहूं । करि दया करि मया देव करुणा परा, दुःख हरि सुख करि सामि सीमंधरा ॥ ५ ॥ जाण संयोग आगम वयण पण सुणुं, धर्म न कराय प्रभु पाप पोतें घणुं । एक अरिहिंत तूं

देव बीजो नहिं, एह आधार जग जाणजो अम्ह सही ॥ ६ ॥ धण कणय माय पिय पुत्त परिजन सहू, हस्यो बोल्यो रम्यो रंग रातो बहू। जयो जयो जग गुरू जीव जीवन धरा, तुम्ह समो वड नहिं अवर वाल्हेसरा ॥ ७ ॥ अमिय सम वाणि जाणुं सदा सांभलुं, वार वार परषदा मांहि आवी मिलुं। चित्त जाणुं सदा सामि पाय ओलगुं, किम करूं ठाम पुंडरगिरि वेगलुं ॥ ८ ॥ भोलिडा भगति तूं चित्त हारे किस्ये, पुण्य संयोग प्रभु दृष्टिगोचर हुस्ये। जेहने नामें मन वयण तन उल्लसे, दूरथी ढूकडा जेम हियड़े वसे ॥६॥ भल भलो एणि संसार सहु ए अछे, सामि सीमंधरा ते सहू तुम पछे। ध्यान करतां सुपनमांहि आवी मिले, देखियें नयण तो चित आरति टले ॥ १० ॥ साम सोहामणा नाम मन गहगहे, तेहशुं नेह जे वात तुम्ह जो कहे। तुम्ह पाय भेटवा अति घणो टलवलं, पख जो होय तो सहिय आवी मिलुं ॥ ११ ॥ मेरुगिरि लेखणी आभ कागल करूं, खारसागर तणां दूध खड़िया भरुं। तुम्ह मिलवा तणा सामि संदेशड़ा, इन्द्र पण लखिय न शके अछे एवडा ॥ १२ ॥ आपणे रंग भरि वात मुख जेटली, ऊपजे सामि न कहाय मुख तेटली। सुणो सीमधरा राज राजेसरा, लाड ने कोड प्रभु पूर सवि माहरा ॥ १३ ॥ पुव्व भवि मोह

वश नेह हुवे जेहने, समरिये एणी संसार नित तेहने । मेहने मोर जिम कमल भमरो रमे, तेम अरिहंत तूं चित्त मोरे गमे ॥ १४ ॥ खरुं अरिहंतनुं ध्यान हियडे वस्युं, बापडुं पाप हिव रहिय करशे किस्युं । ठाम जिम गरुडवर पंखि आवे वही, तत-खिण सर्पनी जाति न शके रही ॥ १५ ॥ पाप में कज्ज सावज्ज सहु परिहरी, सामि सीमंधरा तुम्ह पय अणु-सरी । शुद्ध चारित्र कहियें प्रभु पालशुं, दुःख भंडार संसार भय टालशुं ॥ १६ ॥ तुम्ह हुं दास हुं तुम्ह सेवक सही, एह में वात अरिहंर आगल कही ॥ एवडी माहरी भगति जाणी करी, आपजो बापजी सार केवल सही ॥ १७ ॥ कलश ॥ एम ऋद्धि वृद्धि समृद्धि कारण दुरित वारण सुख करो, उवझाय वर श्री भक्ति लाभें थुणयो श्री सीमंधरो । जय जयो जग-गुरु जीव जीवन करी सामि मया घणी, कर जोडि वलि वलि वीनवुं प्रभु पूर आशा मन तणी ॥१८॥

ज्ञान-पंचमीका वड़ा स्तवन ।

प्रणमुं श्रीगुरु पाय, निर्मल ज्ञान उपाय । पंचमी तप भणुं ए, जन्म सफल गिणुं ए ॥ १ ॥ चउवीसमो जिनचंद, केवल ज्ञान दिणंद । त्रिगडे गह गह्यो ए, भवियणने कह्यो ए ॥ २ ॥ ज्ञान वडुं संसार, ज्ञान मुगति दातार । ज्ञान दीवो कह्यो ए,

साचो सर्दह्यो ए ॥ ३ ॥ ज्ञान लोचन सुविलास, लोकालोक प्रकाश । ज्ञान विना पशु ए, नर जाणे किश्युं ए ॥ ४ ॥ अधिक आराधक जाण, भगवती सूत्र प्रमाण । ज्ञानी सर्वंतु ए, किरिया देश तु ए ॥५॥ ज्ञानी श्वासोश्वास, करम करे जे नास । नारकीने सही ए, कोड वरस कही ए ॥ ६ ॥ ज्ञान तणो अधिकार, बोल्या सूत्र मझार । किरिया छे सही ए, पण पाछें कही ए ॥ ७ ॥ किरिया सहित जो ज्ञान, हुवे तो अति परधान । सोनो ने सूरो ए, शख दूधें भरयो ए ॥ ८ ॥ महानिशीथ मझार, पंचमि अक्षर सार । भगवंत भाखियो ए, गणधर साखियो ए ॥६॥

दूसरी ढाल—कालहराकी देशी ।

पंचमि तप विधि सांभलो, जिम पामो भव पारो रे । श्रीअरिहंत इम उपदिशे, भवियणने हितकारो रे ॥ पं० ॥ १ ॥ मिगसर माह फागुण भला, जेठ आषाढ वैशाखो रे । इण षटमासें लीजिये, शुभ दिन सद्गुरु साखो रे ॥ पं० ॥ २ ॥ देव जुहारी देहरें, गीतारथ गुरु वंदी रे। पोथी पूजो ज्ञाननी, सगति हुवे तो नंदी रे ॥ पं० ॥ ३ ॥ बे कर जोडी भावशुं, गुरु मुख करो उपवासो रे। पंचमी पडि-क्कमणो करो, पढो पडित गुरु पासो रे ॥ पं० ॥ ४ ॥ जिण दिन पंचमि तप करो, तिण दिन आरंभ टालो

रे । पंचमि स्तवन थुई कहो, ब्रह्मचारिज पिण पालो रे ॥ ५ ॥ पांच मास लघु पंचमी, जावजीव उत्कृष्टी रे । पांच वरस पांच मासनी, पंचमी करो शुभ दृष्टि रे ॥ पं० ॥ ६ ॥

तीसरी ढाल—उल्लालेकी देशी ।

हिव भवियण रे पंचमी ऊजमणो सुणो घर सारू रे वारू धन खरचो घणो । ए अवसर रे आवंतां वलि दोहिलो, पुण्य जोगे रे धन पामंता सोहिलो ॥ उल्लालो ॥ सोहिलो वलिय धन पामतां पण धर्म-काज किहां वली, पंचमी दिन गुरु पास आवी कीजीये काउस्सग रली । त्रण ज्ञान दरिसण चरण टीकी देइ पुस्तक पूजिये, थापना पहिली पूज केसर सुगुरु सेवा कीजिये ॥ १ ॥ ढाल ॥ सिद्धांतनी रे पांच परत वीटांगणां, पांच पूठां रे मुखमल सूत्र प्रमुख तणां । पांच डोरा रे लेखण पांच मजीसणा, वासकूंपा रे कांबी वारू वतरणा ॥ उल्लालो ॥ वतरणा वारू वली य कमली पांच झिलमिल अति भली, स्थापनाचारिज पांच ठवणीः मुहपत्ती पडपाटली । पटसूत्र पाटी पंच कोथली पंच नवकारवालियां ॥२॥ ढाल॥ वलि देहरे रे स्नात्र महोत्सव कीजियें, घर सारू रे दान वली तिहां दीजिये। प्रतिमाजीने रे आगल ढोवणुं ढोइये, पूजानां रे जे जे उपगरण जोइये ॥ उल्लालो ॥ जोइयें उपगरण

देवपूजा काज कलश भृंगार ए, आरति मङ्गल थाल दीवो धूप धाणुं सार ए । घनसार केशर अगर सूखड अंगलूहणो दीस ए, पंच पंच सघली वस्तु ढोवो सगतिशुं पचवीश ए ॥ ३ ॥ ढाल ॥ पंचमी तारे सहाम्मी सर्व जिमाडियें, रात्रिजोगें रे गीत रसाल गवाडियें । इण करणी रे करतां ज्ञान आराधियें, ज्ञान दरिसण रे उत्तम मारग साधियें ॥ उल्लालो ॥ साधियें मारग एह करणी ज्ञान लहिये निरमलो, सुरलोक ने नरलोक मांहे ज्ञानवंत ते आगलो । अनुक्रमें केवल-ज्ञान पामी सासता सुख जे लहे, जे करे पंचमी तप अखंडित वीर जिणवर इम कहे ॥ ४ ॥ कलश ॥ एम पंचमी तप फल प्ररूपक वर्द्धमान जिणेसरो, में थुण्यो श्री अरिहंत भगवंत अतुल बल अलवेसरो । जयवंत श्री जिनचंद सूरिज सकल चंद नमं-सियो । वाचनाचारिज समयसुंदर भगति भाव प्रशंसियो ॥ ५५ ॥

पार्श्वजिन अथवा लघु पञ्चमीका स्तवन ।

पंचमि तप तूमे करो रे प्राणी, निर्मल पामो ज्ञान रे । पहिलूं ज्ञानने पछी किरिया, नहिं कोइ ज्ञान-समान रे ॥ पं० ॥ १ ॥ नंदि सुत्रमें ज्ञान वखाण्युं, ज्ञानना पंच प्रकार रे । मती श्रूति अवधि अने मनः पर्यव, केवलज्ञान श्रीकार रे ॥ पं० ॥ २ ॥ मति

अट्ठावीश श्रुत चवदे वीश, अवधि छ असंख्य प्रकार रे । दोय भेद मनःपर्यव दाख्युं, केवल एक प्रकार रे ॥ पं० ॥३॥ चंद्र सूरज ग्रह नक्षत्र तारा, तेस्युं तेज आकाश रे । केवलज्ञान समो नहिं कोई, लोकालोक प्रकाश रे ॥ पं० ॥४॥ पारसनाथ प्रसाद करीने, महारी पूरो उमेद रे । समयसुंदर कहे हुं पण पामुं, ज्ञाननो पांचमो भेद रे ॥ पं० ॥ ५ ॥

पार्श्वनाथ भगवानका स्तवन ।

अमल कमल जिम धवल विराजे, गाजे गोडी पास । सेवा सारे जेहनी, सुर नर मन धरिय उल्लास ॥१॥ सोभागी साहिब मेरा वे, अरिहां सुग्यानी पास-जिणंदा वे ॥ ए आंकणी ॥ सुंदर सूरति मूरति सोहे, मो मन अधिक सुहाय । पलक पलकमें पेखतां मानुं, नव नवि छविय देखाय ॥ २ ॥ ॥ सोभा० ॥ अ० ॥ भव-दुःख-भंजन जन-मन-रंजन, खंजन नयनसुं रंग । श्रवणें सुणी गुण ताहरा, महारा विकस्या अंगो अंग ॥ ३ ॥ सो० ॥ अ० ॥ दूरथकी हुं आयो वहिने, देव लह्यो दीदार । प्रारथियां पहिडे नहिं, साहिबा एह उत्तम आचार ॥ ४ ॥ सो० ॥ अ० ॥ प्रभु मुखचंद विलोकित हरखित, नाचत नयन चकोर । कमल हसे रवि देखिने, जिम जलधर आगम मोर ॥५॥ सो०॥ ॥ अ० ॥ किसके हरिहर किसके ब्रह्मा, किसके दिलमें

राम। मेरे मनमें तूं वसे, साहिव शिव-सुखनो ही ठाम ॥सो०॥ अ० ॥६॥ माता वामा धन्य पिता, जसु श्रीअश्वसेन नरेश। जनमपुरी वणारसी, धन धन काशीनो देश ॥ सो० ॥ अ० ॥ ७ ॥ संवत सतरेशे वावीसें, वदि वैशाख वखाण। आठम दिन भले भावशुं, मारी जात्र चढी परिमाण ॥सो०॥ अ० ॥८॥ सान्निध्यकारी विघ्न निवारी, पर उपगारी पास॥ श्री जिनचंद जूहारतां, मोरी सफल फली सहु आश ॥ सो० ॥ अ० ॥ ६ ॥

मौन एकादशीका वडा स्तवन।

समवरण वेठा भगवंत, धरम प्रकाशे श्री अरिहंत। वारे परपदा वैंठी जुडी, मिगशिर शुदि इग्यारस वडी ॥ १ ॥ मल्लिनाथना तीन कल्याण, जनम दीक्षा ने केवल ज्ञान। अरदीक्षा लीधी रूवडी ॥ मि० ॥२॥ नमिने उपनुं केवल ज्ञान, पांच कल्याणक अति परधान। ए तिथिनी महिमा एवडी ॥ मि० ॥ ३॥ पांच भरत ऐरवत इमहीज, पांच कल्याणक हुवे तिमहीज। पंचासनी सख्या परगडी ॥ मि० ॥ ४ ॥ अतीत अनागत गणतां एम, दोढशें कल्याणक थाये तेम ॥ कुण तिथ छे ए तिथि जे वडी ॥ मि० ॥ ५ ॥ अनत चोवीशी इण परे गिणो, लाभ अनंत उपवासा तणो। ए तिथि सहु तिथि शिर राखडी ॥ मि० ॥ ६ ॥

मौनपणों रह्या श्री मल्लिनाथ, एक दिवस संयम व्रत साथ । मौन तणी प्रवृत्ति इस पडी ॥ मि० ॥ ७ ॥ अठ पुहरी पोसो लीजियें, चोविहार विधिशुं किजियें। पण परमाद न कीजें घडी ॥ मि० ८ ॥ वरस इग्यार कीजें उपवास, जावजीव पण अधिक उल्हास। ए तिथि मोक्ष तणी पावडी ॥ मि० ॥ ९ ॥ उजमणुं कीजें श्रीकार, ज्ञाननां उपगरण इग्यारे इग्यार । करो काउसग्ग गुरु पाये पडी ॥ मि० ॥ १० ॥ देहरे स्नात्र करीजें वली, पोथी पूजीजें मन रली । मुगतिपुरी कीजें ढूकडी ॥ मि० ॥ ११ ॥ मोन इग्यारस महोटुं पर्व, आराध्यां सुख लहियें सर्व । व्रत पच्चक्खाण करो आखडी ॥ मि० ॥ १२ ॥ जेसल शोल इक्याशी समे, कीधुं स्तवन सहू मन गमे । समयसुंदर कहे करो ध्यावडी ॥ मि० ॥ १३ ॥

अमावसका स्तवन ।

वीर सुणो मोरी वीनती, कर जोडी हो कहुं मन-नी वात । बालकनी परे वीनवुं, मोरा सामी हो तुमे त्रिभुवन तात ॥१॥ तुम दरसण विण हुं भम्यो, भव मांहे हो सामी समुद्र मझार । दुःक्ख अनंता में सह्या, ते कहिंता हो किम आवे पार ॥ २ ॥ वी० ॥ पर उपकारी तूं प्रभु, दुःख भाजे हो जग दीन दयाल । तिण तोरे चरणें हुं आवीयो, सामी मुझने हो

निज नयण निहाल ॥ ३ ॥ वी० ॥ अपराधी पिण उद्धार्या, ते कीधो हो करुणा मोरा साम। परम भगत हुं ताहरो, तेने तारो हो नही ढालनो काम ॥४॥ वी० ॥ शूल पाणी प्रति बूझव्या, जिण कीधा हो तुझने उपसर्ग। डंक दीयो चंडकोसीये, तें दीधो हो तसु आठमो सर्ग ॥ ५ ॥ वी० ॥ गोशालो गुण हीनड़ो, जिण बोल्या हो तोरा अवरणवाद। ते बलतो तें राखीयो, शीत लेश्या हो मूंकी सुप्रसाद ॥ ६ ॥ वी० ॥ ए कुण छे इंद्र जालीयो, इम कहितां हो आयो तुम तीर। ते गौतमने तें कीयो, पोतानो हो प्रभुतानो वजीर ॥ ७ ॥ वी० ॥ वचन उत्थाप्या ताहरा, जे झगड्यो हो तुझ साथ जमाल। तेहने पिण पनरे भवे, शिवगामी हो किधो तें कृपाल ॥८॥ वी०॥ ऐमन्तो रिषी जे रम्यो, जल मांहे हो बांधी माटीनी पाल। तिरति मूकी काचली, ते तार्यो हो तेहने ततकाल ॥ ६ ॥ वी०॥ मेघकुमर रिषि दूहव्यो, चित चूको हो चरित्रथी अपार। एकावतारी तेहनें, तें कीधो हो करुणा-भडार ॥ १० ॥ वी० ॥ चार वरस वेश्या घरे, रह्यो मूकी हो संयमनो भार। नंदिषेण पिण उद्धर्यो, सुर पदवी हो दीधी अतिसार ॥ ११ ॥ वी० ॥ पंच महाव्रत परि हरि, गृह वासे हो वसियो वरस चौवीस। ते पिण आर्द्र कुमारने, ते

तारयो हो तोरी एह जगीस ॥ १२ ॥ वी० ॥ राय श्रेणिक राणी चेलणा, रुप देखी हो चित चूका जेह । समवसरण साधु साधवी, ते कीधा हो आराधिक तेह ॥ १३ ॥ वी० ॥ व्रत नहीं नहीं आखडी, नहीं पोसो हो नहीं आदर दीख । ते पिण श्रेणिक रायने, ते कीधो हो सामी आप सरीक ॥ १४ ॥ वी० ॥ इम अनेक ते उधर्या, कहं तोरा हो केता अवदात । सार करो हवे माहरी, मनमांहे हो आणो मोरडी वात ॥ १५ ॥ वी०॥ सूधो संजम नवि पले, नहीं तो हुवो हो मुझ दरसण नाण । पिण आधार छे एटलो, एक तोरो हो धरुं निश्चल ध्यान ॥१६ ॥वी०॥ मेह महि तल वरसतो, नवि जोवे हो सम विषमी ठाम । गिरुआ सहिजे गुण करे, स्वामी सारो हो मोरा वांच्छित काम ॥ १७ ॥ वी० ॥ तुम नामें सुख संपदा, तुम नामें हो दुःख जावे दूर । तुम नामें वांच्छित फले, तुम नामें हो मुझ आणंद पूर, ॥ १८ ॥ वी० ॥ (कलश) इम नगर जेशलमेर मंडण तीर्थंकर चौवीसमो, शासनाधीश्वर सिंहं लंछन सेवतां सुर तरु समो । जिणचंद त्रिशला मात नंदन सकलचंद कला निलो, वाचनाचारिज समयसुंदर संथुण्यो त्रिभुवन तिलो ॥ १९ ॥ वी० ॥

पूर्णिमाका स्तवन ।

(गरवाकी देशी)

श्री सिद्धाचल मंडण स्वामी रे, जग जीवन अंतरजामी रे। ए तो प्रणमुं हूं शिर नामी, जात्रीडा जात्रा नवाणुं करिये रे-करिये तो भवजल तरिये। जात्री०॥१॥ श्री ऋषभ जिनेश्वर राया रे, जिहां पूर्व नवाणुं आया रे। प्रभु समवसर्या सुखदाया। जात्री० ॥ २ ॥ चैत्री पूनम दिन वखाणुं रे, पांच कोडीसु पुंडरीक जाणुं रे। जे पाम्या पद निरवाणुं। जात्री० ॥३॥ नमि विनमि राजा सुख साने रे, वे वे कोडी साधु संघाते रे। ए तो पहोता पद लोकांते। जात्री० ॥४॥ काति पूनमें कर्मने तोडी रे, जिहां सिद्धा मुनि दश कोडी रे। ते तो वंदो वे कर जोडी। जात्री० ॥ ५ ॥ इम भरतेसरने पाटे रे, असंख्याता मुनि थीर थाटे रे। पाम्या मुगति रमणी ए वाटे। जात्री० ॥ ६ ॥ दोय सहस मुनि परिवार रे, थावच्चा सुत सुखकार रे। सयपंच सैलग अणगार। जात्री० ॥७॥ वली देवकी सुत सुजगोस रे। सिद्धा बहु जादव वंश रे। ते प्रणमो रे मन हंस। जात्री० ॥८॥ पांचे-पांडव एणे गिरि आया रे, सिद्धा नव नारद ऋषि राया रे। वली सांब प्रद्युम्न कहाया। जात्री० ॥९॥ ए तीरथ महिमा वंत रे, जिहां साधु सिद्धा अनंत रे।

इम भाखे श्री भगवंत । जात्री० ॥ १० ॥ उज्ज्वल गिरि सभो नहीं कोय रे, तीरथ सघला मैं जोय रे । जे फरस्यां पावन होय । जात्री० ॥ ११ ॥ एकल आहारी सचित्त परिहारी रे, पद चारीने भूमि संथारी रे, शुद्ध समकितने ब्रह्मचारी । जात्री० ॥ १२ ॥ एम छह री जे नर पाले रे, बहु दान सुपात्र आले रे । ते जनम मरण भय टाले । जात्री० ॥ १३ ॥ धन धन ते नरने नारी रे, भेटे विमलाचल एक तारी रे । जाउ तेहनी हूं बलिहारी । जात्री० ॥१४॥ श्रीजिनचंद्रसूरि सुपसाये रे, जिनहर्ष हिए हुलसाये रे । इम विमला-चल गुण गाये । जात्री० ॥ १५ ॥

सिद्धाचलजीका स्तवन ।

भाव धरि धन्य दिन आज सफलो गिणुं, आज मैं सजनी आनंद पायो । हर्ष धरि निजर भरि विमल गिरि निरख करि, रजत मणि कनक मोतीयन वधा-यो ॥ भाव० ॥१॥ पग पग ऊमंग धर पंथ नित पूछतां, धन्य दोय चरण तिहां चलत आयो । आज धन दीह जागी सुकृतकी दशा, आज धन दीह गिरि सुजस गायो ॥ भाव० ॥ २ ॥ दूर दुरगति टली यात्रा विधिशु करी, पुण्य भंडार पोते भरायो । वंदत जिन-राज मणिरंग सुर गिरि शिखर, ऋषभ जिनचंद सुर तरु कहायो ॥ भाव० ॥ ३ ॥

ऋषभ जिनेश्वरका स्तवन ।

ऋषभ जिनेसर दिनकर साहिब, वीनतडी अवधारोरे (जगनातारो, मुझ तारोजी कृपानिधि स्वामी) जग जशवाद प्रकट छे ताहरो, अविचल सुख दातारोरे ॥ ज० मु० ॥ निजगुण भोक्ता परगुण लोप्ता, आतम शक्ति जगायारे ॥ज०॥ अविनाशी अविचल अधिकारी, शिववासी जिन रायारे ॥ ज० मु० ॥२॥ इत्यादिक गुण श्रवणे निसुणी, हूँ तुज चरणे आयोरे ॥ ज० ॥ तुम रीझावण हेतु ततखिण, नाटक खेल मचायोरे ॥ ज० मु० ॥ ३ ॥ काल अनंत रह्या एकेन्द्री, तरु साधारण पामीरे ॥ज०॥ वरस संख्याता वलि विकलेंद्री, वेष धर्या दुःख धामीरे ॥ज० मु० ४॥ सुर नर तिरि वलि नरक तणी गति, पंचेंद्रिपणो धार्योरे ॥ ज० ॥ चौवीसे दण्डक मांही भमतो, अब तो हूं पिण हार्योरे ॥ ज० मु० ॥ ५ भव नाटक नितप्रति कर नवनव, हुं तुझ आगल नाच्योरे ॥ ज० ॥ समरथ साहिब सुरतरु सरिखो, निरखी तुझने जाच्योरे ॥ज० मु०॥६॥ जो मुझ नाटक देखी रिझिया, तो मुझ वछित दीजेरे ॥ज०॥ जो नवि रिंजातो मुझ भासो, वलि नाटक नवि कीजेरे ॥ ज० मु० ॥७॥ लालच धरि हूं सेवा सारुं, तूं दुखडा नवि कापेरे ॥ ज० ॥ दाता सेती सूंब भलेरी, वहिलो उत्तर आपेरे ॥ज०मु०॥८॥

तुझ सरिखा साहिब पिण म्हारे, जो नवि कारज सारे रे ॥ ज० ॥ तो मुझ करम तणी गति अवली, दोष न कोई तुमारो रे ॥ ज० मु० ॥६॥ दीन दयाल दया करि दीजे, शुद्ध समकित सहिनाणी रे ॥ ज० ॥ सुगुण सेवकना वांच्छित पूरो, तेहिज गुण मणि खाणीरे ॥ ज० मु० ॥ १० ॥ वर्ष अढारे गुणतालीसे, जेष्ठ-सुदी सोमवारो रे ॥ ज० ॥ लालचंद प्रतिपद दिन भेट्या, बीकानेर मझारो रे ॥ ज० मु० ॥ ११ ॥

सद्गुरु श्री जिनदत्तसूरिका स्तवन ।

वर लाछ विलाश सुवाश मिलै, गुरु नामें मनरी आश फलै । दोषी दुश्मन दूर टलै, सहसा बहु संपत्ति आश फलै ॥ १ ॥ जय-जय जिनदत्तसूरिंद यति, श्रुतधार कृपालक शीलवती । जसु नामे न रहे पाप रती, जेहनी महिमा जगमांहे अती ॥ २ ॥ शुभ मंगल लील विलाश सदा, दुख रोर दुकाल न होय कदा । आराध्यां आवे सुगुरु मुदा, सुप्रशन हाजर होय जदा तदा ॥ ३ ॥ जिण जीती चोसठ जोग-णियां, वश बावन खेतलवीर कियां । जसु नामे न पडे वीजलियां, भूत प्रेत न कर सके छलबलियां ॥४॥ जिण सिंध सवालख दिस साधी, पंच पीर नदी जिण पुल बांधो । उपगार कीयां कीरत लाधी, वर-सात लीयां गुरु सिद्ध वाधी ॥ ५ ॥ सुत मुगल कियो

सरजीत वहु, पाये लागा नर नार सहू । जिण साधी विद्या वेशलहू. प्रतिबोधी श्रावक कीध सहू ॥ ६ ॥ वडनगरे ब्राह्मण द्वेष धरी, मृत गाय लइ जिण चैत्य धरी । गुरु मंत्रवलें जीवत उधरी, विप्रवेप सहू गुरु पाय परी ॥ ७ ॥ वज्रमय थंभो दोय खंड कियो, पोथी परगट परभाव थियो । विद्या सोवनवरणी सझियो, वर नयर उज्जेणी सुजश लियो ॥ ८ ॥ गुरु हुवड वंसे जीवदया, मंत्री वाछग परसिद्ध थया। वाहडदे कूखे जनम भणूं, ते चवदे विद्या जाण घणूं ॥ ६ ॥ इग्यार वत्तीसें जनम भणूं, इग्यार इगताले दीक्ष थुणूं । युगवर इग्यारें गुणहत्तरें, स्वर्गं वारेसें इग्यारें ॥ १० ॥ जिनवल्लभसूरी पटोधरणं, परभाव उदेसर भयहरणं । नवनिधि लछमी संपति करणं, वलि विकट संकट आरती हरणं ॥ ११ ॥ थुंभ सकल श्री अजमेरे, गढमंडो वर वीकानेरे ॥ सुखदायक श्रीजेशलमेरे, दीपे गुरु गाजीखान डेरे ॥ ॥१२॥ मुलतान नगर महिमा सागे, भावठ दालिद्र दूरे भागे । डेरे असमालखानके सोभागे, गुरु पुर २ में कीरति जागे ॥ १३ ॥ धन २ जे सद्गुरु ध्यान धरे, तेरनवन पूजा जह करें । गच्छ खरतरनी महिमा पसरें, कवि सूरि उदयजिन कीरति करें ॥ १४ ॥

श्री जिनकुशलसूरिजी महाराजका प्रभातिया ।

छत्रपती थांरै पायनमेंजी, सुरनर सारे सेव। ज्योति थांरी जग जागतीजी, दुनियांमें परतिखदेव ॥१॥ हुं तो मोहि रह्योजी, ह्मांरा राज दादैरे दरबार॥ हुंतो०॥ केशर अंबर केवडोजी, कस्तुरि कपूर चंपो चंदन राय। चम्बेली भक्ति करू भरपूर ॥हुतो०२॥ पांगुलियांने पांव समापै, आंधलियांने आंख । रूपहीणांने रूप देवे, दादो पांख हीणांने पांख ॥ हुतो० ३ ॥ चंद पटोधर साहिबोजी, श्री जिनकुशलसूरिंद । आठ पोहर थांने ओलगेजी, रंग घणो राजिंद ॥ हुतो० ४ ॥

उपदेशमाला पोसहकी सज्झाय ।

जग चूडामणिभूओ, उसभो वीरो तिलोय सिरि तिलओ। एगो लोगाइच्चो, एगो चक्खू तिहुअणस्स ॥१॥ संवच्छरमुसभ जिणो, छम्मासे वद्धमाण जिणचन्दो। इह विहरिया निरसणा, जएज्ज एओव माणेणं ॥२॥ जइता तिलोयनाहो, विसहइ बहुयाइं असरिसजणस्स। इय जीयंतकराइं, एस खमा सव्वसाहूणं ॥ ३ ॥ न चइज्जइ चालेउ, महइ महावद्धमाण जिणचन्दो। उवसग्ग सहस्सेहिं वि, मेरु जहा वायगुंजाहिं ॥ ४ ॥ भद्दो विणीय विणओ, पढम गणहरो समत्त सुयनाणी। जाणंतो वि तमत्थं, विम्हिय हियओ सुणइ सव्वं ॥५॥ जं आणवेइ राया, पयइओ

तं सिरेण इच्छन्ति । इय गुरुजण मुह भाणयं, कयंजलि उडेहिं सोयव्वं ॥६॥ जह सुर गणाण इंदो, गहगण तारागणाण जह चंदो । जहय पयाण नरिंदो, गणस्स वि गुरु तहाणंदो ॥ ७ ॥ वालुत्ति महीपालो, न पया परिहवइ एस गुरु उवमा । जं वा पुरओ काउं, विहरंति मुणि तहा सोवि ॥ ८ ॥ पडिरूवो तेहस्सि, जुगप्पहाणागमो महुरवक्को । गम्भीरो धिइमंतो, उवएसपरो य आयरिओ ॥ ९ ॥ अपरिस्सावी सोमो, संगहसीलो अभिग्गहमई य । अविकत्थणो अचव-लो, पसंतहियओ गुरू होई ॥१०॥ कइयावि जिण-वरिंदा, पत्ता अयरामरं पहं दाउं । आयरिएहिं पावयणं, धारिज्जइ संपयं सयलं ॥ ११ ॥ अणुगम्मए भगवई. रायसुयज्जा सहस्स वंदेहिं । तहवि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं ॥ १२ ॥ दिण-दिक्खियस्स दमग रस, अभिमुहा अज्जचंदणा अज्जा । नेच्छइ आसणगहण, सो विणओ सव्व अज्जाणं ॥१३॥ वरससय दिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू । अभिगमण वंदण नमं सणेण. विणएणसो पुज्जो ॥१४॥ धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो । लोएवि पहू पुरिसो, किं पुण लोगुत्तमे धम्मे ॥१५॥ संवाहणस्स रण्णो, तइया वाणारसीइ नयरीए । कन्ना सहस्स महियं, आसी किरूवयं-

तीणं॥१६॥ तहविय सा रायसिरी, उल्लट्टंती न ताइया ताहिं। उयरट्ठिएण इक्के, ण ताइया अंगवीरेण ॥१७॥ महिलाणसु बहुयाण वि, मज्जाओ इह समत्त घर-सारो। रायपुरिसेहिं निज्जइ, जणेवि पुरिसो जहिं नत्थि ॥१८॥ किं परजण बहुजाणा वणाहिं, वरमप्प सक्खियं सुकयं। इह भरहचक्कवट्टी, पसन्न चंदो य दिट्ठंता ॥१९॥ वेसो वि अप्पमाणो, असंजम पएसु वट्टमाणस्स। किं परियत्तिय वेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं ॥२०॥ धम्मं रक्खइ वेसो, संकइ वेसेण दिक्खि-ओमि अहं॥ उम्मग्गेण पडंतं, रक्खइ राया जणवओ य॥२१॥ अप्पा जाणइ अप्पा, जह ट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो। अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावहं होई ॥ २२ ॥ जं जं समयं जीवो, आविस्सइ जेण जेण भावेण। सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२३॥ धम्मो मएण हुंतो, तोनवि सी उन्ह वायविज्ज-डिओ। संवच्छर मणासीओ, बाहुबली तह किलिस्संतो ॥२४॥ नियगमइ विगप्पिय चिंतिएण, सच्छंद बुद्धिचरिएण। कत्तो पारत्तहियं, कीरइ गुरु अणुवए-सेणं ॥२५॥ थद्धो निरोवयारी, अविणीओ गव्विओ निरवणामो। साहुजणस्स गरहिओ, जणेवि वयणि-ज्जयं लहइ ॥२६॥ थोवेण वि सप्पुरिसा, सणंकुमारुव्व केइ बुज्झंति। देहे खणपरिहाणी, जंकिर देवेहिंसे

कहियं ॥ २७ ॥ जइतालव सत्तम सुर, विमाण
वासी वि परिवडंति सुरा । चिंतिज्ज तं सेसं, संसारे
सासयं कयरं ॥२८॥ कह तं भण्णइ सुक्खं, सुचिरेण
वि जस्स दुक्खमल्लि हियए । जं च मरणावसाणे,
भव संसाराणुबंधिं च ॥२९॥ उवएस सहस्सेहिं, बोहि
जंतो न वुज्झई कोई । जह बंभदत्तराया, उदाइनिव
मारओ चेव ॥३०॥ गयकन्न चञ्चलाए, अपरिचत्ताइ
रायलच्छीए । जीवासकम्म कलिमल, भरिय भरातो
पडंति अहे ॥३१॥ वोत्तूण वि जीवाणं, सुदुक्करा इति
पावचरियाइं । भयवंजा सा सासा, पच्चाएसा हु इणमो
ने ॥ ३२ ॥ पडिवज्जिउण दासे, नियए सम्मं च
पायवडियाए । तो किर मिगावईए, उप्पन्नं केवलं
नाणं ॥ ३३ ॥

रातीमयारा पोसहकी सन्झाय ।

निस्सिहि निस्सिहि नमो खमासमणाणं, गोयमा-
इण महामुणिणं । अणुजाणह जिट्ठिज्जा, अणुजाणह
परम गुरु । गुणगणरयणेहि मंडिअसरीरा । बहुपडिपुन्ना
पोरिसि, राईसंथारए ठामि ॥१॥ अणुजाणह संथारं
बाहुवहाणेण वामपासेणं । कुक्कुड पाय पसारणं,
अतर तु पमज्जए भूमि ॥२॥ संकोइय संडासं, उव-
ट्टंतेय काय पडिलेहा । दव्वाई उवओगं, ऊसास
निरुभणालोयं ॥३॥ जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देह-

हिंसगाइ रयणीए। आहार मुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसरियं ॥४॥ आसव कसाय बंधण, कलहा भक्खाण परपरीवाओ। अरइ रई पेसुन्नं, माया मोसं च मिच्छत्तं ॥ ५ ॥ वोसिरिसु इमाइंमु, क्खमग्ग संसग्ग विग्घ भूआइं। दुग्गइ निबंधणाइं, अट्ठारस पावट्ठाणाइं ॥६॥ एगो हं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सवि। एवं अदीणमणसो, अप्पाण मणुसा सए ॥७॥ एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुओ। सेसा मे वाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ८ ॥ संजोग मूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा। तम्हा संजोग संबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ ९ ॥ अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो। जिणपन्न त्तं तत्तं, इयसम्मत्तं मए गहियं ॥१०॥ चत्तारि मंगलं, अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पएणत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहन्ता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपएणत्तो धम्मोलोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पावज्जामि, अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पएणत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। अरिहन्ता मङ्गलं मज्झ, अरिहन्ता मज्झ देवया। अरिहन्ता कित्तिअत्ताणं, वोसिरामि त्ति पावगं ॥ १ ॥ सिद्धाय मङ्गलं मज्झ, सिद्धाय मज्झ

देवया। सिद्धाय कित्तिअत्ताणं,वोसिरामित्ति पावगं ॥२॥ आयरिया मङ्गलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया। आयरिया कित्तिअत्ताणं, वोसिरामित्ति पावगं ॥३॥ उवज्झाया मंगलं मज्झ, उवज्झाया मज्झ देवया। उवज्झाया कित्तिअत्ताणं,वोसिरामित्ति पावगं ॥४॥ साहूणो मंगलं मज्झ, साहूणो मज्झदेवया। साहूणो कित्तिअत्ताणं, वोसिरामित्ति पावगं ॥५॥ पुढवि दग अगणि मारुय, इक्किक्के सत्त जोणि लक्खाओ। वणपत्तेय अणंते, दस चउदस जोणि लक्खाओ ॥१॥ विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो य नारय सुरे सु। तिरिएसु हुंति चउरो, चउदस लक्खाय मणुएसु ॥२॥ खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमं तु मे। मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥ ३ ॥ एवमहं आलोइअ, निन्दिअ गरहिअ दुगंछिअं सम्मं। तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥ ४ ॥ खमिअ खमाविअ, मइ खमिअ सव्वह जीव निकाय। सिद्धहसाख आलोयणह, मज्झह वैर न भाय ॥५॥ सव्वे जीवा कम्मवसु, चउदह राज भमन्तु। ते मइं सव्व खमाविया, मज्झवि तेह खमन्तु ॥ ६ ॥



विधियाँ।

प्रभात कालीन सामायिककी विधि।

दो घड़ी रात बाकी रहे तब पौषधशाला आदि एकान्त स्थानमें जा कर अगले दिन पड़िलेहन किये हुए शुद्ध वस्त्र पहिन कर गुरु न हो तो तीन नमुक्कार गिनकर स्थापनाचार्य स्थापे। बाद खमासमण दे कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' कह कर 'सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुं ?' कहे गुरुके 'पडिलेहेह' कहनेके बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर मुहपत्तिका पडिलेहन करे। फिर खड़े रह कर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक संदिसाहुं ?' कहे। गुरु 'संदिसावेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर फिर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक ठाउं ?" कहे। गुरुके 'ठाएह' कहनेके बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर आधा अङ्ग नवाँ कर तीन नमुक्कार गिनकर कहे कि 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी सामायिक दण्ड उच्चरावो जी।' तब गुरु के 'उच्चरावेमो' कहनेके बाद 'करेमि भंते समाइयं' इत्यादि सामायिक सूत्र तीन वार गुरुवचन-अनुभाषण-पूर्वक पढ़े। पीछे खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'इरियावहियं पड़िक्कमामि ?' कहे। गुरु 'पड़िक्कमह' कहे तब इच्छं' कह कर 'इच्छामि पड़िक्कमिउं' इरियावहिए' इत्यादि इरियावहिय करके एक लोगस्सका काउस्सग्ग कर तथा 'नमो अरिहन्ताणं' कह कर उसको पार कर प्रगट लोगस्स कहे। फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कहकर 'वेसणे संदिसाहुं ?' कहे। गुरु 'संदिसावेह' कहे तब फिर 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'वेसणे ठाउं ?' कहे। और गुरु 'ठाएह' कहे तव 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुं ?' कहे। गुरुके 'संदिसावेह' कहनेके बाद 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय करुं ?' कहे और गुरुके 'करेह' कहे बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक खड़े-ही-खड़े आठ नमुक्कार गिने।

अगर सर्दी हो तो कपड़ा लेनेके लिये पूर्वोक्त रीतिसे खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पगुरण संदिसाहुं ?' तथा 'पगुरण पडिग्गाहुं ?' क्रमश कहे और गुरु 'सदिसावेह' तथा 'पडिग्गाहेह' कहे। तब 'इच्छं' कह कर वस्त्र लेवे। सामायिक तथा पौषधमें कोई वैसा ही व्रती श्रावक वन्दन करे तो 'वंदामो' कहे और अव्रती श्रावक वन्दन करे तो 'सज्झाय करेह' कहे।

रात्रि-प्रतिक्रमणकी विधि।

पहले सामायिक ले कर फिर खमासमण पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'चैत्य वन्दन करूँ ? कहनेके बाद गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कहकर 'जयउ सामि जयउ सामि', का जय 'वियराय' पर्यन्त चैत्य वन्दन करे, फिर खमासमण पूर्वक 'इच्छा०' कह करके 'कुसुमिणदुसुमिणराइयपाय च्छित्तविसोहणत्थ काउस्सग्ग करेमि ?' कहे और गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'कुसुमिणराइयपायच्छितविसोहणत्थ करेमि काउ-स्सग्ग' तथा 'अन्नत्थ ऊससिएण' इत्यादि कह कर चार लोगस्सका 'चंदेसु निम्मलयरा' तक काउस्सग्ग करके 'नमो अरिहन्ताणं' पूर्वक प्रगट लोगस्स पढे।

रात्रिमें मूलगुण सम्बन्धी कोई बडा दोष लगा हो तो 'सागरवर-गम्भीरा' तक काउस्सग्ग करे। प्रतिक्रमणका समय न हुआ हो तो सज्झाय ध्यान करे। अनन्तर समय होते ही एक एक खमासमण-पूर्वक "आचार्य मिश्र, उपाध्याय मिश्र" जगम युगप्रधान वर्तमान भट्टारकका नाम और 'सर्वसाधु' कह कर सबको अलग अलग वन्दन करे। पीछे 'इच्छकारि समस्त श्रावकोंको वंदू" कह कर घुटने टेक कर सिर नवाँ कर दोनों हाथोंसे मुंहके आगे मुहपत्ति रख कर 'सव्वस्स वि राइय०' पढे, परन्तु 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्, इच्छं" इतना न कहे। पीछे 'शक्रस्तव' पढ कर खडे हो कर 'करेमि भंते सामाइय०' कह कर 'इच्छामि ठामि काउस्सग्ग जोमे राइयो०' तथा 'तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर एक लोगस्सका काउस्सग्ग करके उसको पारकर प्रगट

लोगस्स कह कर 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं वंदण०' कह कर फिर एक लोगस्सका काउस्सग्ग कर तथा उसे पार कर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' सूत्र पढ़ कर 'सुअस्स भगवओ' कह कर 'आजूणा चउपहरो रात्रि-सम्बन्धी' इत्यादि आलोयणाका काउस्सग्गमें चिन्तन करे; अथवा आठ नमुक्कारका चिन्तन करे। बाद काउस्सग्ग पार कर 'सिद्धाणं बुद्धाणं' पढ़ कर प्रमार्जन-पूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन करे और दो वन्दना देवे। पीछे 'इच्छा०' कह कर 'राइयं आलोउं ?' कहे। गुरुके 'आलोएह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जो मे राइओ०' सूत्र पढ़ कर प्रथम काउस्सग्गमें चिन्तन किये हुए 'आजूणा' इत्यादि रात्रि अतिचारोंको गुरुके सामने प्रगट करे और पीछे 'सव्वस्स वि राइय' कह कर 'इच्छा०' कह कर रात्रि-अतिचारका प्रायश्चित्त मांगे। गुरुके 'पडिक्कमह' कहनेके बाद 'इच्छं' कहकर 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' कहे। बाद प्रमार्जन-पूर्वक आसनके ऊपर दाहिने जानूको ऊंचा कर तथा बाँये जानूको नीचा करके बैठ जाय और 'भगवन् सूत्र भणुँ ?' कहे। गुरुके 'भणह' कहनेके बाद 'इच्छं' कह कर तीन-तीन या एक-एक बार नमुक्कार तथा 'करेमि भन्ते' पढ़े। बाद 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे राइओ' सूत्र तथा 'वंदित्तु सूत्र' पढ़े। बाद दो वन्दना देकर 'इच्छा०' कह कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं खामेउं ?' कहे। बाद गुरुके 'खामेह' कहनेपर 'इच्छं' कह कर प्रमार्जन-पूर्वक घुटने टेक कर दो बाहू पडिलेहन कर बाँये हाथसे मुखके आगे मुहपत्ति रख कर दाहिना हाथ गुरुके सामने रखे, अनन्तर शरीर नवाँ कर 'जंकिंचि अपत्तियं' कहे। बाद जब गुरु 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कहे तब फिरसे दो वन्दना देवे। और 'आयरिय उवज्झाए' इत्यादि तीन गाथाएँ कह कर 'करेमि भन्ते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे। उसमें वीर-कृत छह-मासी तपका चिन्तन किंवा छह लोगस्स या चौबीस नमुक्कारका चिन्तन करे। और जो पच्चक्खाण करना हो तो मनमें उसका निश्चय करके काउस्सग्ग पारे तथा प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर उकडू आसनसे बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना देकर सकल तीर्थोंको नाम-पूर्वक

नमस्कार करे और 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पसायकरी पच्च-क्खाण कराना जी' कह कर गुरु मुखसे या स्थापनाचार्यके सामने अथवा वृद्ध साधर्मिकके मुखसे प्रथम निश्चयके अनुसार पच्चक्खाण करले। बाद 'इच्छामो अणुसट्ठि' कह कर बैठ जाय। और गुरुके एक स्तुति पढ़ जाने पर मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमो खमासमणाण, नमोऽर्हत्०' पढ़े। बाद 'संसारदावानल' या वरसमयतिमिरतरणि' की तीन स्तुतियाँ पढ़ कर 'शक्रस्तव' पढ़े। फिर खड़े होकर 'अरिहत चेइयाण' कह कर एक नमुक्कारका काउस्सग्ग करे। और उसको 'नमोऽर्हत्' पूर्वक पार कर एक स्तुति पढ़े। बाद 'लोगस्स, सव्वलोए' पढ़ कर एक नमुक्कारका काउस्सग्ग करके तथा पारके दूसरी स्तुति पढ़े। पीछे 'पुक्खरवरदिवड्ढे, सुअस्स भगवओ' पढ़ कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग पारके तीसरी स्तुति कहे। तदनन्तर 'सिद्धाण , बुद्धाण, वेयावच्चगराण' बोलकर एक नमुक्कारका काउस्सग्ग पारके 'नमोऽर्हत्'-पूर्वक चौथी स्तुति पढ़े। फिर 'शक्रस्तव' पढकर तीन खमासमण-पूर्वक आचार्य, उपाध्याय तथा सब साधुओंको वन्दन करे।

यहाँतक रात्रि-प्रतिक्रमण पूरा हो जाता है। और विशेष सिरता हो तो उत्तर दिशाकी तरफ मुख करके सीमन्धर स्वामीका 'कम्मभूमीहि कम्मभूमीहि' से लेकर 'जय वीयराय' तक सपूर्ण चैत्य वन्दन तथा 'अरिहत चेइयाण०' कहे और एक नमुक्कारका काउस्सग्ग करके तथा उसको पारके सीमन्धर स्वामीकी एक स्तुति पढ़े।

अगर इससे भी अधिक सिरता हो तो सिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन करके प्रतिलेखन करे। यही क्रिया अगर सपक्षमें करनी हो तो दृष्टि प्रतिलेखन करे और अगर विस्तारसे करनी हो तो खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कहे और मुहपत्ति पडिलेहन, अंग पडिलेहन, स्थापनाचार्य पडिलेहन, उपधि-पडिलेहन तथा पौषधशालाका प्रमार्जन करके कूडे-कचरेको विधिपूर्वक एकान्तमें रख दे और पीछे 'इरियावहिय' पढ़े।

सामायिक पारनेकी विधि।

खमासमण पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहन करके फिर खमासमण कहे। बाद

'इच्छा' कह कर 'समायिक पारुं' ? कहे। गुरुके 'पुणो वि कायव्वो' कहनेके बाद 'यथाशक्ति' कहकर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'समायिक पारेमि ?' कहे, जब गुरु 'आयारो न मोत्तव्वो' कहे तव 'तहत्ति' कहकर आधा अंग नवाँ कर खड़े-ही-खड़े तीन नमुक्कार पढ़े और पीछे घुटने टेक कर तथा सिर नवाँकर 'भयवं दसन्नभद्दो' इत्यादि पाँच गाथाएँ पढ़े तथा 'सामायिक विधिसे लिया' इत्यादि कहे।

संध्याकालीन सामायिककी विधि।

दिनके अन्तिम प्रहरमें पौपधशाला आदि किसी एकान्त स्थानमें जाकर उस स्थानका तथा वस्त्रका पडिलेहन करे। अगर देरी हो गई हो तो दृष्टि-पडिलेहन कर लेवे। फिर गुरु या स्थापनाचार्यके सामने बैठकर भूमिका प्रमार्जन करके बाईं ओर आसन रखकर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कहकर 'सामायिक लेवा मुहपत्ति पडिलेहुँ ?' कहे। गुरुके पडिलेहेह' कहने पर 'इच्छं' कहकर मुहपत्ति पड़िलेहे। फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा' कहकर 'सामायिक संदिसाहुं, सामायिक ठाउं, इच्छं, इच्छकारि भगवन् पसायकरि दंड उच्चरावो जी 'कहे। बाद तीन वार 'करेमिभन्ते, सामायियं' तथा 'इरियावहियं' इत्यादि काउस्सग्ग तथा प्रगट लोगस्स तक सब विधि प्रभातके सामायिकका तरह करे। बाद नीचे बैठ कर मुहपत्तिका पडिलेहन कर दो वन्दना देकर खमासमण-पूर्वक 'इच्छकारि भगवन् पसायकरि पच्चक्खाण करावो जी' कहे। फिर गुरुके मुखसे या स्वयं तथा किसी बड़ेके मुखसे दिवस चरिमंका पच्चक्खाण करे।

अगर तिविहाहार उपवास किया हो तो वन्दना न देकर सिर्फ मुहपत्ति पडिलेहन करके पच्चक्खाण कर लेवे और अगर चउव्विहाहार उपवास हो तो मुहपत्ति पडिलेहन भी न करे। बादको एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुं ?, सज्झाय करुं ?, तथा 'इच्छं 'यह सब पूर्वकी तरह क्रमशः कहे और खड़े हो कर खमासमण-पूर्वक आठ नमुक्कार गिने। फिर एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'वेसणे संदिसाहुं ?, वेसणे ठाउं ?' तथा 'इच्छं', यह सब क्रमशः पूर्वकी तरह कहे।

इसके बाद यदि वस्त्रकी जरूरत हो तो उसके लिये भी एक एक खमासमण पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पगुरण संदिसाहुँ, पगुरण पडिग्गाहुँ ?' तथा 'इच्छं' यह सब पूर्वकी तरह कहकर वस्त्र ग्रहण कर ले और शुभ ध्यानमें समय बितावे।

दैवसिक-प्रतिक्रमणकी विधि।

पहले यथाविधि सामायिक लेवे बाद तीन खमासमण पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् चैत्य वन्दन करूँ ?' कहे। गुरुके 'करेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जय तिहुअण, जय महायस' कह कर 'शक्रस्तव' कहे। और 'अरिहंत चेइयाणं इत्यादि सब पाठ पूर्वोक्त रीतिसे पढ कर काउस्सग्ग आदि करके चार थुइका देव वन्दन करे। इसके पश्चात् एक एक खमासमण देकर आचार्य आदिको वन्दन करके 'इच्छकारि समस्त श्रावकोंको वंदूं' कहे। फिर घुटने टेक कर सिर नवाँ कर 'सव्वस्स वि देवसिय' इत्यादि कहे। फिर खडे हो कर 'करेमि भन्ते, इच्छामि ठामि काउस्सग्ग जो मे देवसियो०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ कहकर काउस्सग्ग करे। इसमें 'आजूणा चौपहर दिवसमें' इत्यादि पाठका चिन्तन करे। फिर काउस्सग्ग पारके प्रगट लोगस्स पढ कर प्रमार्जन पूर्वक बैठ कर मुहपत्तिका पडिलेहन करके दो वन्दना दे। फिर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसिय आलोयमि ?' कहे। गुरु जब 'आलोएह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'आलोएमि जो मे देवसियो०' आजूणा चौपहर दिवससम्बन्धी०, सात लाख, अठारह पापस्थान' कह कर 'सव्वस्स वि देवसिय, इच्छाकारेण संदिसह भगवन्०' तक कहे। जब गुरु 'पडिक्कमेह' कहे तब 'इच्छं', मिच्छा मि दुक्कडं' कहे। फिर प्रमार्जन-पूर्वक बैठ कर 'भगवन् सूत्र भणुं ?' कहे। गुरुके 'भणह' कहने पर 'इच्छं' कह कर तीन तीन या एक एक बार नमुक्कार तथा करेमि भंते' पढे। फिर 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसियो०' कह कर 'वंदित्तु' सूत्र पढे। फिर दो वन्दना देकर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिन्तर देवसियं खामेउं, इच्छं, ज किंचि अपत्तिय' कह कर फिर दो वन्दना देवे और 'आयरिय उवज्झाए' कह कर

'करेमी भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी' आदि कहकर दो लोगस्स अथवा आठ नमुक्कारका काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर 'सव्वलोए'च्च कह कर एक लोगस्सका काउस्सग्ग करे और उसको पार कर 'पुक्खरवरदी०' सुअस्स भगवओ०' कह कर फिर एक लोगस्सका काउस्सग्ग करे। तत्पश्चात् 'सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअदेवयाए०' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग कर तथा श्रुतदेवताकी स्तुति पढ़ कर 'खित्तदेवयाए करेमि०' कह कर एक नमुक्कारका काउस्सग्ग करके क्षेत्रदेवता की स्तुति पढ़े। बाद खड़े हो कर एक नमुक्कार गिने और प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना देकर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर बैठ जाय। फिर जब गुरु एक स्तुति पढ़ले तब मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमोखमासमणाणं, नमोऽर्हत्सिद्धा०' कहे। बाद श्रावक 'नमोस्तुवर्धमानाय०' की तीन स्तुतियाँ और श्राविका 'संसारदावानल०' की तीन स्तुतियाँ पढ़े। फिर 'नमुत्थणं' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'स्तवन भणु ?' कहे। बाद गुरुके 'भणह' कहने पर आसन पर बैठ कर 'नमोऽर्हत्सिद्धा०' 'पूर्वक बड़ा स्तवन बोले। पीछे एक-एक खमासमण दे कर आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुको वन्दन करे। फिर खमासमण-पूर्वक इच्छा०' कह कर 'देवसि'यपायच्छित्तविसुद्धिनिमित्त' काउस्सग्ग करूँ ? कहे। फिर गुरुके 'करेह' कहनेके बाद 'इच्छं' कह कर 'देवसिअपायच्छित्तविसुद्धनिमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्सका काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर खुद्दोपद्दवउड्डावणनिमित्तं काउस्सग्गं करेमि, अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर खमासमण-पूर्वक स्तम्भन पार्श्वनाथका 'जय वीयराय' तक चैत्य-वन्दन करके 'सिरिथंभणयट्ठियपाससामिणो' इत्यादि दो गाथाएं पढ़ कर खड़े हो कर वन्दन तथा 'अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्सका काउस्सग्ग करके प्रगट-लोगस्स पढ़े।

इस तरह दादा जिनदत्त सूरि तथा दादा जिनकुशल सुरि का अलग अलग काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढे । इसके बाद तीन खमा समण-पूर्वक 'चउक्कसाय०' का 'जय वीयराय' तक चैत्य-वन्दन करे । फिर लघुशान्ति 'सर्वमंगल०' पढ कर पूर्वोक्त रीतिसे सामायिक करे ।

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणकी विधि ।

'वंदित्तु' सूत्र पर्यन्त तो सारी विधि दैवसिक प्रतिक्रमण की तरह करे । बाद खमासमण दे कर 'देवसिय पडिक्कता, इच्छा कारेण संदिसह भगवन् पक्खिय मुहपत्ति पडिलेहुं ?' कहे । बाद गुरु के 'पडिलेहेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर खमासमण पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहन करे और दो वन्दना दे । बाद जब गुरु कहे कि 'पुण्णवन्तो 'देवसिय की जगह 'पक्खिय 'चउमासिय या 'संवच्छरिय' पढना, छींककी जयणा करना मधुर स्वर से प्रतिक्रमण करना, खाँसना हो तो विचार शुद्ध खाँसना और मण्डल में सावधान रहना, तब 'तहत्ति कहे । पीछे खडे हो कर 'इच्छा कारेण संदिसह भगवन् संबुद्धा खमणेणं अब्भुट्ठिओमि अभितर पक्खियं खामेउं ? कहे । गुरु के 'खामेह' कहने पर 'इच्छं, खामेमि पक्खियं' कहे और घुटने टेक कर यथाविधि पाक्षिक प्रतिक्रमणमें 'पनरसण्हं दिवसाणं' 'पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि०' चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें 'चउण्हं मासाणं' अट्ठण्हं पक्खाणं वीसोत्तरसयं राइ दियाणं जं किंचि और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें 'दुवालसण्हं मासाणं चउवीसण्हं पक्खाणं तिन्नसयसट्ठि राईदियाणं जं किंचि०' कहे । गुरु जब 'मिच्छामि दुक्कडं दे, तब अगर दो साधु उपरते हों तो पाक्षिकमें तीन, चातुर्मासिकमें पांच और सांवत्सरिकमें सात साधुओं को खमावे । बाद खडे हो कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खियं आलोउं ? कहे । गुरुके 'आलोएह' कह ने पर इच्छं, आलोएमि जो मे पक्खिओ अइयारो कओ० पढे और बडा अतिचार बोले ।

पीछे 'सव्वस्स वि पक्खिय' को 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् तक कहे। गुरु जब पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिकमें अनुक्रमसे 'चउत्थेण, छट्ठेण, अट्ठमेण पडिक्कमह' कहे, तब इच्छं, मिच्छामि दुक्कड' कहे। बाद दो वन्दना दे। पीछे इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोइय पडिक्कंता पत्तेय खामणेणं, अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउं ? कहे। गुरु के 'खामेह कहने के बाद 'इच्छं', खामेमि पक्खियं' जं किंचि०' पाठ पढ़े और दो वन्दना दे। पीछे 'भगवन् देवसिय आलोइय पडिक्कंता पक्खियं' पडिक्कमावेह' कहे। गुरु जब सम्मं 'पडिक्कमेह' कहे तब 'इच्छं' करेमि भंते सामाइयं', इच्छामि ठामि काउस्सग्गं', जो मे पक्खियो, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे और 'पक्खि सूत्र, सुने।

गुरुसे अलग प्रतिक्रमण किया जाता हो तो एक श्रावक खमासमण पूर्वक 'सूत्र भणुं ?' कह कर 'इच्छं' कहे और अर्थचिन्तन पूर्वक मधुर स्वरसे तीन नमुक्कार-पूर्वक 'वंदित्तु सूत्र' पढ़े और बाकीके सब श्रावक 'करेमि भन्ते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' पूर्वक काउस्सग्ग करके उसको सुने। 'वंदित्तु' सूत्र पूर्ण हो जानेके बाद 'नमो अरिहंताणं' कहकर काउस्सग्ग पारे और खड़े-ही-खड़े तीन नमुक्कार गिन कर बैठ जाय। बाद तीन नमुक्कार, तीन 'करेमि भंते' पढ़ कर 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खियो०' कहके 'वंदित्तु सूत्र' पढ़े। बाद खमासमण पूर्वक इच्छाकारेण संदिसह भगवन् 'मूलगुण-उत्तरगुण-विशुद्धि-निमित्त' काउस्सग्ग करूं ?' कहे। गुरु जब 'करेह कहे. तब 'इच्छं' करेमि भंते, इच्छामि ठामि तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर पाक्षिकमें बारह, चातुर्मासिकमें बीस और सांवत्सरिकमें चालीस लोगस्सका काउस्सग्ग करे। फिर नमुक्कार-पूर्वक काउस्सग्ग पारके लोगस्स पढ़े और बैठ जाय। पीछे मुहपत्ति पडिलेहन करके दो वन्दना दे और 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् समाप्ति खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउँ ? कहे। गुरु जब 'खामेह' कहे

तब 'इच्छं' खामेमि पक्खिय जं किंचि कहे। बाद 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खिय खामणा खामुं ?' कहे और गुरु जब 'पुण्णवतो' तथा चार खमासमण पूर्वक तीन नमुक्कार गिन कर 'पक्खिय समाप्ति खामणा खामेह' कहे, तब एक खमासमण पूर्वक तीन नमुक्कार पढे, इस तरह चार बार करे। गुरुके 'नित्थारगपारगा होह' कहनेके बाद 'इच्छं, इच्छामो अणुसट्ठिं' कहे, इसके बाद गुरु जब कहे कि 'पुण्णवतो पक्खियके निमित्त एक उपवास, दो आयंबिल, तीन निवि, चार एकासना, दो हजार सज्झाय करी एक उपवासकी पेठ पूरना * और 'पक्खिय' के स्थानमें 'देवसिय कहना, तब जिन्होंने तप कर लिया हो वे 'पइट्ठिय' कहें और जिन्होंने तप न किया हो वे 'तहत्ति' कहें। पीछे दो वन्दना देकर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसिय खामेउं ?' पढे। बाद दो वन्दना देकर 'आयरिय उवज्झाए' पढे।

इसके आगे सब विधि देवसिक प्रतिक्रमण की तरह है। सिर्फ इतना विशेष है कि पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणमें श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवताके आराधनके निमित्त अलग अलग तीन बार काउस्सग्ग करे और प्रत्येक काउस्सग्गको पार कर अनुक्रमसे 'कमलदल०, ज्ञानादिगुणयुताना० और यस्या. क्षेत्र ०' स्तुतियाँ पढे। इसके अनन्तर बडास्तवन 'अजितशान्ति' और छोटा स्तवन 'उवसग्गहरं०' पढे। तथा प्रतिक्रमण पूर्ण होनेके बाद गुरुसे आज्ञा लेकर 'नमोऽर्हत' पढे। फिर एक श्रावक बडी 'शान्ति' पढे और बाकीके सब सुनें। जिन्होंने रात्रि पौषध न किया हो, वे पौषध और सामायिक पार करके 'शान्ति' सुनें।

रात्री संथारा विधि।

खमासमण पूर्वक इच्छाकारेण० बहुपुडि पुन्ना पोरिसी ?" इच्छं,

* चउमासियमें इससे दूना अर्थात् दो उपवास, चार आय बिल, छह निवि आठ एकासना और चार हजार सज्झाय। संवच्छरियमें उससे तिगुना अर्थात् तीन उपवास, छह आय बिल, नौ निवि बारह एकासना और छह हजार सज्झाय ऐसा कहते हैं।

कहकर खमासमण देवे और "इरिया वहिय" पढ़े। इसके बाद खमा-समण-पूर्वक इच्छाकारेण० राईसंथारा मुहपत्ति पडिहलेहुं? 'इच्छं' कहकर मुहपत्ति पडिलेहण करे। बाद खमासमण-पूर्वक इच्छाकारेण० राईसंथारा संदिसाहुं? 'इच्छ" कहकर खमासमण-पूर्वक इच्छाकारेण० राईसंथारा ठाउं?'इच्छ" कहकर फिर खमासमण-पूर्वक इच्छाकारेण० चैत्य-वन्दन करूं?" इच्छं', कहकर 'चउक्कसाय, नमुत्थुणं' यावत जयवीयराय पर्यन्त चैत्य-वन्दन करे। बाद "निस्सही ३ णमोखमासमणाणं गोयमाइणं महामुणिणं" तीन नवकार, तीन करेमी भन्ते" कह कर 'अणुजाणह जिट्ठिज्जा' आदि राई संथाराकी गाथायें कहे और अन्तमें सात नमुक्कारका चिन्तवन करे।

पच्चक्खाण पारनेकी विधि।

खमासमण देकर इरियावहिय पढ़े। पीछे खमा० इच्छा० पच्चक्खाण पारवा मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं', कहकर मुहपत्ति पडिलेहण करे। पीछे खमा० इच्छा० पच्चक्खाण पारुं? यथाशक्ति खमा० इच्छा० पच्चक्खाण पारेमि? तहत्ति कह कर मुट्ठी बन्द कर एक नवकार गिने। बाद जो पच्चक्खाण किया हो उस पच्चक्खाणका नाम लेकर पच्चक्खाण पारनेका पाठ बोलकर एक नवकार गिने। अनन्तर खमासमण देकर इच्छा० चैत्य-वन्दन करूं? इच्छं', कहकर जयउ सामियका जय वीयराय० पर्यंत चैत्य-वंदन करे।

देववन्दनकी विधि।

खमा० इच्छा० चैत्य-वन्दन करूं? इच्छं', कह कर चैत्य-वन्दन नमुत्थुणं कहे। बाद खमासमण देकर इरियावहिय पढ़े। पीछे "खमा० इच्छा० चैत्य-वन्दन करूं? इच्छं', कह कर चैत्यवन्दन" करे। बाद जं किंचि नमुत्थुणं कहकर चार थुईसे देव वांदे। बाद नमुत्थुणं कहकर पुनः चार थुईसे देव वांदे। बाद जयवीयराय पर्यंत चैत्य-वन्दन करे; फिर नमुत्थुणं का पाठ पढ़े।

पोसहका पच्चक्खाण।

करेमि भंते पोसहं आहार पोसह देसओ सव्वओ वा। सरीर सक्कार पोसहं सव्वओ बम्भचेर पोसहं सव्वओ अव्वावार पोसहं सव्वओ चउविहे पोसहे सावज्जं जोग पच्चक्खामि जाव दिवस अहोरत्तं वा पज्जुवासामि दुविहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि तस्सभंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पोसह संध्या संघर्ष-अतिचार।

ठणेकमणे चक्रमणे आउत्ते अणाउत्ते हरियक्काय संघट्टे बीयकाय संघट्टे थावरकाय संघट्टे छप्पइया संघट्टे सव्वस वि दैवसिय दुच्चितिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिय इच्छाकारेण संदिस्स भगवन् इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कड।

पोसह रात्रि अतिचार।

सथारा उवट्टणकी आउट्टणकी परिअट्टणकी पसारणकी छप्पइ आसंघट्टणकी अचक्खु विसयकायकी, सव्वस्स वि राइये दुच्चितिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिय इच्छाकारेण संदिस्सह भगवन् इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

चौवीस थंडिला पडिलेहण-पाठ।

आगाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहियासे १ आगाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहियासे २ आगाढे दूरे उच्चारे पासवणे अणहियासे ३ आगाढे आसन्ने पासवणे अणहिआसे ४ आगाढे मज्झे पासवणे अणहिआसे ५ आगाढे दूरे पासवणे अणहियासे ६ आगाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे ७ आगाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे ८ आगाढे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ९ आगाढे आसन्ने पासवणे अहियासे १० आगाढे मज्झे पासवणे अहियासे ११ आगाढे दूरे पासवणे अहियासे १२ अणागाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहियासे १३ अणागाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहियासे १४ अणागाढे दूरे

उच्चारे पासवणे अणहियासे १५ अणागाढे आसन्ने पासवणे अणहियासे १६ अणागाढे मज्झे पासवणे अणहियासे १७ अणागाढे दूरे पासवणे अणहियासे १८ अणागाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे १९ अणागाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे २० अणागाढे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे २१ अणागाढे आसन्ने पासवणे अहियासे २३ अणागाढे दूरे पासवणे अहियासे २४।

पोसह लेनेकी विधि।

पोसहके उपगरण लेकर उपाश्रयमें जाये। बाद सामायिककी विधिके अनुसार स्थापना चार्यकी स्थापना करके विधि-पूर्वक गुरुवंदन करे। बाद खमासमण देकर इरियावहिय पढ़े। पीछे खमा० इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पोसह मुहपत्ति पडिलेहु ? इच्छं, कह कर मुहपत्ति पडिलेहण करे। बाद खमा० इच्छा० पोसह संदिस्साहुँ ? इच्छं, खमा० इच्छा० पोसह ठाउं ? इच्छं, कहकर खड़े हो, हाथ जोड़कर तीन नवकार गिने। बाद इच्छकार भगवन्! पसाय करी पोसह दंडक उच्चरावोजी। (यदि आठ प्रहरका पोसह लेना हो तो "दिवसं" कहे, और रात्रिका लेना हो तो "रत्त" कहे) बाद जो वडा आदमी हो वह करेमि-भंते पोसहं० इत्यादि पोसहका पच्चक्खाण तीनवार उच्चरावे—यदि कोई वड़ा न हो तो आप तीनवार उचर लेवे। बाद खमा० इच्छा० सामायिक मुहपत्ति पडिलेहु ? इच्छं, कहकर मुहपति पडिलेहण करे। पीछे खमा० इच्छा० सामायिक संदिस्साहुँ ? इच्छं, इत्यादिक सामायिककी विधिके अनुसार पोसहकी विधि जानना। परन्तु इरियावहिय न पढ़े। पांगरणाके आदेशके बाद खमा० इच्छा० बहुवेलं संदिस्साहुं ? इच्छं, खमा० इच्छा० बहुवेलं करूं ? इच्छं, पोसह लिये बाद राई प्रतिक्रमण करे तो प्रतिक्रमणमें चार थुइसे देव वांदे। बाद नमुत्थूणं कह कर बहु वेलका आदेश लेवे। अनन्तर आचार्यमिश्रं इत्यादि कहे।

पोसह कृत्यकी विधि।

पहले पोसह लेनेके बाद पड़िलेहणके समय प्रभात पड़िलेहणकी

विधिसे पडिलेहण करे। पीछे गुर्वादिक विद्यमान हो तो विधिपूर्वक वंदना करे। बाद पच्चक्खाण करके बहुवेलका आदेश लेवे, बाद देव-दर्शन करनेको मन्दिरमें जावे, (जिसने पोसह किया हो वह यदि देवदर्शन न करे तो दो या पाँच उपवासके प्रायश्चित्तका भागी होता है) अनन्तर विधि सहित चैत्य-वंदन करके पच्चक्खाण करे। उपाश्रय और मंदिरसे निकलते समय तीनवार आवस्सही कहे। और प्रवेश करते समय तीनवार निस्सीही कहे। लघुनीति और बडी नीति परठनी हो तो पहिले "अणुजाणह जस्स गो" कहे, पीछे से तीनवार 'वोसिरे' कहे। मंदिर जाकर उपाश्रयको आवे और लघुनीति बडिनीति करके पीछे उपाश्रयमें आवे। निद्रा या प्रमाद आगया हो तो इत्यादि कार्योंमें इरिया वहिय पढे। मंदिरसे उपाश्रयमें आकर गुरुका सयोग हो तो व्याख्यान सुने। बाद पौन प्रहर दिन चढने पर उग्घाडा पोरसी भणावे यथा— खमा० इच्छा० उग्घाडापोरसी० इच्छ, कह कर खमा० इरियावहिय पढे। पीछे खमा० इच्छा० उग्घाडा पोरसी मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छ, कहकर मुहपत्ति पडिलेहण करे। बाद कालवेलामें मन्दिरमें अथवा उपाश्रयमें विधिके अनुसार पच शक्रस्तवसे देववदन करे। बाद जल आदि पीनेकी इच्छा हो तो पच्चक्खाण पारनेकी विधिके अनुसार पच्चक्खाण पार कर जल आदिक लेवे। पीछे चौथे प्रहरमें सध्या-पडिलेहणकी विधिके अनुसार पडिलेहण करे। रात्रिका पोसह लेने-वाला भी पोसहकी विधिके मुताबिक पोसह लेकर पडिलेहण करे॥ रात्रि पोसहवाला प्रतिक्रमण आदिमें इरियावहिय पढ कर चौवीस थंडिला पडिलेहण करे। प्रतिक्रमणमें सात लाख, अठारह पापस्थानक, ज्ञान-दर्शन० अनन्तर सव्वस्स वि देवसिय ठाणेकमणे चकमणे इत्यादि पोसह अतिचार पढे। जिसने दिनका पोसह न लिया हो और रात्रिका लिया हो तो वह सात लाख आदि बोले। प्रतिक्रमण करनेके बाद सज्झाय का ध्यान करे। प्रहर रात्रि जाने पर विधिके अनुसार संथारा पोरसी पढ कर विधिपूर्वक शयन करे। पीछली रात्रिको ऊठकर नवकार मन्त्र

गिने। बाद इरियावहिय पढ़ कर खमासमण-पूर्वक कुसुमिण दुसुमिण का काउस्सग्ग करे। (पोसहवाला कुसुमिण दुसुमिणका काउस्सग्ग पहले करे, पीछे चैत्य-वन्दन करे) सात लाखकी जगह संथारा उवट्टण इत्यादि पोसह अतिचार बोले। बाद प्रभात-पडिलेहणकी विधिके अनुसार पडिलेहण करे। तदनन्तर गुर्वादिकको वन्दन करके पोसह पाले।

पोसहमें रात्रि मुहपत्ति पडिलेहण-विधि।

गुरु महाराजके सामने खमासमण देकर इरियावहिय पढ़े। बाद खमा० इच्छा० राइमुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं, कहकर मुहपत्ति पडिलेहण करे। बाद दो वन्दन दे कर इच्छा० राइयं आलोउं ? इच्छं, आलोएमि जो मे राइओ कहकर विधि-पूर्वक गुरु वन्दन करे। अनन्तर पचक्खाण लेकर बहुवेलका आदेश लेवे।

पोसह पारनेकी विधि।

खमासमाण देकर इरियावहिय पढ़े। बाद खमासमण-पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहण करे। पीछे खमा० इच्छा० पोसह पारुं ? यथाशक्ति, खमा० इछा० पोसह पारेमि ? तहत्ति कहकर दाहिना हाथ नीचे रख कर तीन नवकार गिने। पीछे खमा० देकर मुहपत्ति पडिलेहण करे। पीछे खमा० इच्छा० सामायिक पारुं ? यथाशक्ति, खमा० इच्छा० सामायिक पारेमि ? तहत्ति कह कर दाहिना हाथ नीचे रख, तीन नवकार गिन कर भयवं दसण्ण भद्दो का पाठ पढ़े। पीछे दाहिना हाथ स्थापनाचार्यजीके सामने सीधा रख कर तीन नवकार गिने, (पोसह और समायिक पारनेका पाठ एक ही बार कहा जाता है) यानी दोनोंके पारनेका पाठ एक ही है।

देसावगासिक लेने और पारनेकी विधि।

देसावगासिक लेनेकी विधि पोसह लेनेकी विधिके अनुसार है। परन्तु पोसह लेनेके आदेशमें देसावगासिकका आदेश लेना चाहिये।

जैसे—देसावगासिक मुहपत्ति पडिलेहुं ? देसावगासिक संदिसाहु ? देसावगासिक ठाऊं ? देसावगासिक दृढक उच्चरावोजी ? कहकर करे-मिभते पोसहके पच्चक्खाणके बदले अहन्नं भंते ! तुह्माणं समीवे देसावगासियं पच्चक्खामि इत्यादि देसावगासिकका पच्चक्खाण तीन बार उचरे। बहुवेलका आदेश न लेवे। देसावगासिक जघन्यसे दो सामायिकका और उत्कृष्टसे १५ सामायिकका होता है।

देसावगासिक पारनेकी विधि पोसह पारनेकी विधिके अनुसार समझना। जैसे, देसावगासिक पारुं ? पारेमि ? इत्यादि सामाइय पोसह संठियस्सकी जगह सामाइय देसावगासिय संठियस्स इत्यादि पाठ पढना।

छींकादि दोष-निवारण-विधि।

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण करते समय यदि छींक आ जाय तो प्रतिक्रमण कर लेनेके बाद खमासमण पूर्वक इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! "अपशुकन दुर्निमित्त उड्डावण निमित्तं करेमि काउस्सगं" कहकर अन्नत्थ, बोल कर चार लोगस्सका काउस्सग्ग करे। अनन्तर प्रकट लोगस्स पढे। इसी तरह बिल्ली आदिके लिये भी समझ लेना चाहिये।

वृहत् शान्ति।

भो भो भव्याः शृणुत वचनं प्रस्तुतं सर्वमेतद्,
ये यात्रायां त्रिभुवनगुरोरार्हता भक्तिभाजः।
तेषां शान्तिर्भवतु भवतामर्हदादिप्रभावा-,
दारोग्यश्रीधृतिमतिकरी क्लेशविध्वंसहेतुः ॥१॥

अर्थ—हे भव्य जनो, आप यह सब समयोपयोगी कथन सुनिये। जो आर्हत (जैन) तीन जगत के गुरु श्रीतीर्थङ्कर की जन्माभिषेक-यात्रा के विषय में भक्ति रखते हैं, उन सब महानुभावों को अरिहन्त, सिद्ध आदिके प्रभाव से शान्ति मिले; जिस से कि आरोग्य, संपत्ति, धीरज और बुद्धि प्राप्त हो तथा क्लेशोंका नाश हो ॥ १ ॥

भो भो भव्यलोका इह हि भरतैरावतविदेहसंभवानां समस्ततीर्थकृतां जन्मन्यासनप्रकम्पानन्तरमवधिना विज्ञाय सौधर्माधिपतिः सुघोषाघण्टाचालनानन्तरं सकलसुरासुरेन्द्रैः सह समागत्य सविनयमर्हद्भट्टारकं गृहीत्वा गत्वा कनकाद्रिशृंगे विहितजन्माभिषेकः शान्तिमुद्घोषयति ततोऽहं कृतानुकारमिति कृत्वा महाजनो येन गतः स पन्थाः इति भव्यजनैः सह समागत्य स्नात्रपीठे स्नात्रं विधाय शान्तिमुद्घोषयामि तत्पूजायात्रास्नात्रादि महोत्सवानन्तरमिति कृत्वा कर्णं दत्वा निशम्यतां स्वाहा।

अर्थ—हे भव्य लोग इस लोक के अन्दर भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में पैदा होने वाले सभी तीर्थंकरों के जन्म के समय सौधर्म नामक प्रथम देवलोक के इन्द्र का आसन कम्पित होता है। इससे वह अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगा कर उस कम्पन का कारण, जो तीर्थंकर का जन्म है, उसे जान लेता है और इस के बाद अपनी सुघोषा नामक घण्टा को बजवाता है। घण्टा के बजते ही अनेक सुर तथा असुर इकट्ठे हो जाते हैं। फिर उन सब सुर-असुरों के साथ वह इन्द्र जन्म-स्थानमें आ कर विनयपूर्वक भावी अरिहन्त—उस बालक-को उठा लेता है और सुमेरु पर्वत के शिखर पर जा कर जन्माभिषेक करके शान्ति की घोषणा करता है। इस कारण मैं भी भव्य जनों के साथ मिल कर स्नात्रपीठ—स्नान की चौकी—पर स्नात्र करके शान्ति की घोषणा करता हूँ। क्योंकि सब कोई किये हुए कार्य का अनुकरण करते हैं और महाजन—बड़े लोग—शिष्ट जन—जिस मार्ग पर चले हों, वही औरों के लिये मार्ग बन जाता है। इसलिये सब कोई कान लगा कर सुनिये, स्वाहा।

ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां प्रीयन्तां भगवन्तोऽर्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रिलोकाद्युद्योतकराः।

अर्थ—ओं, यह दिन परम पवित्र है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीन लोक के नाथ, तीन लोक से पूजित, तीनों लोक के पूज्य, तीनों लोक का ऐश्वर्य धारण करने वाले और तीनों लोक में ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले, ऐसे जो अरिहन्त भगवान हैं, वे बार-बार प्रसन्न हों।

ॐ श्री केवलज्ञानि-निर्वाणि-सागर-महायश-विमल-सर्वानुभूति-श्रीधर-दत्त-दामोदर-सुतेज-स्वामि मुनिसुव्रत-सुमति-शिवगति-अस्ताग-नमीश्वर-अनिल यशोधर-कृतार्थ-जिनेश्वर-शुद्धमति-शिवकर-स्यन्दन-संप्रति इति एते अतीत-चतुर्विंशति-तीर्थंकराः॥

अर्थ—ओं श्री केवलज्ञानि, निर्वाणि, सागर, महायश, विमल, सर्वानुभूति, श्रीधर, दत्त, दामोदर, सुतेज, स्वामि, मुनिसुव्रत, सुमति, शिवगति, अस्ताग, नमीश्वर, अनिल, यशोधर, कृतार्थ, जिनेश्वर, शुद्धमति, शिवकर, स्यन्दन, सप्रति—ये अतीत चौवीसीके तीर्थंकर हैं।

ॐ श्री ऋषभ-अजित-संभव-अभिनन्दन-सुमति पद्मप्रभ-सुपार्श्व- चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त धर्म-शान्ति-कुन्थु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्द्धमान इति एते वर्तमान जिनाः॥

अर्थ—ओं, श्री ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ,

श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान (महावीर स्वामी) पर्यन्त ये चौवीस वर्तमान जिनेश्वर हैं।

ॐ श्रीपद्मनाभ-शूरदेव-सुपार्श्व-स्वयंप्रभ-सर्वानुभूति-देवश्रुत-उदय-पेढाल-पोट्टिल-शतकीर्ति-सुव्रत-अमम-निष्कषाय-निष्पुलाक-निर्मम-चित्रगुप्त-समाधि संवर-यशोधर-विजय-मल्लि-देव-अनन्तवीर्य्य-भद्रंकर-इति एते भावितीर्थंकराः

अर्थ—ओं श्री पद्मनाभ, शूरदेव, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, सर्वानुभूति, देवश्रुत, उदय, पेढाल, पोट्टिल, शतकीर्ति सुव्रत, अमम, निष्कषाय निष्पुलाक, निर्मम, चित्रगुप्त, समाधि, संवर, यशोधर, विजय, मल्लि, देव, अनन्तवीर्य्य, भद्रंकर—ये भावी तीर्थंकर हैं।

ॐ मुनयो मुनिप्रवरा रिपु-विजय-दुर्भिक्ष-कान्तारेषु दुर्ग-मार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यम्। ॐ श्री नाभि जितशत्रु-जितारि-संवर-मेघ-धर-प्रतिष्ठ-महसेन-सुग्रीव-दृढ़रथ-विष्णु-वासुपूज्य-कृतवर्म-सिंहसेन-भानु विश्वसेन-सूर-सुदर्शन-कुम्भ-सुमित्र-विजय- समुद्र-विजय-अश्वसेन-सिद्धार्थ इति एते वर्त्तमान चतुर्विंशति जिन-जनकाः।

अर्थ—ओं, मुनियोंमें जो प्रधान मुनि हैं वे, शत्रुओंपर विजय पानेमें, अकालके समय, घने जङ्गलोंमें, और विकट मार्गोंमें हम सब लोगोंकी निरंतर रक्षा करें। ओं, श्री नाभि, जितशत्रु, जितारि, संवर, मेघ, धर प्रतिष्ठ, महसेन, सुग्रीव, दृढ़रथ, विष्णु, वासुपूज्य, कृतवर्म, सिंहसेन,

भानु, विश्वसेन, सूर, सुदर्शन, कुम्भ, सुमित्र, विजय, समुद्र विजय, अश्वसेन, सिद्धार्थ-ये वर्त्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके पिता हैं ।

ॐ श्री मरुदेवा-विजया-सेना-सिद्धार्था-सुमंगला सुसीमा-पृथिवीमाता-लक्ष्मणा-रामा-नन्दा-विष्णु-जया-श्यामा-सुव्रता-अचिरा-श्री-देवी-प्रभावती-पद्मा-वप्रा-शिवा-वामा,-त्रिशला इति एते वर्त्तमान-जिन-जनन्यः ॥

अर्थ—ओं श्री, मरुदेवी, विजया, सेना, सिद्धार्था, सुमगला, सुसीमा, पृथिवीमाता, लक्ष्मणा, रामा, नन्दा, विष्णु, जया, श्यामा, सुयशा, सुव्रता, अचिरा, श्री, देवी, प्रभावती, पद्मा, वप्रा, शिवा, वामा, त्रिशला ये वर्त्तमान, जिनेश्वर देवोंकी माताये हैं ।

ॐ श्रीगोमुख-महायक्ष-त्रिमुख-यक्षनायक-तुम्बुरु-कुसुम-मातंग-विजय-अजित-ब्रह्मा-यक्षराज-कुमार-षण्मुख-पाताल-किन्नर-गरुड-गन्धर्व-यक्षराज-कुबेर-वरुण-भृकुटि-गोमेध-पार्श्व-ब्रह्मा-शान्ति इति एते वर्त्तमान जिन-यक्षाः ॥

अर्थ—ओं श्रीगोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षनायक, तुम्बुरु, कुसुम, मातङ्ग, विजय, अजित, ब्रह्मा, यक्षराज, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षराज, कुबेर, वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व, ब्रह्म, शान्ति ये वर्त्तमान, तीर्थंकरोंके यक्ष हैं ।

ॐ चक्रेश्वरी-अजितबला-दुरितारि-काली-महाकाली-श्यामा-शान्ता-भृकुटि-सुतारका-अशोका-मानवी-चण्डा-विदिता-अंकुशा-कन्दर्पा-निर्वाणी-बला-धारिणी-

धरणप्रिया-नरदत्ता-गान्धारी-अम्बिका-पद्मावती-सिद्धायिका इति एते वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थंकर शासनदेव्यः ।

अर्थ—ओं चक्रेश्वरी,अजितबला, दुरितारि,काली, महाकाली,श्यामा, शान्ता,भृकुटि,सुतारका,अशोका, मानवी,चण्डा,विदिता, अङ्कुशा,कन्दर्पा, निर्वाणी,बला,धारिणी,धरणप्रिया,नरदत्ता,गान्धारी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायिका, ये वर्त्तमान, चौबीस तीर्थंकरोंकी शासन देवीयें हैं ।

ॐ ह्रीं श्रीं धृति-कीर्ति-कान्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-मेधा-विद्या-साधन-प्रवेशन-निवेशनेषु सुगृहीतनामानो जयन्तु ते जिनेन्द्राः ।

अर्थ—ओं, ह्रीं श्रीं धीरज, मनन-शक्ति, यश, सुन्दरता, ज्ञान-शक्ति, संपत्ति, धारण-शक्ति और शास्त्र-ज्ञान की साधना करते समय तथा साधना की विधि में प्रवेश करते समय तथा उसमें स्थिर होते समय साधक लोग जिन के नाम को विधिपूर्वक पढ़ते हैं, वे जिनेश्वर जयवान् रहें ।

ॐ रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्रशृङ्खला-वज्रांकुशा-चक्रेश्वरी-पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी-गान्धारी-सर्वास्त्रा-महाज्वाला-मानवी-वैरोट्या-अच्छुप्ता-मानसी-महामानसी एता षोडशविद्यादेव्यो: रक्षन्तु मे स्वाहा ।

अर्थ—ओं, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, वज्राङ्कुशा, चक्रेश्वरी पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रा महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी नामक, जो सोलह विद्याधिष्ठायिका देवियां हैं, वे तुम लोगों की रक्षा करें ।

ॐ आचार्योपाध्यायप्रभृतिचातुर्वर्णस्य श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु, ओं तुष्टिर्भवतु, पुष्टिर्भवतु।

अर्थ—ॐ, आचार्य, उपाध्याय आदि जो चतुर्वर्ण साधुसंघ है, उसे शान्ति, तुष्टि और पुष्टि प्राप्त हो।

ॐ ग्रहाश्चन्द्र-सूर्याङ्गारक-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनैश्चर-राहु-केतुसहिताः सलोकपालाः सोम-यम-वरुण-कुबेर-वासवादित्य-स्कन्द विनायक ये चान्येऽपि ग्रामनगरक्षेत्रदेवतादयस्ते सर्वे प्रीयन्ता प्रीयन्तां अक्षीणकोपकोष्ठागारा नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा।

अर्थ—ओं, चन्द्र, सूर्य, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु, ये नौ महाग्रह तथा अन्य सामान्य ग्रह, लोकपाल, सोम, यम, वरुण, कुबेर, वासव (इन्द्र), आदित्य, स्कन्द और विनायक तथा जो दूसरे गाँव, शहर और क्षेत्र के देव आदि हैं, वे सब अत्यन्त प्रसन्न हों और राजा लोग अटूट खजाने तथा कोठार वाले बने रहें, स्वाहा।

ॐ पुत्र-मित्र-भ्रातृ-कलत्र-सुहृत-स्वजन-संबन्धि-बन्धुवर्गसहिताः नित्यं चामोदप्रमोदकारिणः अस्मिंश्च भूमण्डले आयतननिवासिनांसाधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाणां रोगोपसर्गव्याधिदुःखदौर्मनस्योपशमनाय शान्तिर्भवतु।

अर्थ—ओं, तुम लोग अपने अपने पुत्र, मित्र, भाई, स्त्री, हितैषी, कुटुम्बी, रिश्तेदार और स्नेही वर्गसहित हमेशा आमोद प्रमोद करने वाले खुश बने रहो। तथा इस भूमण्डल (पृथ्वी) पर अपनी अपनी मर्यादा में निवास करने वाले जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाएँ हैं, उन के रोग, परीषह, व्याधि, दुःख, दुर्भिक्ष और मनोमालिन्य (विषाद) की उपशान्ति के लिये शान्ति हो।

ॐ तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि-मांगल्योत्सवा भवन्तु सदा प्रादुर्भूतानि [दुरितानि] पापानि शाम्यन्तु शत्रवः पराङ्मुखा भवन्तु स्वाहा ।

अर्थ—ओं, तुष्टि, पुष्टि, समृद्धि, वृद्धि, मंगल और उत्सव हों तथा जो कठिन पाप कर्म उदयमान हुए हों, वे सदाके लिये शान्त हो जांय और जो शत्रु हैं, वे पराङ्मुख हो जायँ अर्थात् हार मानकर अपना मुख फेर लेवें, स्वाहा ।

श्रीमते शान्तिनाथाय, नमः शान्तिविधायिने ।
त्रैलोक्यस्यामराधीश, मुकुटाभ्यर्चितांह्रये ॥१॥
शांतिः शांतिकरः श्रीमान्, शांतिं दिशतु मे गुरुः ।
शांतिरेव सदा तेषां, येषां शांतिर्गृहे गृहे ॥२॥
ओं उन्मृष्टरिष्टदुष्ट-गृहगतिदुस्स्वप्नदुर्निमित्तादि ।
संपादितहितसंप, न्नामग्रहणं जयतु शान्तेः ॥ ३ ॥
श्रीसंघपौरजनपद, राजाधिपराजसन्निवेशानाम् ।
गोष्ठिकपुरमुख्यानां, व्याहरणैर्व्याहरेच्छांतिम् ॥ ४ ॥

श्रीश्रमणसंघस्य शांतिर्भवतु, श्रीपौरलोकस्य शान्तिर्भवतु, श्रीजनपदानां शांतिर्भवतु, श्रीराजाधिपानां शांतिर्भवतु, श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु, श्रीगोष्ठिकानां शांतिर्भवतु, ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथाय स्वाहा ।

अर्थ—ओं, इन्द्रोंके मुकुटोंसे जिसके चरण पूजित हैं, अर्थात् जिसके चरणोंमें इन्द्रोंने सिर झुकाया है और जो तीनों लोकमें शान्ति करने वाला है, उस श्रीमान् शान्तिनाथ भगवानको नमस्कार हो ॥ १ ॥

शान्तिकारक और महान् ऐसे श्रीशान्तिनाथ प्रभु मुझको शान्ति देवें, जिनके घर घरमें शान्तिनाथ विराजमान हों, अर्थात् जो शान्तिनाथको पूजा प्रतिष्ठा करते हैं, उनको सदा शान्ति ही बनी रहती है ॥२॥

अरिष्ट (विघ्न), दुष्ट ग्रहोंकी गति, अशुभ स्वप्न और अशुभ शकुन आदि निमित्त जिसके कारण दूर हो जाते हैं, अर्थात् उनका बुरा प्रभाव जिससे मिट जाता है और जिसके प्रभावसे हित (भलाई) तथा सम्पत्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो शान्तिनाथ भगवान्‌के नामका उच्चारण है, उसकी जय वर्तती है ॥ ३ ॥

संघ, जगत्, जनपद, राजाधिप, राजसन्निवेश, गोष्ठिक और पुरमुख्योंके नामसे उच्चारणके साथ शान्तिपदका उच्चारण करना चाहिये ॥ ४ ॥ जैसे —

श्रीश्रमणसंघको शान्ति मिले, नगरनिवासी जनोंमें शान्ति हो, देशवासियोंको शान्ति मिले, राजाओंके स्वामी अर्थात् सम्राटोंको शान्ति मिले, राजाओंके निवासोंमें शान्ति हो, सभ्य लोगोंमें शान्ति हो, और ओं स्वाहा, ओं स्वाहा ओं श्री पार्श्वनाथाय स्वाहा ।

एषा शान्तिः प्रतिष्ठायात्रास्नात्राद्यवसानेषु शांतिकलशं गृहीत्वा कुङ्कुमचन्दनकर्पूरागुरुधूपवासकुसुमाञ्जलिसमेतः स्नात्रपीठे श्रीसंघसमेतः शुचिशुचिवपुः पुष्पवस्त्रचन्दनाभरणाऽलंकृतः पुष्पमालां कण्ठे कृत्वा शान्तिमुद्घोषयित्वा शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमिति ।

अर्थ—प्रतिष्ठा, यात्रा और स्नात्र आदि उत्सवोंके अन्तमें यह शांति पढ़नी चाहिये । [इसकी विधि इस प्रकार है —] शान्ति पढ़ने वाला शान्ति-कलशको ग्रहण करके कुङ्कुम, चन्दन, कपूर और अगरके धूपके सुवाससे युक्त हो कर तथा अञ्जलिमें फूल लेकर स्नात्र भूमिमें श्रीसंघके साथ रह कर शरीरको अतिशुद्ध बनाकर पुष्प, वस्त्र, चन्दन और आभू-

वर्णोंसे सज कर और गलेमें फूलकी माला पहिन कर शान्तिकी घोषणा करे। घोषणा करनेके बाद संघके सिर पर शान्ति-जल छिड़का जाय।

नृत्यन्ति नृत्यं मणिपुष्पवर्षं,
सृजन्ति गायन्ति च मंगलानि।
स्तोत्राणि गोत्राणि पठन्ति मंत्रान्,
कल्याणभाजोहि जिना [जन्मा] भिषेके॥

अर्थ—जो पुण्यशाली हैं, वे तीर्थंकरोंके अभिषेकके समय नाच करते हैं, रत्न और फूलोंकी वर्षा करते हैं, मंगल गीत गाते हैं और भगवान्‌के स्तोत्र, नाम तथा मन्त्रोंको हमेश पढ़ते हैं ॥१॥

अहं तित्थयरमाया, सिवादेवी तुम्हनयरनिवासिनी। अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसमं सिवं भवतु स्वाहा॥ १ ॥ शिवमस्तु सर्वजगतः, परहित निरता भवन्तु भूतगणाः। दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोकः॥ २ ॥ उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः। मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥४॥ सर्वमंगलमांगल्यं, सर्व कल्याण कारणम्। प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥५॥

अर्थ—मैं शिवादेवी तीर्थंकर की माता हूं, और तुम्हारे नगरोंमें निवास करनेवाली हूं, हमारा और तुम्हारा कल्याण हो और उपद्रवोंकी शान्ति हो। कल्याण हो स्वाहा ॥ १ ॥

संपूर्ण जगत्‌का कल्याण हो, प्राणि-गण परोपकार करनेमें तत्पर हों, दोष नष्ट हों, सब जगह लोग सुखी हों ॥ २ ॥ शेष पूर्ववत्।

* समाप्त *